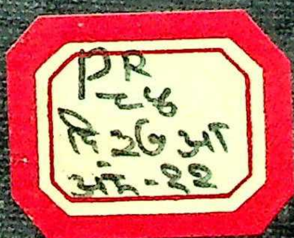
ALOCHNA HINDI

GKV



सम्पादन-समिति
डॉ. धर्मवीर भारती, डॉ. रघुवंश

डॉ. व्रजेश्वर वर्मा, श्री विजयदेवनारायण साही
सहकारी सम्पादक
श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'

आलोचना



राजकमल प्रकाशन

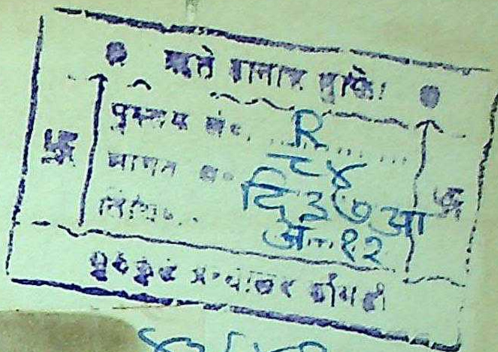
त्रैमासिक आलोचना

वर्ष ३ अंक ४ पूर्णाङ्क १२ जुलाई, १९५४

वार्षिक मूल्य १२) इस अंक का ३)



आलोचना



सम्पादकीय

इतिहास का पुनर्नवीकरण

प्रत्येक युग की समस्याओं के निदान और समाधान के लिए परम्परा और परिस्थिति के समन्वित पर्यवेक्षण की आवश्यकता होती है। अतः प्रत्येक युग नये सिरे से विगत जीवन का अनुशीलन और पुनर्निर्माण करता है और इस प्रकार इतिहास-लेखन का क्रम निरन्तर जारी रहता है। सामान्य सामाजिक इतिहास की भाँति साहित्य के इतिहास का भी, जो अन्य कला-कृतियों के साथ मानव-जीवन का आन्तरिक इतिहास निर्मित करता है, युग-युग में पुनर्नवीकरण होता रहना आवश्यक है। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन की प्रगति युग-जीवन की प्रगति के साथ नहीं चल सकी है। वस्तुतः, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं,[1] हमने अपने साहित्य के इतिहास का प्रथम वाचन भी अभी पूरा नहीं कर पाया है। इतिहास का प्रथम वाचन उसकी सामग्री के अनुसन्धान, प्रमाण-परीक्षण और संकलन-विश्लेषण से सम्बन्ध रखता है। यह सही है कि इतिहास के प्राथमिक उपादानों को जुटाने का कार्य प्रत्यक्षतः इतिहासकार का नहीं, अन्वेषक, अनुसन्धानकर्ता, पाठालोचक और पाठ-सम्पादक का है। किन्तु इतिहासकार का यह उत्तरदायित्व अवश्य है कि वह इस कार्य की नवीनतम प्रगति से पूरा लाभ उठाते हुए ही इतिहास को युगानुकूल नवीन रूप में उपस्थित करे। हिन्दी-साहित्य की नई ऐतिहासिक समीक्षाओं में इस बात का पूरा ध्यान नहीं रखा गया है।

यद्यपि हिन्दी-साहित्य का जीवन लगभग एक हजार वर्ष का ही है, फिर भी, क्योंकि उसका जन्म प्रागैतिहासिक काल तक जाने वाली एक लम्बी परम्परा की ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में हुआ था, उसके इतिहास की पृष्ठभूमि कहीं अधिक पुरातन और दीर्घ है। इस भूमिका के अनेक पृष्ठ अभी खोले तक नहीं जा सके और जो खोले गए हैं उनके भी अर्थानुध्याय और अनुचिन्तन का कार्य बहुत कम हुआ है। किन्तु हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार के लिए यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि इस भूमिका के बिना उसका इतिहास

---

१. 'आलोचना अंक' १०, सम्पादकीय।

बाजारू चित्रों की भाँति प्राणहीन रहेगा। साथ ही, यह भी स्मरणीय है कि हिन्दी-साहित्य के साथ अन्य आधुनिक भाषाओं के साहित्य भी देश की पुरातन परम्परा के साझीदार हैं। अतः उनके तुलनात्मक विवेचन से ही हिन्दी-साहित्य की परम्परा से सम्बद्ध अनेक अंगों का पूर्ण स्पष्टीकरण सम्भव है। हिन्दी के पार्श्ववर्ती साहित्यों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्वयं उसकी जनपदी बोलियों की अतुल साहित्य-सम्पत्ति है जो स्वतः साहित्य के इतिहास का अनुपेक्षणीय उपकरण होने के साथ इतिहास की अनेक गुत्थियों को सुलझाने में सहायक हो सकती है।

इन उपादानों के अतिरिक्त साहित्य के इतिहास-लेखन में समाज और संस्कृति के प्राचीन तथा तत्कालीन इतिहास—राजनीतिक परिस्थिति, आर्थिक व्यवस्था, कला-कौशल, व्यापार-विनिमय विविध ज्ञान-विज्ञान आदि की प्रगति की सहायता भी अनिवार्य है। इन सहायक उपादानों के द्वारा ही साहित्य का इतिहास सामान्य इतिहास के साथ संपृक्त होता है और उसका समाज की सामूहिक उपलब्धि के रूप में मूल्यांकन किया जाता है। यद्यपि, जैसा कि हमने पहले कहा है, हमारा सामान्य सामाजिक इतिहास अभी अनेक दिशाओं में अपूर्ण और अन्धकार-ग्रस्त है, फिर भी हमारे साहित्य के इतिहासकारों ने हिन्दी-साहित्य को ऐतिहासिक संदर्भ में बिठाने की बहुत कम चेष्टा की है। और जहाँ कहीं व्यक्तिगत कवियों और लेखकों अथवा साहित्यिक प्रवृत्तियों की ऐतिहासिक समीक्षा की भी गई है, वहाँ प्रायः यह भुला दिया गया है कि साहित्य एक सीमा तक ही सामाजिक प्रक्रिया है। अधिकांश में तो वह व्यक्तियों की, जो सृजन के महत्क्षणों में प्रायः देश-काल की सीमा के ऊपर उठ जाते हैं, एक सृष्टि है जिसका अपना निजी व्यक्तित्व और स्वतन्त्र सत्ता है। उसकी उपलब्धि, अभिव्यक्ति और प्रतिफलन के अपने सिद्धान्त और नियम हैं। परम्परा और परिस्थिति के साथ उसका सम्बन्ध इतना सूक्ष्म और कोमल होता है कि दोनों के सूत्रों को मिलाना कभी-कभी कठिन ही नहीं असम्भव-सा लगता है। ऐसी स्थिति में साहित्य का वह इतिहासकार जो भाषा-विकास, सौन्दर्य-बोध, भावानुभूति, रूप-विधान और अभिव्यंजना-शिल्प के सिद्धान्तों से परिचित नहीं है, साहित्य की सामाजिक समीक्षा करते समय अनुमान और कल्पना की सीमा में पहुँचकर मिथ्या और भ्रम की सृष्टि कर सकता है और जहाँ निष्कर्ष और निर्णय का आधार साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को बनाना चाहिए, वहाँ वह नीति धर्म, समाज-शास्त्र आदि के सिद्धान्तों की अवतारणा करके अपने पूर्वाग्रहों का आरोप कर सकता है। किन्तु इस सम्बन्ध में दूसरी दिशा में भी भूल हो सकती है और साहित्य का इतिहास शुद्ध शास्त्रीय समालोचना का रूप ले सकता है। इस प्रकार साहित्य के इतिहास में एक ओर सामाजिक इतिहास तथा इतर ज्ञान-विज्ञान और दूसरी ओर साहित्य के सिद्धान्तों का समन्वित उपयोग कर सकना अत्यन्त कठिन कार्य है। यहीं इतिहास-लेखक का दृष्टिकोण स्पष्ट रूप में सामने आ जाता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि इतिहास के युग सापेक्ष पुनर्नवीकरण की आवश्यकता का कारण उसके उपादानों के नये-नये अनुसन्धान तो होते ही हैं, इससे कहीं अधिक उसकी नवीन समीक्षा होती है। संक्षेप में, इतिहास के नवीकरण का प्रश्न समीक्षा के नवीकरण का प्रश्न हो जाता है। और, समीक्षा का नवीकरण उपर्युक्त द्विविध सिद्धान्तों के प्रयोग पर निर्भर रहता है। किन्तु अन्ततोगत्वा इन सिद्धान्तों के प्रयोग का निर्धारण इतिहास-लेखक के दृष्टिकोण के आधार पर होता है। अतः इतिहास-लेखन में दृष्टि-

कोण का प्रश्न सबसे पहले उठता है। यद्यपि इसके सम्बन्ध में स्पष्ट आग्रह पुराने इतिहासकारों में इतना नहीं था, फिर भी कोई इतिहास ऐसा नहीं है जिसे दृष्टिकोण-विहीन कहा जा सके। सच तो यह है कि ऐसा इतिहास लिखना यदि सम्भव भी हो, तो भी उससे इतिहास का वास्तविक उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। भारतीय इतिहास के लेखकों में निरन्तर दृष्टिकोण-सम्बन्धी संघर्ष चलता रहा है, प्रत्येक परवर्ती इतिहासकार अपने पूर्ववर्तियों के दृष्टिकोण में संशोधन करने और अपने नये दृष्टिकोण की आवश्यकता और समीचीनता दिखाते हुए उसी के आधार पर इतिहास-सामग्री को उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण के इतिहास का अवलोकन प्राचीन काल से किया जा सकता है, जब भारत में आधुनिक अर्थ में इतिहास-लेखन की प्रथा नहीं थी।

प्राचीन भारतीयों की इतिहास के प्रति उदासीनता का कारण प्रायः भौतिक जीवन के प्रति उनकी उदासीनता बताया गया है। किन्तु बात बहुत गलत ढंग से कही गई है, जिसके परिणामस्वरूप प्रायः यह समझ लिया गया कि हमारी समूची जाति जीवन से विमुख संन्यासियों की जाति थी। भौतिक जीवन के प्रति हमारे प्राचीनों की उदासीनता का वास्तविक कारण उनका जीवन-दर्शन तथा जीवन के स्थायी मूल्यों और परिवर्तनशील परिस्थितियों के बीच उनका विवेक था। प्राचीनों के सम्मुख इतिहास और पुराण में कोई अन्तर न था, इसी कारण पुराणों में आधुनिक अर्थ में बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री कल्पना-लोक की अद्भुत सृष्टि में विलीन हो गई है। आधुनिक इतिहासकार उसमें से तथ्य संकलन करने का परिश्रम करता है, किन्तु उसे कितनी सफलता मिलती है? पुराणकार भौतिक तथ्यों का आकर्षक वर्णन करता है, भोग के शारीरिक सुख से वह भली भाँति परिचित है, साधना की उपलब्धियों में वह उसे स्थान देता है। फिर भी, वह भौतिक तथ्यों की पूजा नहीं करता। सत्य के अन्वेषण में भौतिकता का क्या महत्त्व है यह उसने निश्चित कर रखा है। इसी कारण तथ्यों में वह मनमाने संशोधन और परिवर्तन करते हुए जीवन के नैतिक मान तथा स्थायी मूल्यों की खोज करना चाहता है। प्राचीन भारतीयों की यह विशेष प्रकार की इतिहास-प्रतिभा कितनी सजग और क्रियाशील थी यह उनके पुराण-साहित्य की विपुलता से सिद्ध होता है। किन्तु यह इतिहास-प्रतिभा तभी जाग्रत होती थी जब प्राचीन मूल्यों के पुनरावलोकन, नवीन मूल्यों की स्थापना तथा जीवन की नई मान-मर्यादा का निर्देश करना अभीष्ट होता था। पुराण-प्रणाली का प्रयोग उन लोक-प्रचलित किंवदंतियों में भी पाया जाता है जिनका आधार प्राचीन या समकालीन इतिवृत्त होते थे। लिखित रूप में इसके अन्तिम उदाहरण मध्ययुगीन भक्तमाल-वार्ता और ख्यात साहित्य हैं। इन्हीं में हिन्दी-साहित्य के प्रथम इतिहास का दर्शन होता है जिसमें भक्त कवियों के जीवन के चुने हुए, अंशतः कल्पित और प्रायः अत्युक्तिपूर्ण घटना-प्रसंग केवल जीवन के उन सत्यों के उद्घाटन के लिए प्रसिद्ध किये गए हैं जिन्हें उन्होंने अपने जीवन और कृतित्व में उतारने के प्रयोग किये थे। हम कह सकते हैं कि हमारे प्रथम इतिहास केवल दृष्टिकोण-प्रधान थे, उनके निकट इतिवृत्त, देश और काल का स्वतः कोई मूल्य न था।

पौराणिक प्रणाली का यत्किंचित् प्रभाव मध्ययुग के कुछ फ़ारसी इतिहासकारों पर भी पाया जाता है जो कभी नैतिक दृष्टिकोण के, कभी वीर-पूजा की भावना से आग्रहवश, और

कभी मनोरंजन-मात्र के लिए ऐतिहासिक तथ्यों को औपन्यासिक रूप में उपस्थित करते हैं। कुछ फ़ारसी इतिहासकारों ने कट्टर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से मुस्लिम शासन का इतिहास लिखते हुए अनेक ऐतिहासिक तथ्यों की निर्मम हत्या और अनर्गल कल्पनाओं की सृष्टि की है। अकबर का इतिहासकार बदाऊँनी ऐसा ही है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास का दूसरा चरण प्राकृत काव्य रचने वाले कवियों से सम्बन्धित अनुश्रुतियों और कविता-संग्रहों के रूप में मिलता है। अनुश्रुतियों के प्रचलन का उद्देश्य या तो नीति शिक्षा है अथवा कवियों तथा उनके कृतित्व की सराहना और प्रशंसा। कविता-संग्रहों का उद्देश्य सराहना, मनोरंजन और अपने साहित्य के प्रति आत्मगौरव की भावना है। आधुनिक काल का 'शिवसिंह सरोज' इस प्रवृत्ति का अन्तिम उदाहरण कहा जा सकता है।

आधुनिक युग में 'भारतीय इतिहासों' में, जो सबसे पहले अंग्रेज़ों द्वारा लिखे गए, स्वभावतया साम्राज्यवादी दृष्टिकोण की प्रधानता है। उनका उद्देश्य स्पष्ट था और उसकी पूर्ति के लिए तथ्यों की विकृति, अत्युक्ति, अवहेलना और कभी-कभी कल्पना करने में भी उन्हें संकोच न होता था। यद्यपि भारतीय इतिहास के अन्वेषण और अनुसन्धान में उन्होंने जो कार्य किया है, वह चिरस्मरणीय रहेगा, फिर भी भारतीय जीवन की दुर्बलताओं को उभारने, विभेदों को गहराई से रेखांकित करने तथा आत्म-सुख और मोह-निद्रा में निमग्न करने वाले गुणों की प्रशंसा करने में उन्होंने अपनी दृष्टि से अपनी जाति के प्रति अपने सामयिक कर्तव्य को खूब निबाहा। कुछ थोड़े-से विदेशी पुरातत्त्वान्वेषियों ने हिन्दी की ओर भी ध्यान दिया और दलितोद्धार तथा प्रतिपालन की भावना से संग्रह तथा इतिहास की प्रारम्भिक पुस्तकें लिखीं। भाषा और साहित्य के क्षेत्र में विभेदों को उभारने और जातीय अन्तर्वैमनस्य को प्रोत्साहन देने के प्रयत्नों में जॉन गिलक्राइस्ट की फोर्ट विलियम कॉलेज की कार्य-प्रणाली तथा सर जार्ज ग्रियर्सन के भाषा-सर्वे का उदाहरण दिया जा सकता है। भाषाओं, उपभाषाओं और बोलियों के इस महान् एवं अद्वितीय अनुसन्धान में एकता और समानता पर भी ज़ोर दिया जा सकता था। किन्तु यह तो राष्ट्रीय दृष्टिकोण की बात है।

जब राष्ट्रीय इतिहास-रचना के प्रयोग प्रारम्भ हुए, तब भी तथ्य-निरूपण और सत्यान्वेषण सम्भव न हो सका; क्योंकि भारतीय इतिहासकारों को विदेशियों द्वारा आरोपित लाञ्छनों के निराकरण की चिन्ता अधिक थी। फलतः एकता, मैत्री और सहयोग का समर्थन करने वाले तथ्यों की अतिरंजना तथा इनके विपरीत तथ्यों की अवहेलना स्वाभाविक-सी हो गई। मध्ययुग के राष्ट्रीय इतिहासकार की योग्यता और विद्वत्ता का अधिकांश यही सिद्ध करने में व्यय होने लगा कि हिन्दू और मुसलमानों का विभेद मौलिक नहीं है, उनका वैमनस्य सनातन नहीं है, अपितु वह साम्राज्य-वादी भेद-नीति का परिणाम-मात्र है। सामयिक राष्ट्रीय आवश्यकता की इससे भले ही आंशिक पूर्ति हुई हो, इतिहास का तो अहित ही हुआ और हमारी इतिहास-दृष्टि संकुचित और सीमित रह गई। किन्तु साहित्य के इतिहास पर इस प्रकार के राष्ट्रवादी दृष्टिकोण का प्रभाव नहीं पड़ा। ऐसा जान पड़ता है कि साहित्य ने विभेद और विभाजन को सत्य मानकर स्वीकार कर लिया था, यद्यपि हिन्दी-साहित्य में हिन्दू और मुसलमानों की एकता, मैत्री और सम्मिलन के अनेक प्रमाण और उदाहरण मिलते हैं। विदेशी इतिहासकारों ने राष्ट्रवादी भारतीय

इतिहासकारों को केवल प्रतिक्रिया के ही रूप में प्रभावित किया हो ऐसी बात नहीं है। अनेक बातों में पद्धति और प्रणाली ही नहीं, अपितु दृष्टिकोण में भी भारतीय इतिहासकारों ने विदेशियों का अनुकरण और अनुगमन किया है। विदेशी इतिहासकारों ने अपने ईसाई पवित्रतावादी दृष्टिकोण से अनेक प्रचलित परम्पराओं और प्रथाओं की आलोचना की थी और प्रतिपालन की भावना से सुधार के संकेत किये थे। भारतीय इतिहासकारों ने इस दृष्टिकोण को अपनाकर, ऐसे तथ्यों की, जो सतही दृष्टि से पवित्रतावादी भावना के विरुद्ध पड़ते थे, गूढ़-गम्भीर समालोचना करने के स्थान पर या तो उनकी उपेक्षा कर दी अथवा उनके सम्बन्ध में क्षमा-याचना-जैसा भाव विकसित कर लिया। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में पवित्रतावादी सुधारवाद का दृष्टिकोण बहुत स्पष्टता के साथ दिखाई देता है। उदाहरण के लिए, विदेशी समीक्षकों द्वारा प्रशंसित सुधारक तुलसीदास की आचार्य शुक्ल ने विशद व्याख्या की, उनके वर्णाश्रम धर्म पर आश्रित सुधारवाद को त्रिकालाबाधित आदर्श के रूप में उपस्थित किया। शुक्लजी की प्रतिभा तथा सुधारवाद के वातावरण के सम्मिलित प्रभाव से हिन्दी के समीक्षकों पर तुलसी के 'लोक-संग्रह' का ऐसा आतंक छा गया कि हिन्दी के सबसे अधिक प्रचुर और सम्पन्न साहित्य—कृष्ण-भक्ति-साहित्य—का सामाजिक मूल्य शून्य में ही विलीन रह गया, उसे अँधेरे कुएँ से निकालने का साहस किसी कृष्ण ने न कर पाया। कृष्ण में लोक-संग्रह का भाव ही कहाँ था? और उनकी लोक रंजक लीला के रस और आनन्द को सुधारवादी समीक्षक क्षमा-याचना के साथ ही ग्रहण कर सकता था, क्योंकि उसे स्मरण था कि एक अंग्रेज कृष्ण-भक्ति-काव्य को 'चकले खाने' की भाषा कह चुका है।

किन्तु भारतीय इतिहासकारों का राष्ट्रीय दृष्टिकोण समकालीन वर्द्धमान राष्ट्रीयता की उग्रता को नहीं अपना सका। इसका कारण शुद्ध विद्या-प्रेम उतना नहीं जितना आत्मीय सुरक्षा के भंग होने का भय है। हमारे अधिकांश विद्वान् इतिहासकार जिस वर्ग के थे, उसमें अधिक-से-अधिक 'लिबरल' राजनीति अपनाई जा सकती थी। ज्यों-ज्यों राजनीतिक खतरे कम होते गए, त्यों-त्यों उनके दृष्टिकोण की राष्ट्रीयता में प्रखरता की मात्रा अत्यन्त सावधानी के साथ बढ़ती गई। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भी राष्ट्रीय दृष्टिकोण पूर्णतया नहीं अपनाया जा सका, यद्यपि युग की राष्ट्रीय भावना हिन्दी-भक्त-कवियों के वैष्णव और मानवतावादी आदर्शों से समन्वित थी। हमारे समर्थ इतिहासकार आचार्य शुक्ल ने कबीर आदि सन्त कवियों के प्रति वैसा ही तीखा भाव व्यक्त किया है जैसा 'तुलसी अलखहिं का लखै राम नामु जपु नीच' अथवा 'सूद्र न गुन गन ज्ञान प्रबीना' में प्रकट हुआ है। शुक्लजी की राष्ट्रीयता ऊँच-नीच के (उदारता-समन्वित) भेद-भाव-सहित सनातन वर्ण-धर्म पर आश्रित थी, अतः उनके दृष्टिकोण के अनुसार सिद्ध, नाथ और जैन-साधकों को आसानी से साम्प्रदायिक कहकर टाला जा सकता था। कदाचित् वर्ण-धर्म की रूढ़ मर्यादा का उसके प्रचलित रूप में आदर न कर सकने के कारण ही वे स्वामी दयानन्द सरस्वती और महात्मा गांधी तक की उससे अधिक सराहना न कर सके जितनी उन्होंने रामप्रसाद निरंजनी और श्रद्धाराम फुल्लौरी की की है। शुक्लजी की राष्ट्रीयता के अन्तर्गत उनकी अपनी परिभाषा की 'भारतीयता' के प्रति आग्रहपूर्ण श्रद्धा-भावना का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि जायसी के अत्यन्त

प्रशंसक होते हुए भी उन्हें सूफ़ी विचारधारा में ऐसा कुछ न मिला जिसे 'हमारे यहाँ' स्वीकार किया गया हो। इसी प्रकार स्वयं अंग्रेजी की मान्य शास्त्रीय समीक्षा से बहुत-कुछ ग्रहण करते हुए भी वे साहित्य में पाश्चात्य प्रभावों के सम्बन्ध में सदैव सशंक रहते थे। यहाँ शुक्ल जी के ऐतिहासिक दृष्टिकोण की विस्तृत चर्चा करने का अभिप्राय उनके अद्वितीय व्यक्तित्व और चिरस्मरणीय साहित्यिक कार्य को किसी प्रकार घटाकर प्रदर्शित करना नहीं है। हमारा उद्देश्य केवल यह दिखाना है कि यदि ऐतिहासिक दृष्टिकोण का निर्माण सही ढंग से न किया जाय तो दृष्टिकोण विशिष्ट इतिहास-लेखन में ऐसे महान् प्रतिभाशाली साहित्यिक के लिए भी असंदिग्ध सफलता पाना कठिन हो जाता है। साथ ही इस विस्तृत चर्चा का इस कारण भी औचित्य है कि शुक्ल हिन्दी-साहित्य के राष्ट्रीय इतिहासकारों के अग्रणी और प्रतिनिधि हैं, हमारे बहुसंख्यक परवर्ती इतिहासकार और समीक्षक उनके अत्यधिक ऋणी हैं।

इतिहास-रचना में 'वैज्ञानिक' दृष्टिकोण, जिसके अनुसार तथ्य अत्यन्त पवित्र और पूजनीय माने जाते हैं तथा उनके सम्बन्ध में व्याख्यात्मक मत-प्रदर्शन वर्जित होता है, सम्भवतः एक सदिच्छापूर्ण सिद्धान्त होकर ही रह गया। वस्तुतः मानवीय संस्थाओं का भौतिक विज्ञानों-जैसा सर्वथा निर्वैयक्तिक अध्ययन सम्भव नहीं है तथा ऐतिहासिक तथ्यों में निहित मानवीय सत्यों के अन्वेषण से हीन तथ्य-निरूपण निरर्थक है। हिन्दी-साहित्य में कुछ कवियों, काव्य-धाराओं और विशिष्ट कालों पर लिखे गए शोध-प्रबन्धों में ही ऐसे 'वैज्ञानिक' अध्ययन की प्रणाली अपनाई गई, सम्पूर्ण इतिहास लिखने का प्रयोग नहीं किया गया। यह सम्भव भी न था।

मार्क्सीय द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का दृष्टिकोण उसके समर्थकों द्वारा इतिहास की व्याख्या का 'नया' और 'एक-मात्र वैज्ञानिक' दृष्टिकोण कहा जाता है, यद्यपि अब वह लगभग सौ वर्ष पुराना हो चुका है तथा विचार और व्यवहार दोनों क्षेत्रों में उसकी 'वैज्ञानिकता' को गम्भीर चुनौती मिल चुकी है। विविध घटनाओं, भावनाओं और विचारों से संकुल, अनेक उतार-चढ़ाव, मोड़ और घुमावों से युक्त, देश और काल की विभिन्नताओं से परिपूर्ण अगणित मानव-जातियों को रेखा खींचकर दो वर्गों में विभाजित कर देना क्रीड़ा-कौतुक-जैसा लगता है। इतिहास के अध्ययन की यह अति सरलीकृत प्रणाली भारतीय इतिहास की व्याख्या में केवल विच्छिन्न रूप में ही प्रयुक्त हुई। हिन्दी-साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास को भी कोई 'प्रगतिशील' समीक्षक इस यान्त्रिक व्याख्या के खराद पर नहीं चढ़ा पाया। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर मनुष्य की सृजनात्मक उपलब्धियों का निर्वचन कैसा कृत्रिम और हास्यास्पद हो जाता है यह व्यक्तिगत हिन्दी-कवियों और लेखकों की 'प्रगतिशील' समीक्षा से स्वतः स्पष्ट हो जाता है। फिर भी, मार्क्सवाद-समीक्षकों ने साहित्य को सामाजिक यथार्थ के दृष्टिपथ में उपस्थित करके निश्चय ही नवीन निर्देश किया, जिससे साहित्य-समीक्षा की नई पद्धति का विकास सम्भव हो सका।

सामान्य इतिहास-लेखन में तो नहीं, हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'नव मानवतावादी' दृष्टिकोण का निर्देश आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया है और इस मानवतावाद को उन्होंने एक विस्तृत आधार देने की स्वयं हिन्दी-साहित्य और उसकी दीर्घकालीन पृष्ठभूमि से उसे विकसित और समर्थित करने की चेष्टा की है। फलतः वे राष्ट्रीय दृष्टिकोण से

लिखे गए इतिहास की अनेक भ्रान्तियों और त्रुटियों को दूर करने का प्रस्ताव कर सके। हिन्दी-साहित्य भारतीय जीवन और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति के एक बहुत बड़े मोड़ का परिचय देता है तथा हिन्दी के भक्त-कवियों ने—और उनमें सिद्ध और नाथों की परम्परा वाले सन्त-साहित्य का अन्यतम स्थान है—उसी प्रकार जीवन के प्राचीन मूल्यों को नया अर्थ तथा नवीन मूल्यों को नई भाषा दी थी, जिस प्रकार प्राचीन काल में बुद्ध और महावीर ने, इस तथ्य को द्विवेदी जी ने योग्यतापूर्वक उद्घाटित किया है। वस्तुतः हिन्दी-भाषा और साहित्य अन्य आधुनिक भाषा-साहित्यों के साथ, एक मार्ग, नैतिकता और व्यवहार के नये मानदण्ड तथा एक नया सन्देश लेकर इतिहास के मंच पर अवतरित हुआ था। स्मरणीय यह है कि उसका यह 'मिशन' अभी पूरा नहीं हुआ है। इतिहासकार भले ही सत्रहवीं शताब्दी में भक्तिकाल का अन्त करके उस 'मिशन' की निरन्तरता भुला दें और उसे प्रगति देने वाले कवियों और लेखकों को 'फुटकर' खाते में डालते रहें, पर हमारे भाव-स्रष्टा, विचारक और चिन्तक एक हजार वर्ष से आज तक उसमें निहित मानवीय आदर्श को व्यक्त करते आ रहे हैं। नये दृष्टिकोण से सम्पन्न हमारा नया इतिहास साहित्य की इसी एकता के आधार पर व्याख्या करेगा।

इस प्रकार इतिहास के उपकरण तो अनुसन्धान और अनुशीलन के विषय हैं तथा उनका विन्यास और नियोजन यथासम्भव तटस्थ और वैज्ञानिक पद्धति की अपेक्षा रखता है, किन्तु इस क्रम में उसकी व्याख्या और परिभाषा के नये दृष्टिकोण की प्राप्ति के बिना नया इतिहास नहीं लिखा जा सकता। जैसा कि हमने प्रारम्भ में कहा है, प्रत्येक युग अपनी विशेष समस्याओं के समाधान के लिए इतिहास के पुनर्निर्माण की अपेक्षा रखता है और इस कारण इतिहास का दृष्टिकोण स्वभावतया युगीन आवश्यकताओं की उपेक्षा नहीं कर सकता। किन्तु युग की समस्याओं का यथातथ्य निदान तथा उनका युक्तियुक्त समाधान स्वयं एक कठिन समस्या है। हम देख चुके हैं कि राष्ट्रीय दृष्टिकोण से लिखा गया इतिहास भी हमारे संघर्षपूर्ण राष्ट्रीय जीवन में युग पुरुष द्वारा विमुक्त की गई मानवता की व्यापक भावना आत्मसात् नहीं कर सका। इसी प्रकार 'प्रगतिवादी' दृष्टिकोण राष्ट्रीय दृष्टिकोण की त्रुटियों को दूर करने का दावा लेकर आया, किन्तु उलटे उसने एक नई 'साम्प्रदायिकता' खड़ी कर दी। वस्तुतः साहित्य के इतिहास का वही दृष्टिकोण सार्थक हो सकता है जो जीवन के स्थायी मूल्यों के द्वारा समर्थित हो, और उन मूल्यों को युगानुकूल रूप और जीवन दे सकने की उसमें सामर्थ्य हो। जीवन के मूल्यों का युगानुकूल रूप मानव की अनुभूति, चिन्ता और, यदि कह सकें तो, साधना से सम्बन्धित विविध क्षेत्रों के ज्ञान-विज्ञान की नवीनतम प्रगति के संघात के द्वारा निर्धारित होता है। अतः इतिहासकार के लिए उस प्रगति तथा उन मूल्यों के निहितार्थ को समझना आवश्यक है, किन्तु साहित्य के सही ऐतिहासिक दृष्टिकोण के निर्माण में इसके साथ-साथ साहित्य के उन नवीकृत शाश्वत सिद्धान्तों का भी महत्त्वपूर्ण हाथ होना चाहिए, जिन्हें प्राचीन सिद्धान्तों और साहित्य की नवीन आवश्यकताओं के समन्वय द्वारा विकसित किया गया हो। वस्तुतः इतर ज्ञान-विज्ञान की मानवतामूलक उपलब्धियाँ साहित्य में उसके अपने नियमों और सिद्धान्तों के अधीन ही व्यक्त होती हैं। शर्त केवल यह है कि ये नियम और सिद्धान्त रूढ़िगत न हों, युग-जीवन को व्यक्त करने वाले साहित्य से ही उन्हें निकाला

गया हो। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे साहित्य के स्थायी सिद्धान्तों के विपरीत होंगे। जिस प्रकार सौन्दर्य अनेक माध्यमों के द्वारा, अनेक रूपों में व्यक्त होते हुए भी अपनी भावात्मक एकता को अक्षुण्ण रखता है, उसी प्रकार सौन्दर्याभिव्यक्ति के सिद्धान्त भी अनेक शब्दावलियों और अनेक शैलियों में व्यक्त होकर भी मूलतः एक रहते हैं। अतः साहित्य का जो इतिहासकार शाश्वत सत्य के अविरोधी युग-सत्य को जितना ही आत्मसात् करके उसे शाश्वत सौन्दर्य-सिद्धान्तों के अविरोधी युगीन सिद्धान्तों से समन्वित करने में सफल हो सके, उसका ऐतिहासिक दृष्टिकोण उतना ही सार्थक होगा। ऐसा इतिहासकार ही इतिहास के पुनर्नवीकरण का दायित्व सँभाल सकता है।



युग-
उसे
गीन
हो

निबन्ध

डॉक्टर रघुवंश

हिन्दी का यात्रा-साहित्य

कवि और कलाकार की आत्मा यायावर होती है। कहते हैं कवि और साहित्यकार जीवन के अन्तर्तम स्वरों को पहचानता है। और यह जगत् है क्या, जो जीवन की संज्ञा से अभिहित है। जीवन में एक गति, निरन्तर प्रवहमान गति है, जो अबाध रूप में बहती रहती है। शिशु पैदा होता है; बढ़ता जाता है; दिन-रात में बदलते-बदलते ऋतुएँ परिवर्तित हो जाती हैं; पृथ्वी घूमती जाती है, प्रातः-सायं सन्ध्याएँ अपना राग बिखेरती हैं; दिन अपने प्रकाश से आलोकित होता है; रात अपने अन्धकार में चन्द्र-तारकों से नानाविध शृङ्गार करती है; यही नहीं—नाचती पृथ्वी फिर घूमती रहती है—वसन्त के उल्लास में वनस्पति लहलहाकर पुष्पित और पल्लवित हो जाती है; ग्रीष्म की चोटों से सारा प्रकृति-विस्तार मुरझा जाता है; वर्षा के आलोड़न से तृण-तृण अंकुरित हो जाता है और जाड़े में पाले से आहत वृक्ष-पादप-लताएँ सभी अपने पीले नीरस पत्तों को गिराने लगती हैं और वसन्त की भूमिका में पतझड़ मर्मर संगीत में मुखरित हो जाता है; और फिर सारा नक्षत्र-तारालोक गतिशील है, अणु-परमाणु उसी ताल पर थिरककर नाच रहे हैं।

साहित्यकार अनजाने ही इस गति को पहचानता है और अपने अन्दर स्पन्दित साँसों के माध्यम से वह इसी गति-संचरण का आवाहन करता है। फिर उसकी यायावर आत्मा संसार की गति के साथ, विश्व के संचरण के साथ होड़ लगा देती है। एक अद्भुत आकर्षण उसको अपनी ओर खींचता है, वह मंत्रमुग्ध होकर उसकी ओर बरबस खिंचता आता है। और एक दिन संसार देखता है कि वह यायावर हो गया है। संसार के लोग तो इस पुकार को सुन नहीं पाते या सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं। वे चलते तो रहते हैं, क्योंकि यहाँ रुककर खड़ा होना सम्भव नहीं; पर वे तेली के बैल की तरह कोल्हू के चारों ओर घूमने में अपने परिश्रम की सार्थकता मान बैठते हैं। पूछा जा सकता है, आखिर इसका उद्देश्य क्या है ? इस यात्रा, इस घुमक्कड़ी का अर्थ क्या है ? उत्तर देना कठिन है। पर क्या कोई नक्षत्रों से पूछता है कि उनकी गति का लक्ष्य क्या है ? क्या कोई ब्रह्माण्ड के लक्ष-लक्ष तारकों से पूछता है कि उनके घूमते रहने का उद्देश्य क्या है ? पूछने से उत्तर मिलेगा भी नहीं।

संसार के बड़े-बड़े यायावर अपनी मनोवृत्ति में साहित्यिक थे। फाहियान, ह्वानसाँग, इब्नबतूता, थर्नियर आदि जितने प्रसिद्ध घुमक्कड़ हुए हैं अथवा देश-विदेश के जितने साहसी अन्वेषक हुए हैं सबमें साहित्यिक यायावर का रूप रक्षित है। उन्होंने अपनी यात्राओं में उद्देश्य को प्रधानता नहीं दी। वे निःसंग भाव से घूमते रहे हैं, घूमना ही उनके लिए प्रधान उद्देश्य रहा है। वे देश-देश के पर्वत, उपत्यका, घाटी, नदी, सरोवर, नगर और गाँव की पुकार सुनकर ही उनकी ओर आकर्षित हुए हैं। परन्तु यात्रा करने-मात्र से कोई साहित्यिक यायावर की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता, और न यात्रा का विवरण प्रस्तुत कर देना-मात्र यात्रा-साहित्य है। पिछले युगों में अनेक यूरोपीय तथा चीनी यात्रियों ने यात्रा-विवरण प्रस्तुत किये हैं, और उनके इन विवरणों के बीच कुछ ऐसे संस्मरणीय अंश अवश्य हैं जिनसे प्रत्यक्ष हो जाता है कि इनमें अधिकांश यात्रियों की आंतरिक प्रेरणा साहित्यिक यायावर की है। पर इनके विवरणों में राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टि को प्रधानता दी गई है, कुछ ने भौगोलिक निर्देशन का भी ध्यान रखा है।

भारत में यात्रियों की कमी रही हो, ऐसी बात नहीं; क्योंकि तिब्बत, चीन, ब्रह्मा, मलाया और सुदूर पूर्व के द्वीपों में भारतीय धर्म और संस्कृति का सन्देश इन यात्रियों के पीछे गया होगा। यात्रा का मोह और आकर्षण मानव-मात्र का स्वभाव है, और भारतीय उससे अलग नहीं रह सकते थे। पर भारतीय दृष्टि में इतिहास, विवरण, संस्मरण तथा आत्मचरित के प्रति विचित्र अनास्था आरम्भ से रही है। सम्भवतः यही प्रधान कारण है कि भारतीय साहित्य में उपर्युक्त अंगों के साथ यात्रा-विवरणों का नितान्त अभाव है। आधुनिक अर्थ में यात्रा-साहित्य की कल्पना तो उस युग में की ही नहीं जा सकती थी। पर इसका अर्थ यह नहीं कि संस्कृत के कवियों में साहित्यिक यायावर की मनोवृत्ति परिलक्षित नहीं होती। प्रकृति का जो व्यापक सौंदर्य और देश-काल का जो सूक्ष्म ज्ञान इन कवियों में पाया जाता है उससे प्रकट होता कि इन कवियों ने प्रकृति-आह्वान को सुनकर अनसुना नहीं किया है। विशेषकर कालिदास और बाण का इस दिशा में निर्देश किया जाना आवश्यक है। कालिदास के 'कुमार सम्भव' में हिमालय का वर्णन अलंकृत होकर भी नितांत काल्पनिक नहीं है, 'रघुवंश' में देश विदेश का वर्णन बिना अनुभव के सम्भव नहीं और इन सबसे अधिक 'मेघदूत' में मेघ की जिस काल्पनिक यात्रा का वर्णन है, वह कवि की यात्रा का मनस्परक अध्यन्तरित रूप (subjective transferred) ही जान पड़ता है। भारतीय कवि और साहित्यकार को अपनी बात को अपनी प्रगति-जैसी लिखने की छूट नहीं थी। कालिदास-जैसे भावुक और रोमाण्टिक कवि को 'मेघदूत'-जैसे मनस्परक प्रगीत (subjective lyric) के लिए इसी कारण यक्ष की अलकापुरी का कथा-सूत्र ग्रहण करना पड़ा; तो इसमें आश्चर्य क्या कि इस दूत-काव्य में कवि की यायावर आत्मा इस प्रकार अभिव्यक्त हो सकी है। नहीं तो मेघ की यात्रा में वही निःसंग भाव है, वही मस्ती है और वही सौंदर्य-बोध है जो आज के साहित्यिक यात्रा-संस्मरणों में या विवरणों में। साथ ही बीच-बीच में यक्ष मेघ को अपनी विरहाकुल स्थिति की याद दिलाकर इन वर्णनों को भावाविष्ट भी कर देता है। महाकवि प्रकृति के आकर्षण से, उसके सम्मोहन से परिचित है, तभी तो वह मेघ को विरम न जाने के लिए सचेत करता चलता है—"हे मेघ, कुटज-पुष्पों से लदे उस सुगन्धित पर्वतों पर तुम ठहरते जाना, वहाँ मोर नेत्रों में आँसू भरकर अपनी केका से तुम्हारा स्वागत कर रहे

होंगे। लेकिन तुम वहाँ रुकना मत।"[१]

और बाण। उसको तो अपनी घुमक्कड़-प्रवृत्ति के कारण कान्यकुब्जाधीश्वर हर्षदेव ने भरी सभा में 'भंड' कहकर पुकारा था। 'हर्षचरित' में बाण ने अपने विषय में जो-कुछ लिखा है, वह इस बात का साक्षी है कि बाणभट्ट घुमक्कड़ थे और उसके अनुरूप निर्द्वन्द्वता तथा मस्ती भी उनमें थी। 'हर्षचरित' के 'आत्मचरित' अंश में इन यात्राओं का किंचित् उल्लेख-भर हुआ है। बाणभट्ट के सामने भी भारतीय साहित्य के आदर्श की मर्यादा थी, जिसने अपने विषय में अधिक कुछ कहने से उसे रोक दिया है। फिर भी 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी' में जो देश-देश की प्रकृति और विभिन्न प्रकार के लोगों का वर्णन मिलता है, वह उसी यायावरी मनोवृत्ति की देन है। कहीं श्रीकंठ देश है—"इस देश में, प्रत्येक दिशा में एक दूसरे के खलिहानों द्वारा विभक्त वहाँ के सीमान्त अपूर्व पर्वतों के समान शस्य-पुञ्ज से भरे रहते हैं। चारों ओर नहरों से सींचे जाते हुए जीरों के पौधों से वहाँ की भूमि उलझी रहती है।....भैंस की पीठ पर बैठे गोपाल गीत गाते हुए गौओं को चराते हैं। उनके पीछे कीटों के लोभी चटक जाते हैं।"[२] अन्यत्र विन्ध्य के मार्ग का वर्णन यात्री बहुत ही मनोयोग के साथ करता है...."वन्य भागों में जंगली धान के खलिहानों पर सारी के जलते हुए भूसे के ढेरों से धुआँ निकल रहा था। विशाल वट-वृक्षों के चारों ओर सुरती शालाओं से गो-वोट बने हुए थे। अधिक आना-जाना न होने से भूमि पददलित नहीं हुई थी, खेत छोटे-छोटे और दूर-दूर थे, उनकी मिट्टी लोहे की तरह काली और कड़ी थी, स्थान-स्थान पर रखे गए स्थाणुओं से मोटे पल्लव निकल आए थे, श्यामक नामक घास पर चलना कठिन था।" ऋतु, कालों, वन-प्रदेशों, सर-सरोवरों के वर्णनों में बाण की यायावरी प्रवृत्ति के साथ काव्यात्मक कल्पना का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ है। यही कारण है कि प्रकृति के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रंगों को, छायातपों (shades) को तथा उसके विराट् और अद्भुत रूप-शृङ्गार को बाण बड़ी ही सजीवता से प्रस्तुत कर सके हैं।

इसके बाद भारतीय साहित्य में एक लम्बा युग आता है जब साहित्यकार के लिए प्रकृति जड़ हो गई, उसके लिए उसका सारा आकर्षण नष्ट हो गया। और यहाँ यह स्वीकार कर लेने में मुझे कोई संकोच नहीं कि यात्रा का बहुत बड़ा आकर्षण प्रकृति की पुकार में है। मैं यह नहीं कहता कि यात्रा-साहित्य के अन्तर्गत देश-विदेश का जीवन नहीं आता, उसके नगर और गाँव नहीं आते। पर यह भी ठीक है कि यदि यात्री गाँव-नगर के जीवन में इस क़दर उलझ जाय कि उसे अपनी यात्रा का स्मरण ही न रहे तो मैं कहूँगा कि वह अपने प्रधान उद्देश्य से विमुख हो गया। यायावर वही है जो चलता चला जाय, कहीं रुके नहीं, कोई बन्धन उसे कसे नहीं, और वह जो दर्शनीय है, ग्रहणीय है, स्मरणीय है अथवा संवेदनीय है उसका संग्रह करता चले। ऐसे भी हैं जो नाप-जोख करते हैं, हिसाब लगाते हैं, विवरण प्रस्तुत करते हैं; और ऐसे भी हैं जो यात्रा के नाम पर भोग-विलास का सुख लूटने के लिए ही चल पड़ते हैं। साहित्यिक अर्थ में इनको यात्री मानना, यायावर कहना, घुमक्कड़ स्वीकार करना यात्रा का अपमान है। यह सब और कुछ भी हो सकता है, पर साहित्यिक नहीं हो सकता। या यों कहें कि जो मुक्त भाव से, अनुभूतियों को सँजोता हुआ, देश-काल में फैले हुए अनन्त जीवन में साँसें

१. 'मेघदूत', पृष्ठ २४।
२. 'हर्षचरित', ३०२, पृष्ठ ६४।

लेता हुआ यात्रा नहीं करता, वह यात्रा का साहित्य नहीं दे सकता, विवरण प्रस्तुत करता है। ये विवरण कभी भूगोल, इतिहास, समाज-शास्त्र आदि की सीमाएँ स्पर्श करते हैं और कभी राजनीति, अर्थनीति अथवा संस्कृति के अर्थ की सिद्धि करते हैं। ऐसा नहीं कि इनका महत्त्व नहीं है, इनका अपने-आपमें अत्यधिक महत्त्व है; पर इनको शुद्ध साहित्य की कोटि में रखा नहीं जा सकता।

मैं कह रहा था कि भारतीय साहित्य के इतिहास में एक लम्बा युग आया, या यों कहें कि कितने ही लम्बे युग बीते जिनमें साहित्यकार अपनी परम्परा का कठिन बन्दी रहा। एक या किसी दूसरे कारण से भारतीय कवि इन युगों में मुक्त और स्वच्छन्द नहीं हो सका, वह अपनी परम्पराओं, रूढ़ियों और अपने सम्प्रदाय के बन्धनों में ही व्यस्त और संतुष्ट रहा। अपभ्रंश-साहित्य में यत्किंचित् मुक्ति दिखाई देती है, हिन्दी के भक्ति-साहित्य में उल्लास की स्वच्छन्दता प्रकट होती है। पर साहित्यिक रूढ़ियों, धार्मिक दुराग्रहों तथा साम्प्रदायिक परम्पराओं ने साहित्य में मुक्ति और उल्लास के इस स्वच्छन्द स्वर (romantic tone) को उभरने नहीं दिया। ऐसे वातावरण में व्यक्तिपरक प्रगीतों (subjective lyric) को ही अनुरूप वातावरण नहीं मिल सका, यात्रा-साहित्य का प्रश्न क्या ? हिन्दी में तो संयत गद्य के अभाव में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के पूर्व यात्रा-साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती।

वास्तव में यात्रा-साहित्य के विभिन्न रूपों का विकास गद्य-शैली के विकास के साथ ही सम्भव हो सका है। जिस प्रकार आधुनिक साहित्य के अन्य विभिन्न अंगों पर पाश्चात्य साहित्य का किसी-न-किसी रूप में प्रभाव है, उसी प्रकार हिन्दी के आधुनिक यात्रा-साहित्य पर भी उसका ऋण स्वीकार करना चाहिए। प्रारम्भिक लेखकों ने यात्रा-विवरण लेख रूप में प्रस्तुत किये। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस प्रकार के उल्लेख किये हैं। परन्तु यात्रा-साहित्य का विकास शुद्ध निबन्धों की शैली से माना जा सकता है। अंग्रेजी का प्रसिद्ध निबन्धकार स्टीवेन्सन घुमक्कड़-शास्त्री ही था। निबन्ध-शैली के व्यक्तिपरकता, स्वच्छन्दता तथा आत्मीयता आदि गुण यात्रा-साहित्य में भी पाये जाते हैं। निबन्धकार जिस प्रकार अपने विषय को अपनी मानसिक संवेदक स्थिति के अनुरूप ही ग्रहण करता है और उसी की प्रेरणा से विस्तार भी देता है, बिलकुल उसी प्रकार यात्री भी अपनी यात्रा के प्रत्येक स्थल और क्षणों में से उन्हीं संवदेक क्षणों को संजोता है जिनको वह अनुभूत सत्य के रूप में ग्रहण करता है। वह सर्वसाधारण की दृष्टि से प्रत्येक बात का विवरण देकर ही नहीं चलता; और यदि विवरण तथा विस्तार देना ही होता है तो वह उन्हें अपने भावावेश में प्रस्तुत करता है अथवा आत्मीयता के वातावरण में उपस्थित करता है। एक बात और भी महत्त्वपूर्ण है, यात्री को अपने वर्णन में संवेदनशील होकर भी निरपेक्ष रहना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से ही न्याय की अधिक सम्भावना है; नहीं तो यात्री यात्रा के स्थान पर प्रधानतः अपने को ही चित्रित करने लगेगा। यात्रा में स्वतः स्थान, दृश्य, प्रदेश, नगर और गाँव मुखरित होते हैं, उनका अपना व्यक्तित्व उभरता है। इनमें मिलने वाले नर-नारी, बच्चे-बूढ़े अपने नानाविध चरित्रों के साथ उनके व्यक्तित्व को अधिक स्पन्दित और मुखरित करते हैं। मार्ग में पड़ने वाले मन्दिरों, मसजिदों, मीनारों, विजय-स्तम्भों, स्मारकों, मकबरों, किलों और पुराने महलों से संस्कृति, कला और इतिहास की सम्मिलित पीठिका तैयार होती है। अपने को अदृश्य भाव से सर्वत्र रखना ही होता है, यात्री अपनी यात्रा को मानसिक प्रतिक्रियाओं के रूप में ही ग्रहण करता है। पर अपने को केन्द्र में रखकर भी प्रमुख न होने देना साहित्यिक यायावर

का कठिन कर्त्तव्य है, क्योंकि लेखक का व्यक्तित्व उभरेगा तो अन्य सब गौण हो जायगा और फिर वह यात्रा-साहित्य न होकर आत्मचरित हो रह जायगा, यात्रा-संस्मरण न रहकर आत्म-संस्मरण हो जायगा।

कहा गया है कि यात्री में प्रगीतों के गायकों का भावावेश रहता है और निबन्धकार की मस्ती। वह अल्हड़ लापरवाही से जीवन को एक विशेष दृष्टि से देखता है। यात्रा को जो आकर्षण मानकर नहीं चलता, मस्ती के साथ निश्चिन्त होकर जो यायावर नहीं बनता, जिसे आगे की सीमाएँ क्रमशः आगे की ही ओर बरबस खींचती नहीं रहतीं, वह यात्रा करके भी यात्री कहलाने का अधिकारी नहीं। पता नहीं, परियों के किस नीलम देश के लिए मनुष्य का बच्चा घुमक्कड़ बन जाता है, और फिर उसके मन के आकर्षण को कोई मिटा नहीं सकता। चिरकाल की संचित अभिलाषा उसको निरन्तर भटकाती रहती है, और परियों का वह नीलम देश मिलकर भी उसे नहीं मिलता, अथवा मिलकर भी उसे घेर नहीं पाता। इस आकर्षण को वह इतनी गहराई से महसूस करता है कि वह मार्ग के बीच से अन्यों को भी बढ़ते आने के लिए पुकारता है। राहुल जी के लिए यह पुकार एक जीवन-दर्शन प्रस्तुत करती है—

"जिसने एक बार घुमक्कड़-धर्म अपना लिया, उसे पेंशन कहाँ, उसे विश्राम कहाँ? आखिर में हड्डियाँ घुमक्कड़ी करते ही कहीं बिखर जायँगी। मुझे जान पड़ता है 'अथा तो घुमक्कड़जिज्ञासा' कहते घुमक्कड़-शास्त्र लिखना पड़ेगा। मेरी यात्राओं को पढ़कर कितने ही माता-पिताओं को अपने सपूतों से वंचित होना पड़ा होगा। (किन्तु अब तो मैंने शास्त्र लिख लिया है और उसमें) मैंने खुले-आम घुमक्कड़-धर्म का प्रचार किया है। मैं हर घूमने वाले याचक या अयाचक को घुमक्कड़ नहीं मानता। सच्चा घुमक्कड़ धर्म, जाति, देश-काल सारी सीमाओं से मुक्त होता है, वह सच्चे अर्थों में मानवता के प्रेम का उपासक होता है। यह घुमक्कड़ दुनिया से लेता कम और देता अधिक है।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण में यात्रा-साहित्य की मूल प्रवृत्ति का निर्देश राहुलजी ने किया है। साहित्यिक यात्री के स्वरों में यात्रा के प्रति यही उल्लास और उमंग रहती है। यात्रा को वह केवल माध्यम के रूप में स्वीकार नहीं करता, उसके लिए वह लक्ष्य है, अपने-आपमें उद्देश्य है। जन-जीवन के भाव-स्रोत से निःसरित लोक-गीतों को चुनने वाले देवेन्द्र सत्यार्थी के मन में यात्रा का सहज आकर्षण है—

"मेरा पथ मेरे सामने है। मैं जीवित मानव का पक्ष लेता हूँ। मैं मानव की भावनाओं और अनुभूतियों में असंख्य पीढ़ियों को लाँघकर आते हुए जीवन की गाथा सुनूँगा। मैं मानव के दृढ़ संकल्पों में भविष्य की मुखाकृति देखूँगा। मैं उसके साथ चलूँगा। जीवन आज उसी यात्रा के लिए आह्वान कर रहा है।"[2]

अपने एक पात्र के मुख से लेखक ने अपना ही विश्वास व्यक्त किया है। वह यात्रा में जीवन की शाश्वत पुकार का आकर्षण पाता है। इस प्रकार मोह की सीमा तक पहुँचा हुआ आकर्षण यात्रा-साहित्य की विशेषता है। आज के कार्य-भार से व्यस्त जीवन में यह आह्वान यात्री के मन को अधिक उत्सुक और उद्वेगशील बना देता है। देवेश दास यात्रा के अवसर को

१. 'किन्नर देश में'।
२. 'रथ के पहिये'।

पाकर ही उच्छ्वसित हो उठते हैं—

"आज छुट्टी है, छुट्टी। मन-ही-मन जिस वसन्त-व्याकुलता का अनुभव करता था उससे आज बन्धन-मुक्त होऊँगा। काम की बाधा दूर हो गई, वह किसी प्रकार भी क्यों न हुई हो·······आँधी में उड़कर अथवा वर्षा में घुलकर·······और मैं अनिर्दिष्ट पथ पर बाहर निकल आया हूँ।"[1]

इस उल्लास में यात्रा के प्रति लेखक का आकर्षण और अटूट विश्वास ही व्यक्त हुआ है। जैसे बच्चा घर की तमाम उलझनों से मुक्त होकर खेलने के लिए उत्सुक और व्यग्र रहता है, उसी प्रकार यात्री का मन सांसारिक उलझनों के बीच यात्रा के सम्मोह का अनुभव करता है। वह संसार के विस्तार को आश्चर्य, कौतूहल और जिज्ञासा-भरी दृष्टि से देखता है। वह सृष्टि के सौन्दर्य को भाव-विह्वल तथा आनन्द-विभोर होकर देखता है। श्रीनिधि वन से आत्मीयता का अनुभव करते हैं और नगर के कृत्रिम जीवन के समकक्ष वन के मुक्त जीवन का जय-घोष करते हैं—

"इन एकान्त द्रुम-छायाओं में, इन पक्षियों के वन्य गीतों में, इन गिरि-नदियों के शून्य प्रवाहों में, इन निर्झरों के अश्रान्त नादों में, इन निर्मल सूर्यास्तों में, इन जन-संचार-शून्य सैकत-पुलिनों में, इन एकान्तवासी हरिणों में, इन पुष्प-विकासों में, इन घाटियों में, परम आनन्द का जो पावन सन्देश भरा है, संसार में कहीं भी उसकी तुलना नहीं।"[2]

इस प्रकार प्रकृति के अनन्त शृङ्गार को, उसके विराट्-कोमल रूपों को, जीवन के विभिन्न स्तरों को तथा देश-देश के नर-नारियों के जीवन को यात्री तन्मय होकर ग्रहण करता है। और आनन्द के इस तन्मय उन्मेष में यात्री जीवन को विरामहीन यात्रा मानता है और मनुष्य को चिरंतन यायावर। 'अज्ञेय' जीवन को यायावर का चिरन्तन पथ मानकर कहते हैं—

"यायावर को भटकते चालीस बरस हो गए, किन्तु इस बीच न तो वह 'अपने पैरों-तले घास जमने दे सका है, न ठाठ जमा सका है, न क्षितिज को कुछ निकट ला सका है'··· उसके तारे छूने की तो बात ही क्या।····यायावर ने समझा है कि देवता भी जहाँ मन्दिरों में रुके कि शिला हो गए, और प्राण-संचार की पहली शर्त है गति! गति! गति!"[3]

इस प्रकार यात्रा-साहित्य में व्यक्तिपरक भावावेश, उन्मुक्त मस्ती और अल्हड़ उल्लास मूलतः सन्निहित रहता है। कहा गया है कि यात्रा ही यात्री का लक्ष्य होना चाहिए, ऊपर के साहित्यिक यायावरों ने यात्रा को जीवन-दर्शन के रूप में ग्रहण भी किया है। पर इसका मतलब यह नहीं कि यह सारी गति निरुद्देश्य ही प्रवाहित रहती है। यायावर का पथ शून्य की रेखा नहीं है। यात्रा के कष्ट, असुविधाएँ, उसकी साहसिकता इतने आकाशी सन्तोष पर टिक भी नहीं सकते। इसका अभिप्राय है कि जो व्यावसायिक उद्देश्य से, प्रयोजन-सिद्धि के भाव से, देश-विदेश, वन-पर्वत घूमते हैं उनके दृष्टि-पथ पर जीवन का स्वच्छन्द और मुक्त प्रवाह आ ही नहीं सकता और यही साहित्यिक यायावरों की पहली शर्त है। जीवन के किनारे से निकल जाने पर भी इनके लिए जीवन अननुभूत सत्य रह जाता है। और यात्री जीवन के इस स्रोत को पहचानता है, उसके उद्गम पर विचार करता है, उसके अन्दर पैठकर अनुभूति प्राप्त करता है और उसकी

१. 'यूरोपा'।
२. 'शिवालक की घाटियों में'।
३. 'अरे यायावर, रहेगा याद!'

आर्द्रता का अनुभव भी करता है। फिर वह अपनी इन समस्त संवेदनाओं को साहित्य में अभिव्यक्ति का रूप देता है।

यात्रा-साहित्य विभिन्न शैलियों में लिखा गया है और इस कारण वह विभिन्न रूपों में बिखरा है। इस विषय का कुछ ऐसा साहित्य है जो केवल यात्रोपयोगी साहित्य कहा जा सकता है और जिसका उद्देश्य यात्रियों के लिए स्थान या देश विशेष की समस्त ज्ञातव्य बातों को संग्रहीत कर देना है। वैसे तो प्रत्येक यात्रा-विवरण से यात्रियों को प्रेरणा और कुछ अंशों में सहायता मिलती है, पर इस प्रकार के साहित्य का एक-मात्र उद्देश्य यही है। इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य राहुल सांकृत्यायन तथा स्वामी प्रणवानन्द ने किया है। वेणी शुक्ल, सूर्यनारायण व्यास, तथा श्रीगोपाल नेवटिया आदि लेखकों ने सरल वर्णनात्मक शैली में अपनी यात्राओं का क्रमिक विवरण प्रस्तुत किया है। ऐसा नहीं कि इनमें केवल वर्णन प्रस्तुत करने-भर की प्रवृत्ति पाई जाती है। इनकी शैली सीधी, सरल जरूर हैं; पर अपनी यात्रा के प्रति इन यात्रियों में उल्लास और आवेग है जो इनके वर्णनों में यत्र-तत्र प्रकट हुआ है। जहाँ परिचय देने का प्रयत्न लेखक करता है, वहाँ भी चित्र सहज और स्पष्ट सामने आ जाता है। वेणी शुक्ल ने सर्वथा इसी प्रकार के वर्णन प्रस्तुत किये हैं—

"गाड़ी चल पड़ी। फ्रांस की ऊँची-नीची भूमि (जैसी गरमियों में रहती है) सुसज्जित रमणी की तरह न थी। उस समय पेड़ों में पत्तियाँ न थीं; मैदान, पहाड़ इत्यादि बरफ़ से सफ़ेद हो रहे थे। सूर्य का प्रकाश भी न था। कोहरा और धुँधलापन न था।"[१]

इन विवरणों में लेखक की जिज्ञासा व्यक्त होती है, उल्लास या आवेश नहीं पाया जाता। व्यास में अपेक्षाकृत उल्लास की भावना भी परिलक्षित होती है—

"दोपहर का समय था। ट्रेन अपनी पूरी ताकत से स्विटज़रलैण्ड की स्वर्ग-भूमि पर भागी जा रही थी। कभी पहाड़ियों को चीरती हुई, कभी पर्वत-शिखर पर सरपट भागती हुई और कहीं गिरि-कन्दराओं में लुका-छिपी करती हुई, एक अजीब दृश्य उपस्थित करती रेल चली जा रही थी।...............मैं अतृप्त नयनों से इस शोभा को देख रहा था।"[२]

पर इन वर्णनों में वह मस्ती और स्वच्छन्द भावना नहीं है जो आगे की प्रौढ़ कृतियों में पाई जाती है। अधिकतर लेखक परिचयात्मक विवरणों में उलझ जाता है।

नेवटिया की शैली अधिक प्रौढ़ है और वे अपनी यात्रा के साथ कुछ रम सके हैं। इन्होंने अपनी यात्रा-भूमि का विस्तार के साथ विवरण दिया है और इनकी शैली भी प्रधानतः वर्णनात्मक ही है। फिर भी लेखक अपने चतुर्दिक् को अधिक गहराई से देख सका है और उससे अधिक आत्मीयता स्थापित कर सका है—

"हरित और धवल गलीचे से आच्छादित पहाड़ी समतल भूमि के इस ओर बहुत दूर क्षितिज पर सूर्य की किरणों से चमकते हुए तुषार-धवल पर्वतों की वह पतली-सी रेखा, शीतल और मन्द पवन का वह प्रवाह, विविध वर्णों से विभूषित नभ का वह रूप, ये सब

१. 'लन्दन-पैरिस की सैर'।
२. 'सागर-प्रवास'।

मन को मत्त बनाने में पूर्ण समर्थ थे।"

यही नहीं लेखक के मन में वर्तमान के साथ अतीत भी प्रतिघटित होने लगता है। यात्री अपने वर्ण्य-विषय को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण करता है, यही कारण है कि उच्चकोटि के यात्रा-साहित्य में दृश्य-सौन्दर्य, जीवन का रूप, इतिहास, पुरातत्त्व और अर्थनीति सब मिल-जुलकर एकरस हो जाते हैं। लेखक के मन में सहज उत्सुकता जागती है—

"सुदृढ़ परकोटे की भाँति काश्मीर की रक्षा करने वाली गिरि-पंक्ति ने काश्मीर के जिन परिवर्तनों को देखा है उन्हें जानने के लिए, उन गिरि-शिखरों के चरणों में खड़ा होकर, कौन उत्सुक न होगा? वे पर्वत मूक हैं, जल-स्रोत की वह ध्वनि भी अस्पष्ट है, पर तो भी उनकी ओर देखने से काश्मीर के प्राचीन वैभव का आभास होता है।"[1]

इस प्रसंग में स्वामी सत्यदेव का नाम भी उल्लेखनीय है। वे हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक घुमक्कड़ों में हैं। इन्होंने अपनी यात्रा विवरणों तथा डायरी के रूप में भी लिखी है। ये उन साहसिक यात्रियों में से हैं जिन्होंने यात्रा के मोह और आकर्षण में किसी बाधा को स्वीकार नहीं किया। सारे संसार का चक्कर इन्होंने बिना पैसे के लगाया है, यह बात उनके अदम्य उत्साह की द्योतक है। शैली के अभाव में वे उच्च यात्रा-साहित्य का निर्माण तो नहीं कर सके हैं, पर अनेक देशों का, अनेक आकर्षक चरित्रों का प्रभावोत्पादक चित्र खींचने में इनको सफलता मिली है। राहुलजी ने यात्रा-साहित्य के लिए विभिन्न माध्यम अपनाये हैं, शायद उनसे अधिक इस विषय पर इतने विविध रूपों में अन्य किसी ने नहीं लिखा है। वे 'हिमालय-परिचय' नाम से कई भागों में हिमालय-सम्बन्धी समस्त ज्ञातव्य बातों और विवरणों को प्रकाशित करा रहे हैं। इसके अतिरिक्त 'किन्नर देश में', 'यात्रा के पन्ने' आदि में इन्होंने अधिक साहित्यिक रूप में यात्राओं का वर्णन दिया है। इनमें डायरी-शैली है, पत्र-शैली है और साधारण वर्णनात्मक शैली भी। राहुलजी ने अपने यात्रा-साहित्य में (यहाँ मैं यात्रोपयोगी विवरणों को छोड़ देता हूँ) देश की स्थिति, उसके प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ वहाँ के जीवन, इतिहास और पुरातत्त्व पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है। उनकी तिब्बत तथा नेपाल की यात्राओं का उद्देश्य प्राचीन हस्तलिखित पोथियों की खोज भी रहा है, जैसे उन्होंने रूस की यात्रा वहाँ अध्यापन-कार्य करने के लिए की थी। पर हमारे यात्री की दृष्टि सभी तरफ फैली रहती है। वह देश-काल-वस्तुओं के विशद विवरण के साथ स्थान विशेष के जीवन, उसके रीति-रिवाज, त्योहारों और उत्सवों का भी सजीव चित्र उपस्थित करता है—

"गुम्बा के मेले में सब बने-ठने थे। एकाध प्रौढ़-वयस्क स्त्री शमलानुमा पुरानी टोपी पहने थी।......सभी की टोपियों के उलटे कनपटों में सफ़ेद फूलों के गुच्छे भी लटके हुए थे। किन्नर-किन्नरियाँ फूल के बड़े शौकीन होते हैं। फूल मौजूद हो और फूलों का गुच्छा उनकी टोपियों में न लगा हो?"[2]

यही नहीं यात्री वर्तमान को अतीत से मिलाकर देखने और खण्डहरों में इतिहास को खोज निकालने का कार्य भी करता है। वह पुराने मन्दिरों, मूर्तियों तथा पोथियों को देखकर अपने मन के अन्दर एक झंझा को झकझोरते हुए पाता है—

१. 'काश्मीर'।
२. 'किन्नर देश में'।

"कोठी के देव-मन्दिरों से लौटते समय मस्तिष्क में तूफ़ान उठने लगा, और वह क्षणिक तूफ़ान नहीं था। देवी से मुझे कुछ लेना-देना नहीं था, सवाल था भैरव जी और उनके साथियों का। यह यहाँ कहाँ से आये? किसने इन्हें बनाया? उस घोर स्वार्थी देश में परमार्थी अचल देव-मण्डली कहाँ से आ धमकी?"[1]

इन समस्त विवरणों, इतिहास-पुराण के तर्क-वितर्कों में उलझकर हमारा यात्री चतुर्दिक् के बिखरे हुए प्रकृति-सौन्दर्य को बिलकुल भूल नहीं गया है। यह ठीक है कि उसकी शैली में काव्यात्मक भावशीलता को स्थान नहीं मिल सका है। वह प्रकृति के रूप को सीधे ढंग से संक्षिप्त संकेतों में उपस्थित करके आगे बढ़ जाता है—

"अब भी काशी के किनारे-किनारे कभी उसके एक तट पर कभी दूसरे तट पर आगे बढ़ना था। रास्ते में लाल, गुलाबी और सफ़ेद कई रंगों के फूलों वाले गुरास के पेड़ थे। बहुत से पेड़ तो आजकल अपने फूलों से ढक गए थे। एक वृक्ष तो अपने फूलों से ढका इतना आकर्षक था कि उसने मुझे ठहरने को विवश कर लिया।"[2]

व्यक्तिगत पत्रों में भी यात्रा-साहित्य का सर्जन हुआ है। अनेक विदेश-यात्रियों ने अपने पत्रों में अपनी यात्राओं का विवरण दिया है। ऐसी सामग्री पत्र-पत्रिकाओं में अधिक प्रकाशित होती रही है और अधिकतर उन्हींमें रक्षित है। पत्र-शैली में वैयक्तिक स्पर्श अपने-आप आ जाता है और इस कारण यात्रा-सम्बन्धी वर्णनों में भावशीलता और आत्मीयता का वातावरण प्रस्तुत हो जाता है। विशेषकर यह बात व्यक्तिगत पत्रों में होती है, पत्र-पत्रिकाओं में छपने के उद्देश्य से, अथवा प्रकाशित कराने के उद्देश्य से लिखे गए पत्रों में वह बात नहीं आ पाती, क्योंकि उनमें सचेष्ट प्रयत्न रहता है। कभी-कभी ऐसे पत्र डायरी-शैली के समान ही हो जाते हैं, क्योंकि अपने आत्मीय व्यक्ति के सामने यात्री अपने समस्त ऊहापोह को निःसंकोच रख सकता है। कई लेखकों ने अपने पत्रों में यात्रा का विवरण दिया है जिनका उल्लेख यथास्थान किया जायगा, क्योंकि उनके संस्मरण आदि भी हमारे सामने हैं। यहाँ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के 'यूरोप के पत्र' की चर्चा करना आवश्यक है। इन पत्रों की विशेषता यही है कि ये बिलकुल पारिवारिक शैली में यात्रा का विवरण प्रस्तुत करते हैं। इनमें कहीं भावावेश अथवा आत्मिक उल्लास नहीं व्यक्त हुआ है। लेखक ने सीधे-सरल ढंग से, बड़े ही असम्पृक्त भाव से अपनी यात्रा और उसके जीवन का विवरण प्रस्तुत किया है, इस दृष्टि से कि पत्र को पढ़ने वाला भी उन परिस्थितियों की कल्पना कर सके—और यह भी स्पष्ट है कि हमारे यात्री के सामने पारिवारिक स्तर का ही पाठक है। इसी कारण लेखक बीच-बीच में अपने देश की याद दिलाता चलता है—

"नील नदी बरसाती गंगा से आधी होगी। यह मिस्र देश की प्राण है। इसकी तीन-चार मील चौड़ी घाटी में ही सब-कुछ है—हरियाली है, खेती होती है, मनुष्य रहते हैं। कैरो नगर इसीके किनारे बसा है। उसके बाहर चारों ओर वीरान पहाड़ियाँ और रेगिस्तान है।"[3]

यशपाल की 'लोहे की दीवार के दोनों ओर' और गोविन्ददास की 'सुदूर दक्षिण-पूर्व'

१. 'किन्नर देश में'।
२. 'यात्रा के पन्ने'।
३. 'यूरोप के पत्र'।

में उनकी यात्राओं के विस्तृत और व्यापक वर्णन हैं। आगे हम यात्रा-सम्बन्धी संस्मरण-साहित्य पर विस्तार से विचार करेंगे, पर इसके पूर्व इन विस्तृत यात्रा-विवरणों का विवेचन कर लेना उचित होगा। राजनीतिक उद्देश्य से की गई इन यात्राओं में लेखकों ने अपने चतुर्दिक् के जीवन-जगत् को देखने का सम्पूर्ण प्रयत्न किया है और ये विभिन्न देशों के जीवन को सामने रखने में सफल भी हुए हैं। यशपाल अपनी यात्रा में पड़ने वाले प्रत्येक स्थान का पूरा विस्तार देते हैं—

"साढ़े ग्यारह के लगभग गाड़ी वियाना स्टेशन से चली। वियाना नगर का आँचल अंगूर की खेतियों, दो-मंजिली बस्तियों और छोटे-छोटे कारखानों से घिरा है।....खेती की भूमि प्रायः बरफ़ के टुकड़ों और कोहरों से ढकी हुई थी। वृक्षों के पत्ते हेमन्त और बरफ के कारण झड़े हुए थे।"

यह यात्री बिना किसी जल्दी के क्रमशः एक बात के बाद दूसरी बात को लेता चलता है। उसमें न भावावेश है और न उत्तेजना, सीधे तर्क और यथार्थ चित्रण पर ही उसकी दृष्टि है। के आकर्षण में यह यात्री कम उलझता है, पर स्थान, संस्थाओं आदि के विशद वर्णन प्रस्तुत यात्रा करता है। जोलशाई थियेटर का वर्णन करते हुए वह लिखता है—

"बैले का विषय 'स्वान लेक' (हंस झील) की कहानी थी। यवनिका उठती है। झील और जंगलों का प्राकृतिक दृश्य इतने मोहक और यथार्थ रूप में सामने आया कि यह जानते हुए कि हम हिमाच्छादित पर्वतों की उपत्यका में घूम नहीं रहे, थियेटर में बैठे हैं, मन में तरावट आ गई।"

इसी प्रकार 'सुदूर दक्षिण-पूर्व' में लेखक ने देश की प्रकृति, उसके निवासी, तथा उसके रीति-रिवाजों आदि का विस्तृत वर्णन किया है। इन विवरणों के बीच कहीं-कहीं लेखक का कौतूहल और उल्लास भी व्यक्त हुआ है—

"गुफाओं में घूमते हुए हमें ऐसा जान पड़ा जैसे कोई स्वप्न देख रहे हों और यह स्वप्न देखते-देखते जब हम नाव पर बैठकर ग्लोवर्म से भरे स्थान को देखने अँधेरा करके बिना एक शब्द भी बोले रवाना हुए तब तो इस स्वप्न की गहरी-से-गहरी स्थिति थी। अँधेरा करके चुपचाप इस दृश्य को देखने का कारण यह था कि उजेला और शोरग़ुल होने पर ग्लोवर्स अन्तर्धान हो जाते हैं, यह कहा गया था।"

परन्तु अधिकतर लेखक भिन्न-भिन्न प्रकार के विवरणों में ही उलझा रहा है। वैसे ये दोनों ही पुस्तकें उपयोगी हैं। इनसे विभिन्न देशों की भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थिति का ज्ञान होता है।

प्रारम्भ में ही कहा गया है कि यात्रा-साहित्य की प्रवृत्ति निबन्ध-शैली के निकट है और वह इस सीमा पर संस्मरण का रूप ग्रहण कर लेती है। अधिकतर साहित्यिक यात्रा-विवरण संस्मरण के समान ही होते हैं। डॉ० भगवतशरण उपाध्याय की 'वो दुनिया' में उनकी पिछली अमरीका और यूरोप-यात्रा के संस्मरण हैं। इस यात्री ने इनमें अमरीका (प्रमुखतः) और यूरोप की आत्मा को स्पर्श करते हुए देखने की कोशिश की है। उसने यात्रा का वर्णन गौण रखकर अमरीका के प्रवाहित जीवन को पकड़ने की कोशिश की है। साथ ही वह अपनी व्याख्या पूरे बल और आक्रोश के साथ करता चलता है—

"वह पिछली सन् ४० की रात, ३१ दिसम्बर को न्यूयार्क की।....शोर फिर होने

लगा। आकाश-पाताल गूँजने लगे। मनुष्य हँस रहा था—बर्बर मनुष्य, और उसके अट्टहास को दिशाओं ने पश्चिम, दूर पश्चिम, सिंधु-पार कोरिया के मैदानों में, जहाँ रात ठमकी हुई है, जहाँ नया सवेरा रात का मुँह नहीं देखना चाहता, पहुँचा दिया।"

इस प्रकार ओज के साथ स्थितियों तथा चरित्रों को वह अंकित करता है। ऐतिहासिक व्यक्तित्वको गहरी दृष्टि से देखने और उनका शब्द-चित्र उतारने में इस यात्री को कमाल हासिल है। इन संस्मरणों में अनेक चरित्रों की उद्भावना लेखक ने सजीव शैली में की है। जिस क्षिप्र तथा संयत शैली में यह यात्री व्यक्तित्व का चित्र अंकित करता है, उसी संक्षेप से वह दृश्यों के वर्णन में भी काम लेता है। और इन संकेतों में दृश्य का एक रूप जरूर सामने आता है—

"दोनों ओर रुई की तरह फैले हुए सफेद धुँधले मैदान, शायद चारों ओर, पर सामने-पीछे देख नहीं सकता। हमारा जहाज़ उड़ा जा रहा है, प्रायः ३०० मील प्रति घंटे की रफ़्तार से, पूर्व की ओर। यह मैदान ज़मीन का नहीं, रेत का भी नहीं, यद्यपि यह जहाज़ से दूर रेतीला-सा दीखता है। है यह बादलों का—उन बादलों का, जो हम से हज़ारों फीट नीचे हैं, जिन पर धूप चमक रही है।"

इसी प्रकार देश के सामाजिक जीवन को प्रधानतः दृष्टि-पथ में रखकर यात्रा-संस्मरण लिखने वाले दूसरे लेखक हैं अमृतराय। नये चीन ने सैकड़ों वर्षों की नींद के बाद सुबह की लाली देखी है, और तेजी से निर्माण-पथ पर बढ़ते हुए इस राष्ट्र को देखकर हमारा यात्री उल्लास में खो जाता है—

"सम्मेलन का आखिरी दिन था। रात का तीन बजा होगा। सम्मेलन की कार्यवाही अभी खतम हुई थी कि न जाने कहाँ से सैकड़ों बच्चे फूलों की डालियाँ लिये हॉल में घुस आए और प्रतिनिधियों पर पुष्प-वर्षा करने लगे।....ये बच्चे हमारी शान्ति-शपथ की साकार मूर्ति थे—उस शपथ की, जिससे हम उनको और खुद अपने बच्चों को युद्ध की विभीषिका से बचाने के लिए संघर्ष करेंगे।"[1]

हमारे लेखक की कठिनाई यही है कि वे अपने उल्लास के प्रवाह में चीन के जीवन के नानाविध रूपों और स्पन्दनों को प्रत्यक्ष करने के बजाय अनेक तर्क-वितर्कों के ऊहापोह में फैल जाते हैं। उनका आवेश संस्मरण के अनुरूप है, पर यात्रा-साहित्य की संज्ञा पाने के लिए लेखक को किंचित् असम्पृक्त भी रहना चाहिए। ऐसा नहीं कि यात्री तर्क-वितर्क में पड़ता नहीं, या वह अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं की अवज्ञा ही करेगा। पर जहाँ सामने बिखरे हुए जीवन की अनुभूति के मार्ग में वह बाधा बन जाय....सामने से देश विलीन हो जाय और यात्री के विचार तथा आवेग ही प्रधान हो जायँ, वहाँ जान पड़ता है कि यात्री ने अपने धर्म की अवहेलना की है।

दूसरी ओर ऐसे भी यात्री हैं जिन्होंने चिन्तन और ऊहापोह के आवेग के साथ जिन्दगी की साँसों को मिला-जुला दिया है। रांगेय राघव ने 'तूफानों के बीच' में अकाल-पीड़ित बंगाल की अपनी यात्राओं के संस्मरण इसी शैली में प्रस्तुत किये हैं। उसने अकाल-पीड़ित बंगाल में घूमते हुए, मानवता की कराह का अनुभव किया है और उस पीड़ा की अनन्त वेदना में भी उसने मानव-आस्था को पहचाना है—

"युगान्तर से दलित बंगाल का मानव पतित नहीं हुआ। अपराजित मानवता हुंकार उठी। चण्डीदास की वह पुकार....सवार अपरे मानुष सत्य, ताहार अपरे नाई......"

१. 'सुबह के रंग'।

माझी का धर्म है अपने ऊपर निर्भर रहने वालों को अपने से पहले बचाना। जब बंगाल के माझी का जीवन खतरे में था, किसी ने नहीं बचाया उसे। किन्तु आज जीवन की बाज़ी लगाये दाँव पर खेल रहा है। माँ, पिता, सब मेरे हैं···माझी भी मेरा है। बंगाल की मानवता मेरी है।"

बंगाल के क्षत-विक्षत जीवन को देखकर लेखक का मन उमड़-उमड़ आता है और सामने उभरते हुए चित्रों के साथ उसका आक्रोश व्यक्त हो उठता है।

अभी तक जिन यात्रा-संस्मरणों का ज़िक्र किया जा रहा था, वे उन यात्रियों के हैं जो जीवन की पुकार से आकृष्ट होकर यात्रा करने वाले यायावर हैं। पर कुछ ऐसे भी यात्री हैं जो यात्रा की मस्त राहों पर भटकते हुए जीवन की पुकार सुन लेते हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी ने लोक-जीवन के गीतों को बटोरने के लिए खानाबदोशों का जीवन बिताया है। यही कारण है कि इस यात्री के स्वर में लोक-गीतों की तज़ागी और उल्लास झलकता रहता है—

"नेपाल संगीतमय है। वहाँ सभी मुखरित हो उठते हैं। जाड़े में हिमालय की बरफ़ीली हवाएँ और ग्लेसियर राग की सृष्टि करते हैं। वसन्त में वृक्षों पर बसने वाले असंख्य पक्षी अपने कलरव से उपत्यकाओं को कूजित करते हैं। वर्षा में चार दिन के अतिथि बादल, अपना मेघ-मल्हार सुनाने के लिए फेरी लगाया करते हैं। इन सबके साथ स्वर-में-स्वर मिलाकर नाचता-गाता है, नेपाल।"[1]

इसी कोटि के दूसरे यात्री देवेश दास हैं। गुरुदत्त के शब्दों में इस यात्री ने देश-देश के माहात्म्य और सौन्दर्य को सर्वान्तःकरण से स्वीकार किया है। देश-देश की बिखरी हुई प्रकृति और खुले हुए जीवन के सम्मुख इनकी मुक्त यायावर आत्मा आकाश में पींगें भरने लगती है। यही कारण है कि इन्होंने अपनी 'यूरोपा' तथा 'रजवाड़े' नामक पुस्तकों में देश-देश के सौन्दर्य और जीवन को स्वप्निल नेत्रों से देखा है।

"पिरेनीज़ शैलमाला की कितनी ही चोटियों पर एक अपूर्व नील आभा मूर्छित पड़ी रहती है, मानो निशान्त की झुटपुटी स्मृति। कितने दिन से ऐसा स्निग्ध नील प्रकाश से भरा उषा का रूप नहीं देखा था।"

आगे इस स्वप्नशील यात्री का मन वर्तमान से अतीत की ओर भागने लगता है। प्रकृति-सौन्दर्य के मध्य भग्नावशेषों के सहारे इस यात्री के मन पर अतीत अपनी घटनाओं तथा व्यक्तित्वों के साथ उभरने लगता है और लेखक अभिभूत होकर गत को अपनी कल्पना के रंगों में चित्रित करने लगता है—

"यह स्कॉट का सीमान्त देश है। स्कॉट की लेखनी ही इसको इतना विचित्र, रोमांचकारी और प्राणवन्त कर गई है। स्कॉट के वर्णनों में जिस देश और दृश्य को पाता हूँ वह अब भी अटूट है, केवल नहीं है उसका अद्भुत मनुष्य। मैलरोज़ ऐली के भग्न स्तूप अब भी खड़े हैं, शेष चारणों के गीतों में ज्योत्स्ना में इसका जैसा सुन्दर वर्णन है, वह सुन्दर म्लान महिमा अब भी इस स्तूप की है।"

'रजवाड़े' की राजस्थान-सम्बन्धी यात्राओं में हमारे यात्री के मन में वीरों की अनेक गाथाएँ, इतिहास की अनेक घटनाएँ और प्रेम तथा उत्सर्ग की अनेक कहानियाँ गूँज-गूँज जाती हैं। इस

१. 'धरती गाती है'।

लेखक के लिए वर्तमान अतीत से विच्छिन्न कोई संज्ञा नहीं रखता। 'शिवालक की घाटियों में' यात्रा करने वाले श्री निधि में प्रकृति और उसके जीवन के प्रति बहुत अधिक आत्मीय भाव है। अपनी व्यापक सहानुभूति के कारण ही उसने वन्य जीवन का सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण किया है। इस जीवन के हल्के-से-हल्के चढ़ाव-उतार से वह परिचित है—

"देखा, मण्डली से २५-३० हाथ दूर एक हरिण बैठा सो रहा है। बाघ उधर ही आ रहा है। एक ही दृष्टि में पहचान गया, यह मेरा पालकर छोड़ा गया चंचल था। ऊपर कोमल दीखने वाले इन हरिणों ने उसे अब तक अपनी मण्डली में नहीं मिलाया है। शायद, उनके जंगली नियमों में उसके लिए प्रायश्चित्त की कोई व्यवस्था नहीं है।"

कौतूहल और जिज्ञासा के बीच यह अपने पाठकों के सम्मुख जंगल के अद्भुत रहस्यों का उद्घाटन करता है और पाठक आश्चर्य-चकित होकर सुनता है।

अन्त में उस साहित्यिक यायावर का उल्लेख करना है, जिसके असम्पृक्त और निःशंक भाव को देखकर प्रकृति पुकार उठती है—'अरे यायावर, रहेगा याद'। पर 'अज्ञेय' का यह निरपेक्ष भाव अपने यात्रा-स्थलों के कोमल-विराट् सौन्दर्य तथा जीवन की ऊभ चूभ को अत्यन्त गहराई से अनुभव करता है। यह यात्री अपने को अपने-आपसे रिक्त करता है, इसलिए कि चतुर्दिक् से उसे भर सके, आस-पास के जीवन की संवेदनाओं को गहराई से महसूस कर सके। यात्री अपने चारों ओर कवि की दृष्टि से देखता है, उसकी दृष्टि में पुराण, इतिहास, पुरातत्त्व सभी-कुछ आ जाता है, पर उसकी मूल आत्मा सच्चे यायावर की ही है। भारत के सीमान्त पर खड़ा है, उसकी आँखों के सामने तूरखम का गर्वीला उभार है—

"इससे क्या कि इस सर्यादा पर्वत का नाम तूरख़म है। इससे क्या कि उससे भी परली तरफ जो गान्धार युगीन दुर्ग है, वह अब काफ़िर-कोट के नाम से प्रसिद्ध है। उठना और गिरना, बनना और मिटना, पाना और खोना, हर पारमिता की साधना में निहित है।"

प्रकृति के कोमल और विराट् सौन्दर्य को हमारा यात्री कल्पना की कोमल तूलिका से अंकित करता है। वह सौन्दर्य को जिस प्रकार चित्रित करने में सफल हुआ है उसी प्रकार उसके निर्भर आनन्द और उल्लास को भी व्यंजित कर सका है। काश्मीर के कोंसर नाग पर्वत की शिरोरेखा पर यायावर के सामने विराट् सौन्दर्य आविर्भूत होता है—

"सौन्दर्य को, रंग-रूप को, हम पीछे छोड़ आए थे। सामने था विराट्; और उसके साधन रंग नहीं थे, केवल श्वेत और कृष्ण, केवल प्रकाश और छाया, केवल आलोक और निरालोक। यों जहाँ हम थे, वहाँ की काली या धूसर चट्टानों पर, जहाँ-तहाँ काही की मिश्र-हरित, ताम्र-लोहित रंगत थी ही, जल में घुली नीलिसा भी थी ही, और दूर उस पार की निस्संग चोटियों को हिम-शीतल निर्माह में लपेट रखने वाली बरफ की चादर में गैरिक भाव भी था ही।

अपने यात्रा-क्रम में आने वाले चरित्रों को वह उनकी व्यक्तिगत रेखाओं के साथ उभार देता है। व्यक्तिगत चरित्रों के साथ यात्री ने देशगत चरित्रों की अवतारणा भी सफलतापूर्वक की है। और जब कभी यात्री की पुरातत्त्व-दृष्टि के सामने कोई प्राचीन इमारत, मन्दिर, मूर्ति अथवा उनका भग्नावशेष बीते युगों का इतिहास खोलने लगता है, उस समय लेखक का भावावेश किंचित् मुक्त हो जाता है। उसकी यात्रा में अनेक क्षण ऐसे आये हैं।

हर्षनारायण

मार्क्सवाद और साहित्य के स्थायी तत्त्व

क्लासिक साहित्य की चाहे जो भी परिभाषा की जाय, इसमें विवाद नहीं हो सकता कि अपेक्षाकृत स्थायित्व एवं शाश्वतता उसका प्रधान गुण है।[1] सफल रचनाएँ दो प्रकार की होती हैं: श्रेष्ठ अथवा सुन्दर और महान्। श्रेष्ठ अथवा सुन्दर रचनाएँ देश-काल-पात्र की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण होती हैं, जब कि महान् रचनाओं को इस प्रकार की अपेक्षा नहीं होती, वे देश-काल-पात्र को अतिक्रान्त करके सार्वदेशिक, सार्वकालिक तथा सार्वजनीन हो जाती हैं। जब सुदीर्घ काल तक उनकी महत्ता अक्षुण्ण रह जाती है और वे 'आउट ऑव डेट' नहीं हो पातीं, तब उन्हें हम क्लासिक घोषित कर देते हैं। असाधारण रूप में महान् रचनाएँ कभी-कभी रचयिता के जीवन-काल में ही क्लासिक का महनीय अभिधान प्राप्त कर लेती हैं। जो साहित्य कभी पुराना नहीं पड़ता, जिसकी अर्थवत्ता युग-परिवर्तन के बावजूद अक्षुण्ण रहती है, जिसमें मानवीय अनुभूतियों, कल्पनाओं, विचार-पद्धतियों, शैलियों आदि के ऐसे प्रतिमान एवं टाइप उपलब्ध होते हैं जो नई अनुभूतियों, कल्पनाओं, विचार-पद्धतियों, शैलियों आदि की उद्भावना के लिए पृष्ठभूमि का काम करते हैं, उस साहित्य को हम क्लासिक साहित्य की कोटि में रखते हैं।

उपर्युक्त विवरण से क्लासिक साहित्य की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है, यद्यपि उसमें हमें उसकी कोई सर्वांगपूर्ण परिभाषा नहीं मिलती। किन्तु हमें यहाँ इस विषय की गहराई में जाने का अवकाश नहीं है। हम यहाँ क्लासिक की परिभाषा करने नहीं अपितु मार्क्सवाद के साथ उसके महत्त्व का सामंजस्य दिखलाने चले हैं।

मार्क्स क्लासिक साहित्य के मूल्यांकन में किसी से पीछे नहीं है। अपने पूर्ववर्ती महान् बूर्जुआ लेखकों के अध्ययन की वह जोरदार सिफ़ारिश करता है। वेडमेयर को उसने एक बार लिखा था, "अन्त में, आपके स्थान पर जनतन्त्रवादी सज्जनों से मैं सामान्यतः कहूँगा कि ज्यादा अच्छा यह होगा कि, इसके पूर्व कि वे (कुत्तों के समान) भोंक-भोंककर बूर्जुआ साहित्य का खण्डन करें, पहले इससे परिचित हो लें। उदाहरणार्थ, इन सज्जनों को थियरे, गिज़ॉट, जॉन वेड आदि की ऐतिहासिक रचनाएँ पढ़नी चाहिएँ, ताकि वे वर्गों के अतीत

१. तुलना कीजिए: "आधुनिक काल में 'क्लासिक' शब्द साधारणतः किसी भी ऐसे लेखक के लिए प्रयुक्त होता है जो शताब्दियों के न्यायालय में खरा उतर चुका है अथवा उसके लिए भी जो अपने ही समय में उनकी कोटि में रखा जाता है जो इस प्रकार खरे उतर चुके हैं": मैकाले, *बॉसवेल्स लाइफ़ ऑफ़ जॉनसन*: "इस अद्भुत व्यक्ति का क्या ही अनोखा भाग्य रहा है! अपने ही युग में क्लासिक समझा जाना और हमारे युग में साथी!" (इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका)।

इतिहास से अवगत हो सकें।"[1] एंगेल्स को लिखे एक पत्र में वह अपने समकालीन चर्मकार-विचारक डीट्ज़गेन की आलोचना करते हुए कहता है, "यह उसका दुर्भाग्य है कि ठीक हीगेल ही को उसने नहीं पढ़ा है।"[2] (ज़ोर मार्क्स का) मार्क्स स्वयं क्लासिक साहित्य का अनन्य अध्येता था। कहा जाता है कि हाइन और गेटे उसे कण्ठस्थ थे। वह ईस्किलस (Aeschylus) और शेक्सपियर को विश्व के सर्वश्रेष्ठ नाटककार मानता और बार-बार उनकी आवृत्ति करता रहता था। दाँते और बर्न्स उसके प्रिय कवि थे। उसे अठारहवीं शताब्दी के उपन्यास बहुत रुचते थे। वह ड्यूमा और सर वाल्टर स्कॉट को भी बड़े चाव से पढ़ता था। स्कॉट की कृति 'ओल्ड मॉर्टेलिटी' (Old Mortality) को वह एक ग्रन्थ-रत्न समझता था। बालज़क पर तो उसने एक पूरी पुस्तक ही लिखने की योजना बनाई थी, जो अभाग्यवश पूरी न हो सकी। इसके अतिरिक्त मार्क्स हीगेल, फायरबाख, रिकार्डो आदि की महत्ता को किस प्रकार मुक्त कण्ठ से स्वीकार करता है, यह सर्वविदित ही है।

तथापि कुछ लोगों की धारणा है कि अतीत के बूर्ज़ुआ साहित्य की महत्ता का स्वीकार किया जाना मार्क्सवाद के लिए सर्वथा असम्भव है।[3] कहा जाता है कि मार्क्सवाद साहित्य को युग के साथ खूब कसकर बाँध देना चाहता है। उसके अनुसार साहित्य अन्ततोगत्वा युग के साथ पूर्ण निष्ठावान होने को बाध्य है और ऐसा होना उचित भी है। हीगेल का दावा है कि जो-कुछ है सब ठीक ही है, जो जैसा है वह वैसा होने योग्य भी है, सत्तावान-मूल्यवान है, अथवा यथार्थ बुद्धि-संगत होता है[4]—कम-से-कम यहाँ पूरी तौर पर चरितार्थ होता दीखता है। साहित्य का मूल्य युगमात्रावस्थायी होता है, युगान्तर में उसका विशेष मूल्य नहीं होता। यातायात के लिए कभी बैलगाड़ी उतनी ही महत्त्वपूर्ण थी जितनी आज रेलगाड़ी है। किन्तु अब बैलगाड़ी दो कौड़ी की वस्तु होकर रह गई है। यही हाल तथोक्त मार्क्सवाद के अनुसार, साहित्य का भी होना चाहिए। किन्तु सभी जानते हैं कि साहित्य-सम्बन्धी यह दृष्टिकोण सर्वथा असमीचीन है। आज बैलगाड़ी चाहे कोई महत्त्व न रखती हो, परन्तु बैलगाड़ी-युग के साहित्य का एक बड़ा भाग हमें अब भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लगता है।

यह भी कहा जाता है कि मार्क्सवाद परम्परा का कट्टर विरोधी है। उसके अनुसार सभी प्रकार की विचार-परम्पराएँ (आइडियॉलोजीज़) परस्पर संघर्ष्यमाण वर्ग-हितों की पैदावार हैं, अतः उनकी महत्ता सर्वतोभावेन वर्ग-सापेक्ष ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि वर्ग-समाज में उत्पन्न सभी ज्ञान-विज्ञान, सभी कला-कृतियाँ, सभी साहित्यिक रचनाएँ, वर्ग-विशेषों की अपेक्षा से ही मूल्य रखती हैं, सम्बन्धित वर्गों के बाहर उनका विशेष मूल्य नहीं। साम्यवादी क्रान्ति के उपरान्त इन वर्ग-मूलक विचार-सन्ततियों का अन्त हो जायगा और तभी वर्ग-विरहित विचार-धाराओं का सूत्रपात सम्भव होगा। अतएव सही मानों में क्लासिक अथवा शाश्वत साहित्य का आविर्भाव भावी वर्ग-विहीन समाज में ही हो सकता है। आजकल जिन कृतियों को हम क्लासिक

१. मार्क्स द्वारा वेडमेयर को लिखा पत्र, दिनांक ५ मार्च, १८५२।
२. मार्क्स द्वारा एंगेल्स को लिखा पत्र, दिनांक ७ नवम्बर, १८६८।
३. २२ जून, १९५३ के 'नेशनल हेराल्ड' में प्रकाशित लेख, 'मॉडर्निटी एण्ड द क्लासिक्स', में डॉ० देवराज ने ऐसा ही मत प्रकट किया है।
४. 'द रियल इज़ द रैशनल'—(हीगेल)

साहित्य कहकर पुकारते हैं वे वस्तुतः श्रेष्ठ वर्ग-साहित्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

मार्क्सवाद की उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर यह कहा जाता है कि वह यह नहीं बतला सकता कि वर्तमान बूर्जुआ-युग में सामन्तयुगीन कालिदास की रचनाओं में क्यों रस मिलता है और शंकर के भाष्यों में विचारोत्तेजकता। क्या बात है कि कालिदास एवं शंकर के समय की अर्थ-व्यवस्था तो मर चुकी किन्तु उनकी रचनाएँ अभी भी जीवन्त हैं ?

उपर्युक्त विचार-सरणी आमूल भ्रान्त है। भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच जिस दुर्लंघ्य खाई की कल्पना की गई है, वह सर्वथा असंगत है। वर्गों के बीच उतना भेद नहीं जितना समझा जाता है। एक वर्ग दूसरे वर्ग से भिन्न अवश्य है, किन्तु इस भिन्नता की तह में मानवत्व नामाख्य जो एकता है उसको कम महत्त्वपूर्ण समझना भूल है। मार्क्स और एंगेल्स ने वस्तुओं के बीच आत्यन्तिक भेद की कल्पना के विरुद्ध बार-बार चेतावनी दी है। एक पत्र में एंगेल्स कहता है, "इस प्रकार के अलौकिक, ध्रुवद्वय के समान प्रतियोगी केवल संकट (क्राइसिस) के समय ही वास्तविक जगत् में अस्तित्व में आते हैं, जब कि समस्त विराट् प्रवाह अन्तर-क्रिया के रूप में ही प्रवहमान है·······और यहाँ प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है, निरपेक्ष कोई वस्तु नहीं·······।"[1] यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि वर्गों के बीच पूर्व और पश्चिम के भेद प्रायः संकट-काल में ही परिलक्षित होते हैं। वर्गों को योनियाँ (स्पीशीज़) मान लेने की भूल नहीं करनी चाहिए। वर्ग-समाज का व्यक्ति पहले मानव-व्यक्ति है फिर वर्ग-व्यक्ति। वर्ग हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर कभी हावी नहीं हो सकता। वर्ग-सम्बन्धों में हमारे व्यक्तित्व की परिसमाप्ति नहीं हो जाती। वे उसका केवल आंशिक प्रतिनिधित्व करते हैं। मार्क्स और एंगेल्स ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है। वह लिखता है, "लेकिन ऐतिहासिक विकास के दौरान में, और ठीक इस अपरिहार्य तथ्य के कारण कि श्रम-विभाजन के बीच सामाजिक सम्बन्ध स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त कर लेते हैं, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में एक विभाजन प्रकट हो जाता है, जहाँ तक वह (जीवन) वैयक्तिक है और जहाँ तक वह श्रम की किसी शाखा एवं उससे सम्बद्ध अवस्थाओं द्वारा निर्धारित होता है। (हमारा मतलब यह नहीं है कि इस बात से यह समझा जाय कि, उदाहरणार्थ, महाजन (रँतिये), पूँजीपति, आदि व्यक्ति नहीं रह जाते; बल्कि नियत वर्ग-सम्बन्ध उनके व्यक्तित्व का नियमन एवं निर्धारण करने लगते हैं, और केवल अन्य वर्ग से संघर्ष के समय विभाजन प्रकट होता है और, अपने लिए, तभी जब वे दिवालिये हो जाते हैं।)"[2] 'फ़ायरबाख़ पर लिखे छठे सूत्र में मार्क्स व्यक्तित्व को 'सामाजिक सम्बन्धों की समष्टि' बतलाता है, वर्ग-सम्बन्धों की समष्टि नहीं, जिसका मतलब यह है कि व्यक्ति वर्ग-सम्बन्धों के अतिरिक्त कुछ और भी है। ट्राट्स्की ने व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए लिखा है, "व्यक्तित्व जातीय, राष्ट्रीय, वर्ग-सम्बन्धी, अल्पकालीन और संस्थात्मक तत्त्वों का जोड़ है और, वस्तुतः, इस जोड़ के अनूठेपन में, इस मानसिक-रासायनिक मिश्रण में, ही व्यक्तित्व अभिव्यक्त होता है।"[3] यहाँ वर्ग-सम्बन्धों को स्पष्टतया व्यक्तित्व का अंश-मात्र माना गया है।

इस सम्बन्ध में मार्क्स की एक और उक्ति विचारणीय है। बेंथम के उपयोगितावाद की

१. एंगेल्स द्वारा कॉनराड स्मिट को लिखा पत्र, दिनांक २७ अक्तूबर, १८९०।
२. मार्क्स और एंगेल्स, जर्मन आइडियॉलोजी, पृष्ठ ७१-७४ (भारतीय संस्करण)।
३. लियोन ट्राट्स्की, लिटरेचर एण्ड रिवोल्यूशन, पृष्ठ ५९।

आलोचना करते हुए मार्क्स लिखता है, "यह जानने के लिए कि श्वान के लिए क्या उपयोगी होगा, श्वान-प्रकृति का अध्ययन करना ही होगा। यह प्रकृति स्वयं उपयोगिता के सिद्धान्त से अनुमित नहीं हो सकती। इसे मनुष्य पर लागू करने पर, जो कोई सभी मानवीय कार्यों, गति-विधियों, सम्बन्धों, आदि की आलोचना उपयोगिता-सिद्धान्त के आधार पर करेगा, उसे पहले सामान्य मानव-प्रकृति की मीमांसा करनी होगी, और तब प्रत्येक ऐतिहासिक युग में परिवर्तित मानव-प्रकृति की। बेंथम इसे यों ही चलता करता है। शुष्कतम अनाड़ीपन दिखलाते हुए, वह आधुनिक दुकानदार, विशेषतः इंग्लैण्ड के दुकानदार को सामान्य (नॉर्मल) मनुष्य समझता है।"[1] इस उक्ति से भी पता चलता है कि मार्क्स वर्ग-सम्बन्धों को मानव-प्रकृति की पूर्ण अभिव्यक्ति मानने के पक्ष में नहीं था। उसके अनुसार मनुष्य की वर्ग-प्रकृति के अतिरिक्त एक सामान्य प्रकृति भी होती है।

वस्तुतः वर्ग-तत्त्व में मानव-तत्त्व अनुस्यूत रहता है। सच तो यह है कि अपर के बिना पूर्व की कल्पना ही नहीं हो सकती। यह वर्ग-तत्त्व हमारे मानस-नेत्र के लिए रंगीन चश्मे का काम करता है। हम जिस रंग का चश्मा लगायँगे उसी रंग का दर्शन कर सकेंगे, अन्य रंगों का नहीं। सफ़ेद वस्तु भी हरे चश्मे से हरी दिखाई देगी। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि उस अवस्था में वस्तुएँ हमें सोलहों आने अयथार्थ रूप में ही दिखाई देंगी। उनका आयाम, उनकी अवस्थिति, उनकी हमसे दूरी, उनकी बनावट आदि-आदि के सम्बन्ध में हमें उस रंगीन चश्मे से यथार्थ ज्ञान भी प्राप्त हो सकता है। इतना ही नहीं, यदि हमें उसकी वास्तविकता का पहले ही से पता हो तो हम दृश्य में से हरे रंग को कल्पना-शक्ति से छाँट करके धोखे से बच भी सकते हैं। इसी प्रकार वर्ग-व्यक्तियों को सभी पदार्थ, सभी ज्ञेय, अवास्तविक रूप में ही नहीं भासते। और जानकार व्यक्ति को—उस व्यक्ति को जो यह जानता है कि वर्गमूलक पूर्वग्रह हमारे ज्ञान को किस प्रकार विकृत कर देते हैं—वर्गमूलक पूर्वग्रहों पर बहुधा विजय भी प्राप्त हो जाती है। कार्ल मैनहाइम का यह कहना बिलकुल दुरुस्त है कि जो व्यक्ति फ्रायड के इच्छानुगामी चिन्तन (रैशनलाइज़ेशन) का रहस्य समझ लेता है वह इसके कुपरिणामों से अपने को बहुत-कुछ मुक्त कर लेता है, उसी प्रकार आत्म-पर्यवेक्षण द्वारा अपने वर्गमूलक पूर्वग्रहों का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उन पूर्वग्रहों को वशीभूत कर लेना सरल हो जाता है। आत्म-चेतना वर्ग-चेतना पर वश प्राप्त करा देती है। कहना न होगा कि यह आत्म-चेतना विचारकों, कवियों आदि बुद्धिजीवियों में विकसित होती है। अतः श्रेष्ठ लेखक वर्ग-चेतना से उतने आक्रान्त नहीं होते जितने साधारण व्यक्ति। अतः क्लासिक अथवा अनीति के साहित्य को निरा वर्ग-साहित्य कहकर नहीं उड़ाया जा सकता।

मानव-मात्र की तात्त्विक एकता का यह परिणाम है कि व्यक्ति बहुधा अपने वर्गगत स्वार्थों के विपरीत भी आचरण करते देखे जाते हैं, अनजाने ही नहीं जान-बूझकर भी। मार्क्स और एंगेल्स स्वयं बूर्ज़ुआ वर्ग में उत्पन्न हुए थे। एंगेल्स लासाल के इस वाक्य को, कि श्रमिक-वर्ग की अपेक्षा से सभी अन्य वर्ग एक प्रतिगामी समुदाय-मात्र हैं, "ऐतिहासिक दृष्टि से ग़लत" बताते हुए लिखता है, "यह वक्तव्य केवल विशिष्ट एवं अपवादात्मक हालतों में ही सत्य है: उदाहरणार्थ, कम्यून-जैसी सर्वहारा क्रान्ति में, अथवा ऐसे देश में जहाँ न केवल राज्य एवं

१. मार्क्स, 'कैपिटल' भाग १, पृष्ठ ६७१, पाद-टिप्पणी (एवरीमैन संस्करण)।

समाज बूर्जुआ वर्ग द्वारा अपने ही रूप में ढाले जा चुके हैं बल्कि जहाँ जनतांत्रिक लघु बूर्जुआ वर्ग इस ढलाई को अपने अन्तिम परिणाम तक ले जाकर पहले ही उसका (बूर्जुआ वर्ग का) अनुसरण कर चुका है।"[१] एक अन्य स्थान पर उस प्रक्रिया की ओर भी इंगित किया गया है जिसके द्वारा सर्वहारा से इतर वर्गों में भी 'साम्यवादी चेतना' का अवतरण होता है। मार्क्स और एंगेल्स लिखते हैं, "......निस्सन्देह साम्यवादी चेतना इस (सर्वहारा) वर्ग की स्थिति पर मनन करने से अन्य वर्गों में भी जाग्रत हो सकती है।"[२] इसी प्रकार, "इसलिए जिस प्रकार पिछले समय में सामन्तों का एक भाग बूर्जुआ वर्ग में मिल गया, उसी प्रकार बूर्जुआ वर्ग सर्वहारा में मिल जाता है, और विशेषतः बूर्जुआ विचारकों का एक भाग, जिसे ऐतिहासिक प्रगति को उसकी समग्रता में समझने के तल तक अपने को उठा लिया है।"[३] एंगेल्स बालज़क को प्रतिक्रियावादी वर्ग का बतलाते हुए कहता है कि वह अपनी रचनाओं में अपने ही वर्ग के विरुद्ध हो जाता है। उसके शब्द सुनिए :

"अच्छा, राजनीतिक दृष्टि से बालज़क राज-सत्ता का पक्षपाती (लुई १४ के वंश का समर्थक) था; उसकी महान् कृति श्रेष्ठ समाज के असाध्य क्षय पर एक लम्बा मर्सिया है; उसकी सहानुभूति उस वर्ग के साथ है जिसका विनाश निश्चित है। किन्तु यह सब होते हुए भी, उसका कटाक्ष सर्वाधिक तीव्र, उसका व्यंग सर्वाधिक कटु, तब हो जाता है जब वह उन्हीं स्त्रियों और पुरुषों (सामन्तों) को छेड़ता है जिनके साथ वह गहरी सहानुभूति रखता है। और केवल उसके कटुतम राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी,..........सर्वसाधारण प्रतिनिधि, ही ऐसे हैं जिनकी वह अप्रच्छन्न रूप से प्रशंसा करता है।

"मैं यथार्थवाद की एक महानतम विजय और बूढ़े बालज़क का एक महानतम गुण यह समझता हूँ कि बालज़क इस प्रकार अपनी ही वर्गगत सहानुभूति और राजनीतिक पक्षपातों के विरुद्ध जाने पर बाध्य हुआ कि उसने अपने प्रिय सामन्तों के पतन की आवश्यकता देखी और बतलाया कि वे इससे अच्छी भवितव्यता के पात्र नहीं थे; कि उसने भविष्य से सच्चे मनुष्यों को देखा..........।"[४] (ज़ोर एंगेल्स का)

"वर्ग-सम्बन्ध तत्त्वतः आर्थिक सम्बन्ध हैं, और मार्क्स के अनुसार मनुष्य केवल आर्थिक आवश्यकतानुसार या आर्थिक नियमानुसार ही उत्पादन नहीं करता प्रत्युत वह सौन्दर्य के नियमों के अनुसार भी उत्पादन करता है। यही मनुष्य की पशुओं से विशेषता है।"[५]

मार्क्स और एंगेलस की रचनाओं में यत्र-तत्र ऐसे भी इंगित मिले हैं कि वर्गों की सीमा-रेखाएँ आज जितनी स्पष्ट हैं उतनी पहले नहीं थीं। आज का युग वर्ग-भेद का चूड़ान्त निदर्शन है। शायद तभी इसका अन्त शीघ्र होने वाला है। मात्र-भेद से गुण-भेद का नियम

१. एंगेल्स द्वारा बेबेल को लिखा पत्र, मार्च १८७५।
२. मार्क्स और एंगेल्स, जर्मन आइडियॉलोजी, पृष्ठ ६६ (भारतीय संस्करण)।
३. मार्क्स और एंगेल्स, कम्युनिस्ट मैनिफ़ैस्टो।
४. एंगेल्स द्वारा मार्गरेट हार्कनेस को लिखा पत्र, अप्रैल, १८८८।
५. मार्क्स, इकॉनामिक-फ़िलॉसॉफ़िक मैनुस्क्रिप्ट।

यही बतलाता है। मार्क्स और एंगेल्स लिखते हैं :

"बूर्जुआ वर्ग जहाँ-जहाँ विजयी हुआ है वहाँ-वहाँ इसने सभी सामन्ती, पारिवारिक एवं ग्राम्य सम्बन्धों का अन्त कर दिया है। इसने मनुष्य-मनुष्य के बीच नग्न स्वार्थ, निष्ठुर नकद लेन-देन के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध-सूत्र नहीं रहने दिया है।"[1]

इसका अर्थ यह है कि पूँजीवाद के पूर्व अन्य वर्ग-समाजों में द्रव्य-सम्बन्धों एवं 'नग्न-स्वार्थ' के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध, मानवीय सम्बन्ध, पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे, अर्थात् वर्गों की प्रभविष्णुता एवं भीषणता आज की अपेक्षा पहले काफ़ी कम थी।

इसी प्रकार एंगेल्स एक अन्य स्थान पर कहता है, "अन्य मनुष्यों के साथ व्यवहार में शुद्ध मानवीय भावनाओं की सम्भावना आजकल काफी कम (समाप्त नहीं—लेखक) हो गई है.........."[2] मार्क्स और एंगेल्स ने 'होली फ़ैमिली' में इस विषय पर कुछ अधिक प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं, "सम्पत्तिशाली वर्ग और सर्वहारा उसी मानवीय आत्म-विमुखता का प्रतिनिधित्व करते हैं.......। पहले वर्ग को इस (आत्म-विमुखता) के कारण मानवीय अस्तित्व की भ्रान्ति होती है।" (ज़ोर लेखकद्वय का)। अर्थात् बूर्जुआ व्यक्तियों की मानवता शुद्ध मानवता नहीं है तथापि वे अपने को शुद्ध मानवता का प्रतिनिधि समझते हैं। पूँजीवादी समाज में "मानवीय व्यक्तित्व, मानवीय नैतिकता स्वयं एक ही साथ बाज़ार की चीज़ और वह ढाँचा, जिसमें द्रव्य काम करता है, बन जाती है।" पूँजीवाद "मनुष्य को प्रकृति से, स्वयं अपने से तथा अपने सार्वभौम तत्त्व से विमुख कर देता है" (ज़ोर मेरा)। "यह मानव-तत्त्व को अपने अस्तित्व का एक साधन-मात्र बनाकर छोड़ देता है" (ज़ोर लेखकद्वय का)। "यह उसे उसके आध्यात्मिक, उसके मानवीय सार-तत्त्व से विमुख कर देता है" और "मनुष्य को मनुष्य से विरक्त करके छोड़ता है" (ज़ोर लेखकद्वय का)। मार्क्स और एंगेल्स के अनुसार पूँजीवाद इसीलिए हेय है कि वह मानव-प्रकृति के विरुद्ध जाता और 'मानव-व्यक्ति' को 'वर्ग-व्यक्ति' के रूप में परिणत कर देता है। इन सबसे यही सिद्ध होता है कि आज इस पूँजीवादी समाज में वर्ग-सत्ता अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त कर चुकी है और वर्ग-तत्त्व के परे जो मानव-तत्त्व है उसकी रक्षा होनी चाहिए।[3]

वस्तुतः वर्ग-समाज में मनुष्य का चिरन्तन एवं मौलिक स्वरूप बहुत-कुछ तिरोभूत हो जाता है, किन्तु उसका समूल नाश नहीं हो पाता और वह विचारकों, कलाकारों एवं साहित्यकारों द्वारा जगाया जा सकता है। कला एवं साहित्य का हमारे व्यक्तित्व की जिस अन्तरतम तह से सम्बन्ध है उसे वर्ग-निष्ठा आदि ऊपरी तह की वस्तुएँ बहुत कम छू पाती हैं। रसेल के अनुसार "कला मानव-प्रकृति के अनियन्त्रणीय (वाइल्ड) पक्ष से निःसृत होती है,"[4] जिस पक्ष को आर्थिक सम्बन्धों के नियन्त्रण में लाना कठिन है। कार्ल मैनहाइम

१. कम्युनिस्ट मैनिफ़ेस्टो।
२. एंगेल्स, फ़ायरबाख़ ऐंड द एण्ड ऑफ़ क्लासिकल जर्मन फ़िलॉसफ़ी, मा० एं० से० व०, भाग २, पृष्ठ ३४४।
३. 'होली फ़ैमिली' के वाक्य जैक लिंडसे की 'मार्क्सिज़्म एण्ड कॉन्टेम्पोरेरी साइंस' नामक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ से उद्धृत किये गए हैं।
४. बर्टेंड रसेल, रोड्स टु फ्रीडम।

मार्क्स से ज़रा आगे बढ़कर बुद्धिजीवी वर्ग को अपेक्षाकृत वर्गहीन बतलाता है, जिसमें गहरी सचाई जान पड़ती है। जो कवि, कलाकार या विचारक अपनी अन्तरात्मा की गहराइयों में जितना ही डूब सकेगा वह उतना ही वर्ग-निरपेक्ष हो सकेगा। प्रश्न हो सकता है कि तब मार्क्स की कला एवं साहित्य, तथैव सभी प्रकार की विचार-परम्पराओं (आइडियॉलॉजीज़) की वर्गवादी व्याख्या का क्या होगा ? इस पर हम आगे चलकर विचार करेंगे।

यहाँ एक बात बड़े मार्के की है। वर्गों की उपलब्धियों अथवा उपार्जित संस्कृति को सर्वथा वर्ग-सापेक्ष समझकर त्याज्य मान लेना द्वन्द्ववाद के भी विरुद्ध पड़ता है। द्वन्द्व-न्याय के अनुसार स्थापना-प्रतिस्थापना-समन्वय का चक्र सर्वतोभावेन प्रतिषेधात्मक नहीं है। स्थापना प्रतिस्थापना द्वारा प्रतिषिद्ध अवश्य हो जाती है, किन्तु तृतीयावस्था में दोनों का समन्वय हो जाता है। समन्वय में दोनों के मूल तत्त्व विद्यमान रहते ही हैं। ऐसा लगता है कि स्थापना और प्रतिस्थापना यद्यपि पूर्ण सत्य नहीं तथापि वे शत-प्रतिशत असत्य अथवा असाध्य भी नहीं हैं। वे सत्य की एक निश्चित मात्रा अवश्य प्रकट करती हैं, तभी तो उनका समन्वय हो पाता है; अन्यथा तृतीयावस्था में उनका बाध या अपलाप ही हो जाय। अतः यदि मान भी लें कि अतीत का साहित्य वर्ग-सापेक्ष ही है, तब भी यह सिद्ध नहीं होता कि हमारे लिए उसका कोई महत्त्व ही नहीं। वस्तुतः उसके भी स्थायी तत्त्व आज के ही नहीं, वरन् भावी महा समन्वय—वर्ग-विहीन समाज—में अपनाने होंगे। एंगेल्स लिखता है, "अतः प्राचीन भौतिकवाद प्रत्ययवाद द्वारा प्रतिषिद्ध हुआ। परन्तु दर्शन के आगे के विकास के दौरान में, प्रत्ययवाद भी अमान्य होकर आधुनिक भौतिकवाद द्वारा प्रतिषिद्ध हो गया। यह आधुनिक भौतिकवाद, प्रतिषेध-का-प्रतिषेध, प्राचीन की पुनःस्थापना-मात्र नहीं है, बल्कि वह उस प्राचीन भौतिकवाद के स्थायी मूलाधारों की अभिवृद्धि करता है....। अतः इस प्रगति में दर्शन का 'कायाकल्प' हो जाता है, अर्थात् उसका 'उन्मूलन एवं परिरक्षण दोनों हो जाता है'; रूप की दृष्टि से उन्मूलन और विषय-वस्तु की दृष्टि से परिरक्षण"[1] (ज़ोर मेरा)। यह उद्धरण बड़े महत्त्व का है और इसे अच्छी तरह हृदयंगम किये बिना मार्क्सवाद को ठीक-ठीक समझना कठिन है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्सवाद के अनुसार अतीत का साहित्य केवल कूड़ा-कचरा नहीं है; वह आज के लिए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ऐसा लगता है कि वर्ग-सत्य भी तत्त्वतः सत्य—हाँ आंशिक सत्य—ही हैं। अन्तर केवल ज़ोर देने में होता है। एक ही सत्य भिन्न वर्गों के हाथ में पड़कर भिन्न रूप धारण कर लेता है। किन्तु उसका सार अक्षुण्ण रहता है; केवल उसका बाह्य रूप एवं उस पर ज़ोर देने की क्रिया में हेर-फेर होता रहता है। अतः प्रत्येक महान् साहित्य, दर्शन और कला-कृति के दो पक्ष होते हैं—प्रथम स्थायी और अन्य अस्थायी; प्रथम सापेक्ष और अन्य निरपेक्ष; प्रथम देश-काल-पात्रनिष्ठ और अन्य वस्तुनिष्ठ। क्लासिक की कोटि में वही कृतियाँ आती हैं जिनमें पूर्व की अपेक्षा अपर पक्ष का प्राधान्य होता है। एंगेल्स ने भी विचार-पद्धतियों के स्थायी एवं अस्थायी दो पक्ष माने हैं—"जो व्यक्ति प्रत्येक दार्शनिक पर उसके कार्य के टिकाऊ एवं प्रगतिशील भाग के आधार पर नहीं बल्कि जो अनिवार्यतः अल्पकालीन एवं प्रतिगामी होता है उसके आधार पर—(उसके) विचार-संस्थान (सिस्टम) के आधार पर—फ़ैसला देता है वह मौन ही रहे तो

१. एंगेल्स, एंटी-ड्हरिंग, पृष्ठ ११५-६।

ज़्यादा अच्छा है"[1] (ज़ोर एंगेल्स का)।

यहाँ एंगेल्स के 'टिकाऊ' शब्द पर ध्यान देना चाहिए। इससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि वर्गवाद की मैंने जो व्याख्या की है वह निराधार नहीं है। सब-कुछ वर्ग-सापेक्ष नहीं, बहुत-कुछ वर्ग-निरपेक्ष भी है। क्लासिक साहित्य में इस वर्ग-निरपेक्ष अंश का प्राधान्य होता है। एंगेल्स ने प्राचीन यूनानी दर्शन की विश्व-दृष्टि को 'आदिम, अनाड़ीपन लिये हुए' बताकर भी जो उसे 'तत्त्वतः ठीक'[2] कहा है उसकी भी संगति उपर्युक्त दृष्टि से ही लगाई जा सकती है।

यहाँ कुछ लोग एण्टी-डुहरिंग में प्रतिपादित सत्य, नीति-नियमों तथा राज-नियमों की वर्ग-सापेक्षता की दुहाई देकर यह सिद्ध करना चाहेंगे कि या तो मार्क्स और एंगेल्स की उपर्युक्त व्याख्या ही भ्रान्त है या उनके सिद्धान्त अन्तर्विरोधग्रस्त हैं। एंगेल्स कहता है, "नैतिकता सदैव वर्ग-नैतिकता रही।"[3] वह यहाँ एक मनोरंजक प्रश्न उठाता है, "परन्तु फिर भी, कोई व्यक्ति आपत्ति कर सकता है, शुभ अशुभ नहीं है और अशुभ शुभ नहीं है : यदि शुभ और अशुभ में गड़बड़-घोटाला कर दिया जाय तो सारी नैतिकता का अन्त हो जायगा और प्रत्येक व्यक्ति जो करना चाहेगा वही करेगा और जो नहीं करना चाहेगा उसे नहीं करेगा।"[4] एंगेल्स ने आगे चलकर इस प्रश्न का जो उत्तर दिया है उसे आलोचकों ने प्रायः निहायत ग़लत ढंग से समझा और समझाया है। एंगेल्स कहता है :

"किन्तु मामले को इतनी आसानी से ख़त्म नहीं किया जा सकता। यदि यह इतनी आसान बात होती तो निश्चय ही शुभ और अशुभ के सम्बन्ध में कोई झगड़ा ही न रहता; प्रत्येक व्यक्ति जानता होता कि क्या शुभ है और क्या अशुभ। पर आज वस्तुस्थिति क्या है ? एक तो ईसाई-सामन्ती नैतिकता है....। साथ-ही-साथ हमें आधुनिक बूर्ज़्आ नैतिकता देखने को मिलती है और इसके साथ भविष्य की सर्वहारा नैतिकता भी, यहाँ तक कि अभी समुन्नततम यूरोपीय देशों में ही भूत, वर्तमान और भविष्य नैतिक सिद्धान्तों के तीन ऐसे समूह प्रस्तुत करते हैं जो एक ही काल में साथ-ही-साथ प्रचलित हैं। तब सच्ची नैतिकता कौन-सी है ? निरपेक्ष सत्य के अर्थ में, इनमें से कोई नहीं; किन्तु निश्चय ही वह नैतिकता जिसमें अधिकतम टिकाऊ तत्त्व पाए जाते हैं वही है, जो वर्तमान काल में वर्तमान के ध्वंस का प्रतिनिधित्व करती है, भविष्य का प्रतिनिधित्व करती है : अर्थात् सर्वहारा (नैतिकता)।"[5]

एंगेल्स के कहने का तात्पर्य यह है कि शुभ-अशुभ-सम्बन्धी सीधी-सादी एवं मौलिक धारणाओं को कोई नहीं चुनौती दे सकता; शुभ-अशुभ की कल्पना का महत्त्व सर्वथा निर्विवाद है। किन्तु बात यहीं नहीं समाप्त हो जाती। व्यवहार की जटिलता में पड़कर ये धारणाएँ अत्यन्त जटिल हो जाती हैं; क्या शुभ है और क्या अशुभ है इसका निर्णय टेढ़ी खीर है। यहीं

१. एंगेल्स द्वारा कॉनराड स्क्मिट को लिखा पत्र, दिनांक १ जुलाई, १८९१।
२. एंगेल्स, एण्टी-डुहरिंग, पृष्ठ १८ (बनारस-संस्करण)।
३. वही, पृष्ठ ७६ (बनारस-संस्करण)।
४. वही।
५. वही।

आकर शास्त्रीय पद्धतियों, संघटित (ऑर्गनाइज़्ड) नैतिकता का जन्म होता है। जब एंगेल्स कहता है "नैतिकता सर्वदा वर्ग-नैतिकता हुआ करती है" तो उसे संघटित नैतिकता ही अभिप्रेत होती है, नैतिकता-सम्बन्धी उपर्युक्त मौलिक धारणाएँ नहीं। इस संघटित नैतिकता की विशाल अट्टालिका उन सीधे-सादे, मौलिक नीति-नियमों की भित्ति पर ही आधारित होती है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि संघटित नैतिकता के निर्माण में ये नियम बहुत-कुछ तोड़-मरोड़-कर बिगाड़ दिए जाते हैं, यहाँ तक कि कभी-कभी उनका रूप सर्वथा विलोम भी हो जाता है। हाँ, जिस नैतिकता में इस प्रकार का बिगाड़ जितना ही कम हुआ रहता है वह उतनी ही स्थायी होती है। जब एंगेल्स कहता है कि सर्वहारा-नैतिकता में स्थायी तत्त्व अन्य सारी नैतिकताओं से अधिक मात्रा में विद्यमान होते हैं, तो उसका अभिप्राय यह होता है कि उसमें बिगाड़ की आशंका बहुत कम है। अच्छा, यह बिगाड़ अन्य नैतिकताओं में आवश्यक क्यों हो जाता है? इसलिए कि उनका प्रवर्त्तन वर्ग-विशेषों के हित में हुआ होता है, मानव-मात्र के हित में नहीं। सर्वहारा-नैतिकता में शाश्वत तत्त्वों के आधिक्य का एक-मात्र कारण यह है कि वह सार्वजनीन होती है। आइए, यहाँ एक अन्तरिम प्रश्न पर विचार करते चलें। यह आपत्ति की जा सकती है कि सर्वहारा भी तो एक वर्ग ही है, पुनः उसकी नैतिकता सार्वजनीन कैसे कही जा सकती है? मार्क्स और एंगेल्स ने स्थान-स्थान पर इस बात को स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि सर्वहारा वर्ग को साधारण अर्थ में वर्ग समझना भूल है। वस्तुतः उसमें और मानवता में केवल शब्दों का भेद है। उनके अनुसार सर्वहारा वर्ग के पास "शासक-वर्ग के विरुद्ध स्थापित करने के लिए कोई विशिष्ट वर्ग-स्वार्थ नहीं होता।"[1] वह "सभी वर्गों के ध्वंस की अभिव्यक्ति है।'[2] "यह (वर्ग-) संघर्ष अब उस अवस्था को पहुँच चुका है जहाँ शोषित और उत्पीड़ित वर्ग (सर्वहारा), समस्त समाज को शोषण, उत्पीड़न और वर्ग-संघर्ष से सदा के लिए मुक्ति दिलाए बिना, अपने को उस वर्ग से मुक्त नहीं करा सकता जो उसका शोषण और उत्पीड़न करता है....।"[3] अतः उपर्युक्त आपत्ति निराधार है।

हाँ, एक बात रह गई। वर्ग-नैतिकता में भी कुछ-न-कुछ स्थायी तत्त्व निहित रहते ही हैं, तभी एंगेल्स आगे चलकर स्वीकार करता है कि वर्ग-नैतिकताओं द्वारा भी वास्तविक, मानवीय नैतिकता की उपलब्धि की दिशा में प्रगति ही हुई है। "इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि इस प्रवाह में नैतिकता में कुल मिलाकर प्रगति ही हुई है, जैसा कि मानवीय ज्ञान के अन्य सभी क्षेत्रों में हुआ है।"[4] इस वाक्य में एक और बात स्मरणीय है। एंगेल्स कहता है कि नैतिकता में ही नहीं वरन् ज्ञान-विज्ञान की सभी शाखाओं में वर्ग-सापेक्ष की ज्ञान-राशि में प्रगति हुई है। वस्तुतः मार्क्स और एंगेल्स वर्गों द्वारा उपार्जित ज्ञान-राशि को एकदम त्याज्य एवं गर्हित समझने के पक्ष में कदापि नहीं थे।

एक स्थान पर मार्क्स ने तो सरल नीति-नियमों की इतने स्पष्ट शब्दों में मान्यता प्रकट की है कि उसका अभिप्राय समझने में किसी को शंका हो ही नहीं सकती। वह कहता है कि

१. जर्मन आइडियॉलॉजी, पृष्ठ ७३ (भारतीय संस्करण)।
२. वही, पृष्ठ ६७।
३. कम्युनिस्ट मैनिफ़ेस्टो, १८८३ के जर्मन-संस्करण का एंगेल्स-लिखित आमुख।
४. एण्टी-डुहरिंग, पृष्ठ ७७।

"नैतिकता और न्याय के सरल नियमों……को, राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार के विराट् नियमों के समान, साधारण व्यक्तियों के सम्बन्धों का नियमन करना चाहिए।"[1]

इसी प्रकार दसियों उद्धरण देकर यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि मार्क्स और एंगेल्स सत्य-मात्र को नहीं अपितु अब तक के संघटित सत्यों, दर्शन-पद्धतियों, को ही वर्ग-सापेक्ष मानते हैं। वस्तुतः मार्क्स और एंगेल्स अधिक-से-अधिक और वह भी शुद्ध व्यावहारिक अर्थ में—तात्त्विक अर्थ में नहीं—परिमित सापेक्षवादी ही कहे जा सकते हैं। उनका सापेक्ष निरपेक्ष का प्रतियोगी नहीं अपितु निर्माता है: निरपेक्ष सापेक्ष में अंशतः अभिव्यक्त होता है। इस उक्ति को संध्या-भाषा समझने की आवश्यकता नहीं। लेनिन इस समस्या पर मार्क्स और एंगेल्स के विचारों का सारांश इस प्रकार देता है—

"तब मानवीय चिन्ता स्वभावतः ही निरपेक्ष सत्य प्रस्तुत करने में समर्थ है, और प्रस्तुत करती भी है, जो सत्य कि सापेक्ष सत्यों के योग से बनता है।"[2]

अनातोले फ्रांस के किसी उपन्यास में शैतान ने कहा है कि निरपेक्ष एवं पूर्ण सत्य का रंग 'सफ़ेद' है, जो सब रंगों के मिश्रण से बना है।

उपर्युक्त विचारणाओं से स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्स का वर्गवाद वर्ग-निरपेक्ष, शाश्वत अथवा स्थायी सांस्कृतिक तत्त्वों का विरोधी नहीं है। अतः ऐसा साहित्य सर्वथा सम्भव है जो युग-विशेष का न होकर युग-युग का माना जा सके।

मार्क्सवाद के अनुसार वर्गों के साथ कला तथा साहित्य का सम्बन्ध यान्त्रिक नहीं है। दोनों के बीच भारी भेद एवं विषम अनुपात भी पाया जाता है। मार्क्स ने, प्राचीन यूनानी कला एवं सामाजिक विकास के बीच जो असामंजस्य एवं असंगति पाई जाती है, उसे मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, उसे यह भी मानने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि कभी-कभी युग-विशेष की कला अन्य युगों की कला के लिए आदर्श एवं प्रतिमान का काम करती है।[3] यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि तब मार्क्स के आधार (सबस्ट्रक्चर) और प्रासाद (सुपरस्ट्रक्चर) वाले रूपक की क्या गति होगी? आधार ही प्रासाद का नियमन करता है, अतः प्रासाद-स्थानी साहित्य को बरबस आधार-स्थानी अर्थ-व्यवस्था अथवा वर्ग-सत्ता का अनुसरण करना होगा। यह धारणा ठीक नहीं। मार्क्स और एंगेल्स ने इस बात को स्थान-स्थान पर स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि प्रासाद सर्वथा निष्क्रिय नहीं होता; जब एक बार वह उत्पन्न हो जाता है तो काफ़ी हद तक स्वयं आधार का नियमन करने लगता है। आधार और प्रासाद के बीच चलने वाली इस प्रभाव-विनिमय-प्रक्रिया को आधुनिक मार्क्सवादी, कम-से-कम व्यवहार में, सर्वथा भूल चुके हैं। तथापि इसे समझे बिना मार्क्स के संस्कृति-सम्बन्धी दृष्टिकोण को ठीक-ठीक समझना नितान्त असम्भव है। अच्छा, आगे चलिए। एंगेल्स कहता है कि प्रत्येक विचार-परम्परा अपने को आर्थिक आधार से न्यूनाधिक स्वतन्त्र कर लेने में अवश्य सफल हो जाती है।

१. मार्क्स, वर्किंगमेन्स इण्टरनेशनल एसोसिएशन के उद्घाटन के अवसर पर दिया गया भाषण, मा० एं० से० व०, भाग १, पृष्ठ ३४६।
२. लेनिन, मैटीरियलिज़्म एंड एम्पिरियो-क्रिटिसिज़्म, पृष्ठ १३३।
३. मार्क्स, ए कण्ट्रिब्यूशन टु द क्रिटिक ऑफ़ पोलिटिकल इकॉनॉमी, परिशिष्ट, पृष्ठ ३०९—१२।

अपने ऐतिहासिक विकास के दौरान में वह अपनी स्वतन्त्र नियमावली भी उद्भावित कर लेती है और उससे शासित होने लगती है। विचार-परम्पराएँ आर्थिक आधार से जितनी ही अधिक दूर होंगी उतनी ही अधिक वे उससे स्वतन्त्र भी होंगी। राज्य और क़ानून, आर्थिक आधार से निकटतम और दर्शन तथा धर्म से सुदूरतम विचार-परम्पराएँ हैं।[1] श्री विजयदेवनारायण साही ने ठीक ही लिखा है कि अर्थ-व्यवस्था-जन्य धर्म से उत्पन्न होने के कारण कला तथा साहित्य अर्थ-व्यवस्था से सर्वाधिक स्वतन्त्र हैं।[2] अत: आधार एवं प्रासाद वाले रूपक द्वारा भी कला एवं साहित्य के वर्गों के साथ अयांत्रिक सम्बन्ध की पुष्टि ही होती है।

हमने ऊपर दिखलाया है कि मार्क्स के अनुसार मनुष्य सौन्दर्य के नियमों के अनुसार भी उत्पादन करता है, केवल आर्थिक नियमों के अनुसार नहीं। वह एक स्थान पर लेखक को अपनी रचना को साधन नहीं वरन् साध्य मानने की जोरदार सिफ़ारिश करते हुए लिखता है, "लेखक अपनी रचनाओं को किसी प्रकार साधन नहीं मानता। वे स्वयं साध्य हैं; वे उसके तथा अन्यों के लिए इतने कम साधन हैं कि, आवश्यकता पड़ने पर, वह अपना अस्तित्व उनके अस्तित्व पर उत्सर्ग कर देता है और धर्मोपदेशक के समान, उसका सिद्धान्त होता है : 'मनुष्यों से अधिक ईश्वर की आज्ञा मानो,' उन मनुष्यों से जिनमें वह अपनी मानवीय आवश्यकताओं एवं इच्छाओं के साथ स्वयं सम्मिलित है।"[3] (जोर मार्क्स का)। यहाँ साफ़ शब्दों में साहित्य को वर्गगत स्वार्थों से ऊपर माना गया है। वस्तुतः मार्क्स और एंगेल्स को साहित्य के समाज-शास्त्रीय प्रतिमानों के साथ-साथ कलात्मक सौन्दर्य-शास्त्रीय प्रतिमान भी मान्य हैं, जो पूर्व की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इन सौन्दर्य-शास्त्रीय प्रतिमानों को माने बिना मार्क्स की बालजक-जैसे 'प्रतिक्रियावादी' में गाढ़ी अभिरुचि, ट्राट्स्की का ब्लॉक-जैसे अबोल्शेविक कवि की कविता 'द ट्वेल्व' को 'सदा जीवित रहने वाली' बतलाना, लेनिन द्वारा पुश्किन, गेटे एवं हाइना की प्रशंसा आदि महत्त्वपूर्ण तथ्यों की व्याख्या सम्भव नहीं है। ट्राट्स्की ने सर्वहारा के सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण से प्रशिक्षण पर बड़ा जोर दिया है।[4]

वस्तुतः एक-एक कला-कृति की आर्थिक व्याख्या नहीं हो सकती। हाँ, युग-विशेष की कला एवं साहित्य की ऐसी व्याख्या एक सीमा तक अवश्य सम्भव है। मार्क्सवाद ऐतिहासिक प्रवृत्तियों की व्याख्या करने का दावा करता है, व्यक्तिगत प्रवृत्तियों की नहीं। एंगेल्स कहता है कि हम किसी विचार-परम्परा का जितना ही बड़ा क्षेत्र चुनेंगे और उसके कितने ही बड़े युग की समीक्षा करेंगे वह अपनी प्रगति से आर्थिक आधार की उतनी ही अधिक अनुवर्तिनी सिद्ध होगी।[5] अर्थात्

१. एंगेल्स के आधार-प्रासाद-सम्बन्धी आलोच्य दृष्टिकोण के लिए निम्नलिखित देखिए—फ़ायरबाख़, मा० एं० से० व०, भाग २, पृष्ठ ३५६-६०, एंगेल्स द्वारा स्मिट को लिखा पत्र, दिनांक २७ अक्तूबर, १८९० और स्टार्केनबर्ग को लिखा पत्र, दिनांक २५ जनवरी १८९४।

२. 'आलोचना', अंक ६।

३. प्रेस की स्वतन्त्रता पर वाद-विवाद, करेण्ट बुक हाउस बम्बई, द्वारा १९५२ में प्रकाशित 'लिटरेचर एण्ड आर्ट' नामक संकलन के पृष्ठ ५५ पर उद्धृत।

४. लिटरेचर एण्ड रिवोल्यूशन, पृष्ठ २६।

५. एंगेल्स द्वारा स्टार्केनबर्ग को लिखा पत्र, दिनांक २५ जनवरी, १८९४।

व्यक्ति-व्यक्ति की अथवा एक-एक कला-कृति की आर्थिक व्याख्या सम्भव नहीं है; आर्थिक व्याख्या कला के विशिष्ट युग एवं इतिहास की ही हो सकती है। यही कारण है कि मार्क्सवाद साहित्य के इतिहास की मीमांसा में जितना सफल सिद्ध हुआ है उतना उसकी आलोचना के क्षेत्र में नहीं। अतएव अतीत के साहित्य के मूल्यांकन में मार्क्सवाद किसी अन्य वाद से पीछे नहीं है।

हाँ, यहाँ एक और बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक प्रतीत होता है। हमने ऊपर दिखलाया है कि पूँजीवाद वर्गवाद का चूड़ान्त निदर्शन है; इसके पूर्व वर्गों का उतना जोर नहीं था। अतः प्राचीन लेखकों को प्रतिगामी शक्तियों के साथ होते हुए भी उत्तमोत्तम एवं युग-युग के लिए अर्थवती रचनाएँ प्रस्तुत करने में विशेष बाधा नहीं हुई। मिखायल लिफ़शित्स इस बात का आधार लेते हुए कहता है कि आज, विकसित वर्गवाद-युग के लेखक पर वर्गों का आधिपत्य पहले की अपेक्षा कहीं अधिक है; अतः ऐसा होना कठिन है कि वह, प्राचीन लेखकों के समान, प्रतिगामी शक्तियों का साथ भी देता रहे और शाश्वत, चिरन्तन दृष्टियों से ओत-प्रोत, कृति भी भेंट कर सके। उसमें पूर्वापेक्षया वर्ग-चेतना अधिक विकसित है, जिससे उसकी रचना अछूती नहीं रह सकती।[1] किन्तु इस तर्क में उतनी गहराई नहीं जितनी आपाततः जान पड़ती है। यह सत्य है कि आज वर्गवाद अपनी चरम सीमा को पहुँच गया है, जिसका प्रभाव लेखक पर पड़ना स्वाभाविक है। आज का युग वर्ग-चेतना का युग है। किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि आज वर्ग-चेतना बढ़ गई है तो इस वर्ग-चेतना की चेतना भी बढ़ती जा रही है। चेतना एक बात है और चेतना की चेतना दूसरी। वर्ग-सत्ता जिस प्रकार व्यक्तित्व को अपने साँचे में ढालती है उसका परिज्ञान प्राचीन काल में उतना नहीं था जितना आज है। और, जैसा कि हम पीछे लिख आए हैं, वर्ग-चेतना की चेतना, आत्म-चेतना द्वारा लेखक अपने को एक सीमा तक वर्ग से विच्छिन्न कर लेता है। अतः आज एक ओर यदि सामान्य मनुष्यों के बीच वर्ग-चेतना पूरे जोर के साथ फैल रही है तो दूसरी ओर चिन्तकों एवं साहित्यकारों द्वारा उसकी गति-विधि का पर्यवेक्षण भी चल रहा है, जो वर्ग-चेत्तना को हमारे नियंत्रण में लाने में सहायक सिद्ध हो रहा है। आज मनोविश्लेषण—वैयक्तिक और सामुदायिक दोनों—प्रक्रिया द्वारा हम सही मानों में आत्म-साक्षात्कार करने में सफल होते जा रहे हैं जो वर्ग-चेतना के विरुद्ध एक अत्यन्त सबल शस्त्र सिद्ध हो रहा है। अतः आज भी महान् साहित्य का निर्माण सर्वथा सम्भव है। मालूम होता है कि वर्तमान काल में अतीत के साहित्य, क्लासिक साहित्य, के टक्कर के साहित्य का प्रायः अभाव देखकर ही लिफ़शित्स ने आलोच्य धारणा बनाई थी। किन्तु महान् साहित्य की जो कमी दिखाई देती है उसका कारण कुछ और ही है, जिसके निरूपण के लिए एक स्वतन्त्र लेख की आवश्यकता है।

१. आंजेल फ़्लोर, लिटरेचर एण्ड मार्क्सिज़्म, पृष्ठ २६-२७ (इलाहाबाद-संस्करण)।

मसीहुज़्ज़मा

उर्दू-आलोचना का विकास

उर्दू भाषा जब बोली से विकसित होकर रचनात्मक साहित्य के रूप में आई तो उसमें आलोचनात्मक तत्वों का विकास भी साथ-साथ हुआ, किन्तु इसका लिखा हुआ प्रमाण हमको सत्रहवीं शताब्दी के पहले नहीं मिलता। उर्दू में आलोचना की चर्चा करने से पहले अरबी और फ़ारसी-आलोचना के नियमों पर विचार कर लेना उचित होगा। जब तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में उर्दू में छोटी-छोटी पुस्तकों और काव्य की रचना होने लगी, उस समय शासकों की भाषा फ़ारसी थी। पढ़े-लिखे और ऊँचे वर्ग के लोग फ़ारसी बोलते थे और फ़ारसी शायरी की विविध शैलियों से प्रसन्न होते थे। अतः गद्य को छोड़कर पद्य पर फ़ारसी का प्रभाव अधिक पड़ा।

फ़ारसी से बहुत पहले अरबी साहित्य ने बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया था। अरब में हर साल एक मेला लगता था जिसे अक्काज कहते थे। उसमें बड़े-बड़े कवि आकर अपनी-अपनी कविताएँ सुनाया करते थे और इन पर लोग बहस भी करते थे। सब कविताओं में जो सात सबसे अच्छी ठहरती थीं उनको लिखवाकर एक दीवार पर लटका दिया जाता था और साल-भर तक वे लटकी रहती थीं। यह रीति अरब में इस्लाम के जन्म से पहले से थी, जो बाद को भी बाकी रही। अरबी में आलोचना पर बहुत-सी पुस्तकें भी लिखी गईं; जिनमें अबुलफ़र्ज इब्ने जाफ़र क़दामा, इब्ने रशीक, सुआलबी, अब्दुल कादिर जरजानी, इब्ने खलदून की लिखी हुई बहुत मशहूर हैं। इन लोगों की दृष्टि में बहादुरी और जोश पैदा करने वाले शैर अच्छे होते हैं, मगर ये लोग विषय से अधिक शब्दों पर जोर देते हैं। और शैर में form को matter से ज़्यादा जरूरी समझते हैं। इब्ने खलदून ने शैर को पानी के गिलास की उपमा दी है। पानी अगर सोने, चाँदी या शीशे के गिलास में है तो वह भला मालूम होगा और मिट्टी के कुल्हड़ में इसकी शान घट जायगी। इसी तरह जो बात सुन्दर शब्दों में व्यक्त की जाती है वह भली लगती है और भोंडे शब्द शैर को बिगाड़ देते हैं।

इब्ने खलदून का जो खयाल ऊपर बयान हुआ है वही लगभग अरबी और फ़ारसी के तमाम आलोचकों का है। वह शैर के लिबास को बहुत महत्त्व देते हैं। Matter को यह लोग दूसरा दर्जा देते हैं। इसी कारण अरबी और फारसी में जो आलोचना की किताबें बाद को लिखी गईं उनमें rhetorics, क़ाफ़िया, रदीफ़ और पिंगल पर जोर देने के साथ-साथ मुहाविरों के ठीक प्रयोग की चर्चा अधिक होती है।

उर्दू में कोई आलोचनात्मक लेख सत्रहवीं शताब्दी से पहले नहीं मिलता। जहाँ तक हमें पता चल सका है सबसे पहले वजही ने अपनी मसनवी क़ुतुब-मुश्तरी में यह बताया है कि शैर को कैसा होना चाहिए। अच्छा शैर किसको कहेंगे और बुरा किसको? उनके विचार में

शब्द और अर्थ में इतना गहरा सम्बन्ध होना चाहिए कि एक की आत्मा दूसरे में आ जाय। ऊँचे लेख के लिए बात ऊँची होने के साथ उसमें असर पैदा करने के लिए सुन्दर शब्द भी होनी चाहिएँ।

वजही के बाद उत्तरी भारत के फाएज और दक्षिण के बाकर आगाह (१७७०) ने भी आलोचनात्मक लेख लिखे हैं। उनमें कविता के नित्य नये रूपों एवं नियमों का वर्णन किया गया है। किन्तु यह लेख अलग से आलोचना के नियमों पर नहीं लिखे गए बल्कि अपने दीवान या संग्रह की भूमिका में हैं। इन लेखों से यह पता चलता है कि उर्दू काव्य के भिन्न-भिन्न रूपों—जैसे ग़ज़ल, कसीदा, दोहरा कवित्त, मसनवी आदि—के नियम निश्चित थे और कवि उन्हीं नियमों का प्रतिबन्ध मानते थे।

उर्दू की आलोचना को पूरी तरह से जानने के लिए आवश्यक है कि हम लेखों के अतिरिक्त उस परम्परा को भी समझ लें जो उर्दू की कविता और आलोचना की उन्नति में भाग ले रही थी। यह परम्परा उस्ताद-शागिर्द और मुशायरों की परम्परा है।

मुशायरों और उस्ताद-शागिर्द की परम्परा ने उर्दू-कविता पर गहरा प्रभाव डाला है। ऐसे समय में, जब प्रेस नहीं थे, रिसाले और किताबें नहीं छपती थीं, साहित्य-प्रसार के साधनों का अभाव था, मुशायरे ही वह माध्यम थे जिनसे शायर एक-दूसरे की वाणी से परिचित होते थे। जब सुनने वाला किसी शैर पर 'वाह-वाह' या 'बहुत खूब' कहता है तो यह सिर्फ बनावट नहीं होती बल्कि सुनने वाले के मस्तिष्क में शैर का कोई स्तर और उसकी कोई परख अवश्य रहती है। और जब वह प्रशंसा करता है तो यह स्पष्ट होता है कि जो शैर पढ़ा गया है वह उसकी कसौटी पर खरा उतरा है। आज 'वाह-वाह' और 'सुभान-अल्लाह' का कोई महत्त्व चाहे न रह गया हो लेकिन हमें यह बात अच्छी तरह मालूम है कि पहले जमाने में मुशायरे के हर शैर की प्रशंसा नहीं की जाती थी। यहाँ पर उर्दू के महाकवि मीर तक़ी 'मीर' की एक घटना याद आती है। वह मुरव्वत या मित्रता में किसी की प्रशंसा नहीं करते थे, बल्कि इस मामले में बड़े सख्त थे। मशहूर है कि ग़ालिब लड़के ही थे कि उन्होंने अपनी ग़ज़ल मुशायरे में पढ़ी और उसे सुनकर 'मीर' ने कहा कि इस लड़के को अगर कोई ठीक बताने वाला मिल गया तो यह मशहूर कवियों में जगह लेगा, वरना बहक जायगा।

मुशायरों में केवल तारीफ़ ही नहीं की जाती थी बल्कि आपत्तियाँ भी होती थीं और लोगों का जरा-सी चूक हो जाने पर बहुत अपमान किया जाता था। ऐसी आपत्तियों की बहुत-सी घटनाएँ किताबों में मिलती हैं। ये आपत्तियाँ और शैरों पर टीका-टिप्पणियाँ उस समय की आलोचना के नमूने हैं। ये आपत्तियाँ अधिकतर निम्न लिखित रूप की होती थीं—

(१) क़ाफ़िया, रदीफ़ अथवा वज़न में कवि ने कोई चूक की।

(२) शब्द या मुहाविरे का उचित प्रयोग नहीं हुआ।

(३) शैर का मतलब साफ़ नहीं है अर्थात् शैर सन्दिग्ध है।

(४) शैर में ऐसी बात बयान की गई है जो परम्परा या अनुभव के विपरीत है।

मुशायरों से मिली हुई उस्तादी-शागिर्दी की परम्परा थी। यह परम्परा भी फ़ारसी की थी। जब कोई शैर कहना शुरू करता था तो किसी उस्ताद के पास जाता था और वह उसको शैर के नियम बतलाता था, उसकी त्रुटियों को ठीक करता था और शैर में काट-छाँट करता था।

इसको 'इसलाह लेना' कहते थे। शागिर्द की ग़ज़ल पर यदि कोई एतराज़ होता तो उसका उत्तर देना भी उस्ताद ही का काम होता था। इस तरह के मुशायरों के स्कूल भी बन गए थे जिनकी विशेषताएँ अलग-अलग होती थीं।

भूमिकाओं के अतिरिक्त उर्दू में नियमित आलोचना तज़किरों में मिलती है, जिनमें शायरों की चर्चा वर्ण-क्रम से होती है और शायर के जीवन तथा शायर-सम्बन्धी कुछ वक्तव्य दिये जाते हैं। इसके बाद कवि के कुछ शैर दे दिये जाते हैं। भिन्न-भिन्न तज़किरों में कथाएँ और आलोचना, शायरों के बारे में, अलग-अलग हैं—किसी में कम, किसी में अधिक। आलोचना भी इनमें लिखने वाले के स्वभाव के अनुसार रंग-रंग की है। ऐसे तज़किरे तो बहुत हैं, लेकिन इनमें सबसे पहला मशहूर तज़किरा प्रसिद्ध उर्दू-कवि मीर तक़ी 'मीर' का 'निकातुश-शुअरा' है जिसके देखने से यह जान पड़ता है कि 'मीर' अच्छे कवि होने के साथ-साथ अच्छे आलोचक भी थे। अठारहवीं शताब्दी में इनके बाद के जो तज़किरे उर्दू में विशिष्ट स्थान रखते हैं वे हैं क़ुदरतुल्लाह 'क़ासिम' का 'मजमूअए-नग़ज़', 'क़ायम' का लिखा हुआ 'मख़ज़ने-निकात', मीर हसन का 'तज़किरए-शोअराये-उर्दू', 'मुसहफ़ी' का 'तज़किरए-हिन्दी' और अली इबराहीम ख़लील का 'गुलज़ारे ख़लील।'

इन तज़किरों में आलोचना बहुत संक्षिप्त है और अधिकतर यह होता है कि तज़किरा लिखने वाला कवि के विषय में अपने विचार लिख देता है। यह राय आम तौर पर बे-लाग होती है, विशेषकर 'मीर' तो बहुत साफ़-साफ़ बे-धड़क कह देते थे और चाहे शायर के व्यक्तित्व के बारे में हो या उसके शैर के बारे में, आलोचना करने में कभी लगी-लिपटी नहीं रखते थे। जिनसे मित्रता होती थी उनकी बुराइयाँ करने से नहीं हिचकते थे और जिनसे विरोध होता उनकी अच्छाइयाँ बयान करना नहीं भूलते थे। यह बात 'मीर' को बहुत बड़ा बना देती है। दूसरे तज़किरा लिखने वाले साफ़ बात बे-धड़क कहने में 'मीर' तक तो नहीं पहुँचते लेकिन उनमें भी जँची-तुली रायें मिलती हैं।

इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं उर्दू-शायरी की फ़ारसी-शायरी से तुलना भी कर देते हैं और कुछ शैरों में अपनी इसलाह भी प्रस्तुत कर देते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में ग़दर से पहले तक जो तज़किरे लिखे गए उनमें प्रसिद्ध ये हैं—मिर्ज़ा अला लुत्फ़ का 'गुलशने-हिन्द', शेफ़्ता का 'गुलशने-बे-ख़ार' और करीमुद्दीन का 'तबक़ाते-शोअरा'। घटनाएँ एवं चरित इनमें अधिक विस्तार से दिये हुए हैं, लेकिन आलोचनात्मक दृष्टि से उनमें और इनमें अधिक अन्तर नहीं है।

आधुनिक युग के स्वतन्त्रता-संग्राम ने हिन्दुस्तान के रहने वालों में बड़ा परिवर्तन पैदा कर दिया। कहने को तो दिल्ली के बादशाह बस नाम ही के बादशाह रह गए थे। अंग्रेजों का हुक्म हर जगह चलता था, लेकिन बहादुरशाह के क़ैद होकर रंगून चले जाने से हिन्दुस्तानियों को बड़ा मानसिक आघात लगा और वह अपने को ग़ुलाम महसूस करने लगे। इसके बाद से अंग्रेजी प्रभाव से जीवन के मूल्य बदलने लगे और कुछ ही वर्षों में समाज का ढाँचा ही बदल गया। एक नया मध्य-वर्ग पैदा हो गया, जिसकी समस्याएँ दूसरी थीं और जो अंग्रेजों से मित्रता करने और उनसे प्रभाव ग्रहण करने को विवश था। लोग अंग्रेजी पढ़ने लगे, अंग्रेजी सभ्यता से असर लेने लगे। अंग्रेजी के रास्ते नये-नये विचार साहित्य में आने लगे और उर्दू-साहित्य

की दूसरी धाराओं की तरह आलोचना ने भी फ़ारसी से अपना मुँह मोड़कर अंग्रेजी की तरफ़ कर लिया और एक ठहरे हुए सामाजिक संगठन ने आलोचना में ऊपरी सुन्दरता को जो विशेषता दे रखी थी वह समाप्त होनी शुरू हुई। साहित्य के अर्थपूर्ण भाग पर ज्यादा जोर दिया जाने लगा। लोग साहित्य को नैसर्गिक अथवा आध्यात्मिक वस्तु समझने के बजाय उसे समाज की पैदावार समझने लगे, जिसमें समय की माँगों का ध्यान रखा जाय और ऐसी चीजें लिखी जाएँ जिनसे राष्ट्रीय जीवन का उत्थान हो। साहित्य केवल मनोरंजन का आधार नहीं, बल्कि इसका उद्देश्य समाज का सुधार है। इन विचारों को उर्दू में फैलाने का श्रेय जिन दो व्यक्तियों को है, वे हैं 'आज़ाद' और 'हाली'।

मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' ने सबसे पहले इसकी ओर ध्यान दिया और 'आबे हयात' लिखकर उन्होंने नई आलोचना की नींव डाली। वैसे तो करीमुद्दीन के 'तबक़ाते-शोरा' (१८४८) में भी उर्दू-भाषा के इतिहास पर लिखा गया है लेकिन 'आबे-हयात' को उर्दू-काव्य का पहला इतिहास भी कहा जा सकता है। इसके आरम्भ में उर्दू-भाषा के उद्भव का वर्णन है और ब्रज-भाषा का उर्दू पर प्रभाव भी दिखाया गया है। फिर उत्तरी भारत के उर्दू-काव्य के अलग-अलग युग बनाकर उनकी अलग-अलग विशेषताएँ तथा उनके कवियों का हाल लिखा है और उनकी शायरी पर आलोचना लिखी है। इसमें ज़बान की सफ़ाई पर अधिक जोर दिया गया है, लेकिन अर्थ को टाला नहीं गया है। जगह-जगह शायरी और समाज में जो सम्बन्ध होता है उसको स्पष्ट किया है, और यह बताया है कि कवि पर अपने वातावरण का क्या प्रभाव पड़ा है। आलोचना के सम्बन्ध में 'आबे-हयात' के अलावा आज़ाद के कुछ व्याख्यान भी हैं, जो उन्होंने १८६८ और १८७४ में दिये थे।

'हाली' ने १८६३ में अपने संग्रह की बहुत लम्बी भूमिका लिखी थी, जिसका शीर्षक 'शैरो-शायरी' है। इसको अब इतनी विशेषता प्राप्त हो चुकी है कि इसे अलग किताब समझा जाता है। इस भूमिका के दो भाग हैं। पहले में 'हाली' ने शायरी के नियमों पर बहस की है और 'शायरी पर सोसाइटी का असर', 'शायरी और समाज', 'अच्छा शैर किसे कहते हैं', 'शैर के लिए क़ाफ़िया जरूरी है या नहीं', 'नज़मो-नस्र का फ़र्क़', 'शैर का मक़सद' आदि-आदि शीर्षक बनाकर उन पर अपनी राय लिखी है और अरबी, फ़ारसी, अंग्रेज़ी और यूनानी कवियों के कुछ उदाहरण भी दिये हैं। दूसरे भाग में उन्होंने उर्दू-ग़ज़ल, क़सीदा, मसनवी तथा मरसिये पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली है और यह दिखाया है कि उर्दू-शायरी पुरानी लकीर पर आँखें बन्द किये आगे बढ़ती जा रही है तथा इससे अनजान है कि समय के बदले हुए रंग के कारण शायरी को भी अपना रूप बदल देना चाहिए और विलास के राग गाने के बजाय समाज को उभारने का काम सँभालना चाहिए।

'हाली' का उद्देश्य इस लेख से यह था कि उर्दू-ग़ज़ल अपनी पुरानी डगर को छोड़कर नये रास्ते पर आ लगे। इसलिए उन्होंने इसकी केवल बुराइयाँ-ही-बुराइयाँ बयान की हैं और लोगों को उसे छोड़ देने को कहा है। उस दृष्टि से तो उनकी किताब ठीक है, लेकिन जहाँ तक शायरी की आलोचना का प्रश्न है, किताब का दूसरा भाग एक-पक्षीय होकर रह गया है। इस कमी को बाद में लखनऊ-विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर सय्यद मसूद हसन रिज़वी ने अपनी किताब 'हमारी शायरी' (१६२८) में पूरा किया; जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

शिबली भी 'हाली' और 'आज़ाद' के सहयोगी हैं, किन्तु आलोचना की ओर उन्होंने बीसवीं शताब्दी से पहले ध्यान नहीं दिया। उन्होंने फ़ारसी-साहित्य का इतिहास 'शैरुल-अजम' लिखा है, जिसमें शायरी पर साधारण बहस भी की है। इसके अलावा एक किताब में उन्होंने 'अनीस' और 'दबीर' की तुलना भी की है। शिबली ने 'हाली' और 'आज़ाद' के विचारों को ज़रा ज़्यादा स्पष्ट करके बयान किया है; लेकिन उनमें एक बड़ी कमज़ोरी यह है कि जब वह नियमों की स्थापना करके आलोचना लिखते हैं तो उन नियमों को भूल जाते हैं। 'मुवाज़नए-अनीस-व-दबीर' में उन्होंने दोनों शायरों की अच्छाइयाँ और बुराइयाँ सामने रखकर उनकी तुलना करने के बजाय पक्षपात से काम लिया है।

उसी काल में पटना के इमदाद इमाम 'असर' ने दो भागों में एक किताब 'काशिफ़ुल हक़ायक़' लिखी। पहले भाग में संस्कृत, यूनानी, अरबी आदि के काव्य का संक्षिप्त वर्णन किया है और दूसरे भाग में उर्दू-साहित्य का विवेचन है तथा उसके काव्य के भिन्न-भिन्न भेदों पर विचार प्रकट किया है। वह हर राष्ट्र और देश के लिए शायरी को आवश्यक समझते हैं। इससे आत्मा को सच्ची प्रसन्नता प्राप्त होती है और साथ-साथ इसको लोगों की आदतें सुधारने में भी भाग लेना चाहिए। वह इस बात पर दुखी होते हैं कि उर्दू-शायरी अधिकतर फ़ारसी की डगर पर चली है। उनके विचार में इसे संस्कृत-काव्य का रंग पकड़ना चाहिए था, इस कारण से कि राष्ट्रीय विशेषताएँ उसमें अधिक थीं।

अनुशीलन (research) और आलोचना (criticism) दो अलग-अलग चीज़ें हैं; लेकिन दोनों का सम्बन्ध ऐसा है जैसे चोली-दामन का साथ। एक को दूसरे का सहारा लेना पड़ता है। उर्दू-साहित्य में तज़किरों के समय से अनुशीलन की एक परम्परा मिलती है, लेकिन ग़दर से पहले इसका आग्रह मुहाविरों और भाषा पर रहा। ग़दर के बाद उन्नीसवीं शताब्दी में 'आज़ाद' के सिवा और किसी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। हाँ, बीसवीं शताब्दी के शुरू ही से अंग्रेज़ी प्रभाव से ऐसे लोग पैदा हो गए जिन्होंने दूसरे साहित्यिक कार्यों के साथ साहित्यिक खोज की ओर भी ध्यान दिया। इन लोगों के परिश्रम से बहुत-सी नई बातें ज्ञात हुईं तथा ऐसी किताबों का परिचय मिला जिनके विषय में लोग नहीं जानते थे और उर्दू साहित्य का इतिहास बहुत आगे बढ़ गया।

डॉक्टर अब्दुल हक़ की कोई अलग किताब नहीं है। वह हैदराबाद में उर्दू के प्रोफ़ेसर थे। अञ्जुमने-तरक़्क़ी-ए-उर्दू के मन्त्री होकर वह इस काम से अलग हो गए और अपना सारा समय अञ्जुमने-तरक़्क़ी-ए-उर्दू को देने लगे। उन्होंने बहुत सी पुरानी किताबों को अञ्जुमन की ओर से छापा है और उन पर भूमिकाएँ भी लिखी हैं। यही उनकी आलोचना की पूँजी है। अब्दुल हक़ वर्तमान के मानने वाले हैं और वर्तमान से हाली से अधिक परिचित हैं, इसीलिए उनकी आलोचना में सन्तुलन हाली से अधिक मिलता है। वह इसको अनुचित समझते हैं कि पश्चिम की कसौटी पर पूर्व के साहित्य को जाँचा जाय। हर साहित्य का एक अलग स्वभाव होता है जो उसकी परम्परा के साथ जुड़ा होता है।

पंडित ब्रजमोहन दत्तात्रेय 'कैफ़ी' की दो किताबें 'मंशूरात' और 'कैफ़िया' हैं, जो उर्दू-साहित्य के कुछ भागों पर प्रकाश डालती हैं। इसके अतिरिक्त उनके लेख भी हैं। उनका यह विचार कि अंग्रेज़ी पढ़ने वाले उर्दू-साहित्य को अंग्रेज़ी नियमों पर जाँचते हैं, ग़लत है।

वह नियम अच्छे अवश्य हैं मगर तमाम-के-तमाम को उर्दू पर लागू कर देना अनुचित है। साहित्य एवं काव्य पंडित 'कैफ़ी' के विचार में कलात्मक उत्कृष्टताओं का संग्रह-मात्र नहीं है, बल्कि इसमें जीवन का अनुवाद भी होना चाहिए। ओरिएण्टल कॉलिज लाहौर के प्रोफेसर महमूद शीरानी की विशेष रुचि अनुशीलन की ओर है। उन्होंने 'पृथ्वीराज रासो', 'खालिक बारी, और 'फिरदौसी' पर बहुत समय लगाकर महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। उनकी पुस्तक 'पंजाब में उर्दू' भी अनुशीलन का अच्छा उदाहरण है, लेकिन आलोचना का पहलू इन सबमें बहुत कमजोर है।

लखनऊ-यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर सैयद मसूद हसन रिजवी ने अपने जीवन का अधिकतर समय पुराने साहित्य के अध्ययन में बिताया है और लगभग एक दर्जन पुस्तकों को सम्पादित करके प्रकाशित किया है। इसके अतिरिक्त उनकी किताब 'हमारी शायरी' उर्दू शायरी के उन अंगों की व्याख्या करती है जिनकी तरफ 'हाली' ने ध्यान नहीं दिया था। 'हमारी शायरी' के भी दो भाग हैं—एक में शायरी पर साधारण बहस है और उसकी विशेषताएँ बयान की गई हैं, दूसरे में उर्दू की शायरी के कुछ अच्छे पहलुओं का वर्णन किया गया है। शायरी में मसूद साहब भावों (जज़बात) को अधिक महत्त्व देते हैं और उनके विचार में यही भाव जब शब्दों का रूप धारण कर लेते हैं तो शैर कहलाते हैं। वह शायरी का उद्देश्य किसी विचार-धारा का प्रचार नहीं समझते। इनके विचार में यदि एक कविता पढ़कर किसी को आनन्द मिल जाय और उसकी आत्मा जाग उठे तो वही उसका उद्देश्य है। उन्होंने बहुत-सी ऐसी बातों की खोज की जिनसे लोग परिचित नहीं थे और उन पर लेख लिखकर उर्दू-साहित्य के इतिहास को अधिक उन्नति दी। इसके अतिरिक्त उनका आलोचना लिखने का ढंग पूर्वीय और पाश्चात्य नियमों का अच्छा सन्तुलन प्रस्तुत करता है।

प्रभाववादी आलोचना का उदाहरण 'नियाज़' फतेहपुरी हैं। उन्होंने १९२२ से एक रिसाला 'निगार' भोपाल से निकालना शुरू किया, जिसे बाद को लखनऊ ले आए तथा अब वहीं से निकालते हैं, और अधिकतर उसीमें लिखते भी हैं। शायरी के विषय में उनके विचार स्पिनगार्न (Spingarn) से मिलते हैं। उनका कथन है : "मिस्टर स्पिनगार्न लिखता है कि नज़्म न अख़लाक़ी होती है न ग़ैर-अख़लाकी, बल्कि वह सिर्फ आर्ट का एक नमूना होती है।" यानी वह शायरी की सामाजिक विशेषता के कायल नहीं हैं तथा उसको केवल सौन्दर्यात्मक वस्तु समझते हैं और अपनी पसन्द को आलोचना की कसौटी समझते हैं।

'कला कला के लिए' के मानने वालों में 'नियाज़' फतेहपुरी हैं और उनकी आलोचना में अधिकतर यही रंग मिलता है।

आगरा-कालिज के भूतपूर्व प्रोफेसर हामिद हसन क़ादिरी पुरानी परम्परा के समर्थक अधिक हैं। उनके विचार से साहित्य में नये अनुभव अधिकतर अच्छे नहीं। वह उस साहित्य को भी अच्छी दृष्टि से नहीं देखते जो साहित्य के लिए ही हो। उनकी राय में साहित्य में सुन्दरता (Asthetics) का महान् स्थान है और शायर का कमाल यही है कि वह ऐसे ठीक और उचित शब्द अपनी कविता में लाए कि उसकी कविता सुन्दर हो। शायर क्या बात कहता है इसका महत्त्व उनके निकट अधिक नहीं।

मौलाना सुलेमान नदवी और अब्दुल माजिद दरियाबादी भी उर्दू-साहित्य के अनुशीलन

और आलोचना में रुचि रखते हैं। इन लोगों पर धार्मिक साहित्य का अधिक प्रभाव है और उर्दू में ज़्यादा काम इनका धर्म-शास्त्र ही से सम्बन्धित है।

इन लिखने वालों के साथ-साथ आलोचकों का एक ऐसा वर्ग था जो पश्चिम से प्रत्यक्ष प्रभाव ग्रहण कर रहा था। इन लोगों ने अफ़लातून से लेकर बाद तक के पाश्चात्य आलोचकों के सिद्धान्तों का उर्दू में अनुवाद किया और साथ ही कुछ अपने विचार भी प्रकट किये। फिर उन भावों से प्रभाव लेकर इन्होंने जो आलोचना लिखी उसका रंग उन लेखकों से भिन्न है जिनके सम्बन्ध में हम ऊपर लिख चुके हैं।

हैदराबाद के डॉक्टर महीउद्दीन 'ज़ोर' ने आठ-दस किताबें प्रस्तुत की हैं, जिनमें हमारे विचार से 'रूहे तनक़ीद' सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसमें उन्होंने जो अध्याय बनाये हैं उनसे इस पुस्तक का अनुमान हो जायगा। वह हैं आलोचना की विशेषता, उसका उद्देश्य, आलोचना की परिभाषा, उसकी आवश्यकता, साहित्य से उसका सम्बन्ध, उसका जन्म आदि। इसके बाद पाश्चात्य साहित्य में अरस्तू से लेकर मैथ्यू आर्नल्ड तक के आलोचनात्मक विचारों की विवेचना की गई है।

डॉक्टर 'ज़ोर' ने लिखा है कि आलोचना को लोग हर ज़रा-सी बेतुकी बात की पकड़ और बुराई खोजना समझते हैं, जो ग़लत है। यह उस कला का नाम है जिसमें खरे और खोटे को परखा जाता है और किसी चीज़ की अच्छाइयाँ तथा बुराइयाँ दोनों का विवेचन करके उसका ठीक स्थान बताया जाता है। उन्होंने आलोचना की इस बहस में अनातोले फ्रान्स, स्विनबर्न, वाल्टर राली, सांत-बाफ़ आदि के विचार बयान किये हैं। डॉक्टर 'ज़ोर' के अपने विचार तो कम ही हैं; उन्होंने अंग्रेज़ी की किताबों को सामने रखकर उनके बयानों को अपने शब्दों में दोहरा दिया है। 'रूहे तनक़ीद' में बहुत से पाश्चात्य समीक्षकों के विचारों का वर्णन किया गया है और इसके कारण यह किताब कुछ उलझ-सी गई है। इसमें गहराई, चिन्तन और उपज की कमी है।

डॉक्टर 'ज़ोर' ने 'रूहे तनक़ीद' १९२७ में लिखी थी। इसके बाद उन्होंने अपनी और किताबें भी प्रकाशित कीं, जिनमें इन्हीं नियमों को सामने रखकर उर्दू की कुछ किताबों पर आलोचना लिखी गई है। इन किताबों की आलोचना नियमों के प्रतिबन्ध के कारण यान्त्रिक होकर रह गई है।

डॉक्टर 'ज़ोर' के बाद हामिदुल्लाह 'अफ़सर' ने भी 'नक़्दुल-अदब' के नाम से समीक्षात्मक नियमों पर एक पुस्तक लिखी। इस किताब के आरम्भ में बड़े लम्बे-लम्बे विवाद किये गए हैं, लेकिन वास्तव में इसका अधिकतर भाग हडसन के 'Introduction to the Study of Literature' और वर्स फोल्ड के 'Judgement in Literature' के भिन्न-भिन्न भागों का अनुवाद या सारांश है।

हैदराबाद के प्रोफ़ेसर अब्दुल क़ादिर 'सरवरी' के लेखों में भी पाश्चात्य प्रभाव पाया जाता है। उन्होंने अलग से आलोचना पर तो कोई किताब नहीं लिखी लेकिन उनकी पुस्तक 'जदीद उर्दू शायरी' (१९२८) के आरम्भ में विशेषतः समीक्षा के सिद्धान्तों की विवेचना है। इसके अतिरिक्त भी उनकी तीन किताबों में उनके भाव मिलते हैं। इन विचारों में पश्चिम का प्रभाव अधिक मिलता है। उन्होंने उर्दू में कथा-साहित्य से सम्बन्धित आलोचना प्रस्तुत की और इसी क्रम में यूरोप के आलोचकों के विचार प्रस्तुत किये; नहीं तो और लोग तो अब तक केवल कविता

ही की चर्चा करते थे।

उर्दू-साहित्य का इतिहास लिखने वालों का भी एक दल है। इसमें कुछ तो पुराने लोग हैं, जिन्होंने 'आबे-हयात' को सामने रखकर केवल उसकी नकल उतारी है। ऐसे लोगों में 'गुले राना' के लेखक अब्दुल हई, 'सैरुल मुसन्निफ़ीन' के लेखक मुहम्मद यहया और 'शैरुल-हिन्द' के लेखक अब्दुस्सलाम हैं। अब्दुल हई का आलोचना से कोई सम्बन्ध नहीं। हाँ, अब्दुस्सलाम पुराने ढंग से आलोचना करते हैं और कवियों के अच्छे-बुरे दोनों पहलू दिखाते हैं। इन लोगों से अलग रामबाबू सक्सेना, एजाज हुसैन, नसीरुद्दीन हाशिमी, आग़ा मुहम्मद-बाकर, सय्यद मुहम्मद आदि हैं, जिन्होंने या तो पूरे साहित्य का या किसी विशेष काल का इतिहास लिखा है और इसमें नये तथा पुराने नियमों को मिला दिया है। ये लोग एक-एक युग को लेकर उस समय के कवियों का हाल तथा उन पर आलोचना लिखते हैं और उसमें उन कवियों अथवा लेखकों की विशेषताएँ बयान करते हैं जिनसे उनके पद का अनुमान हो जाता है। मगर उर्दू-साहित्य के आधे दर्जन इतिहास होते हुए भी यह अंग्रेजी की पुस्तकों से घटिया हैं और इस क्षेत्र में अभी उन्नति की अधिक आवश्यकता है।



प्रस्तुत प्रश्न

गिरिजाकुमार माथुर

नई कविता का भविष्य

: १ :

आज हिन्दी की नई कविता उस स्थिति में पहुँच चुकी है जब हमें पिछले चौदह-पन्द्रह वर्षों के उसके विकास और तीव्र आवर्तनों का बारीकी से विश्लेषण और मूल्यांकन करना होगा। हमें देखना होगा कि जिन तत्त्वों को लेकर तेजी से परिवर्तन हुए हैं उनका साहित्यिक और सांस्कृतिक महत्त्व कितना है, हिन्दी-काव्य के विकास में वे सहायक हुए अथवा बाधक, उनके द्वारा नई कविता उस विकास की ऐतिहासिक कड़ी बन सकी या नहीं, इन तत्त्वों में से कौन-से तत्त्व जीवित रह सकेंगे और भविष्य की कविता के बीज साबित होंगे अथवा पिछले पन्द्रह वर्षों की कविता का संक्रान्तिकालीन साहित्य से अधिक कुछ महत्त्व नहीं होगा तथा आगे चलकर वह इतिहास और शोध की सामग्री-मात्र बनकर रह जायगी। सारांश यह कि सन् सैंतीस से जो प्रयोग शुरू हुए और सन् तैंतालीस-चवालीस से आज तक आकर जिनका रूप स्थिर हुआ उनमें भविष्य की कविता का कोई पूर्वाभास भी है या वह तत्कालीन परिस्थिति-जन्य काव्य की एक विशेषावस्था थी जो अधिक दिन नहीं टिक सकी और जैसे आई थी वैसे ही खत्म हो गई। इन सभी मौलिक प्रश्नों पर विचार करना आज आवश्यक है जिससे एक ओर हम नई कविता को अधिक वैज्ञानिक दृष्टि से देखें और दूसरी ओर उन चीजों पर नजर जमा सकें जिनमें भविष्य की सम्भावनाएँ हैं और जिनके संरक्षण तथा अंगीकरण से हम आगे का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं।

पिछले पन्द्रह वर्षों में किस तरह की कविता हमारे सामने आई है और उसके मूल में कौन-से विशेष कारण रहे हैं, पहले हम इस पर विचार करेंगे। छायावादोत्तर-काल में हिन्दी-कविता में जितनी उथल-पुथल हुई और जिन विविध रीतियों से वह झकझोरी गई उतना आलोडन पहले किसी काल में नहीं हुआ। आरम्भ के अकेले वैयक्तिक प्रयत्नों से लेकर बड़े व्यापक ढंग के सामूहिक प्रयत्न इस काल में हुए। समर्थकों और विरोधियों ने इन नये प्रयत्नों को विभिन्न, विचित्र और तरह-तरह के फैन्सी नाम दिये। हर नये प्रयत्न और प्रयोग को किसी-न-किसी 'वाद' में फिट कर दिया गया। हृदयवाद, अभिव्यञ्जनावाद, भोगवाद, यौनवाद, वस्तुवाद, संकेतवाद, प्रतिक्रियावाद, प्रगतिवाद, अभिनववाद, प्रतीकवाद, प्रयोगवाद, रूपवाद, प्रपद्यवाद

आदि-आदि दर्जनों वादों का हिन्दी में तूफान उठ खड़ा हुआ। हिन्दी के लेखक और आलोचक दोनों ही समान रूप से इसके लिए उत्तरदायी रहे। इतने सभी 'वाद' हिन्दी में अचानक कहीं ऊपर से आ टपके और यह सभी 'स्कूल' ऐतिहासिक परम्परा में अपनी स्थायी जगह बना सके, यह सोचना भूल है। सारे 'वादों' के बवंडर में केवल एक बात स्पष्ट रही कि इन वर्षों में हिन्दी-कविता को विविध तरीकों से बदलने का अथक प्रयत्न किया गया है। ये 'वाद' असलियत में और कुछ नहीं हैं बल्कि जितने नये विषयों को जितने नये तरीकों से लिखा गया और काव्य के विविध पक्षों पर जितने प्रयोग किये गए सबको एक-न-एक नये वाद की संज्ञा दे दी गई। हरेक नई चीज़ को हिन्दी में 'वाद' कह देने का चलन-सा हो चुका है, 'छायावाद' के नाम से लेकर आज तक के वादों में यही मनोवृत्ति काम करती रही है। फिर इधर का जमाना तो और भी नारों तथा इश्तहारों का रहा है। धीरे-धीरे नई कविता को गुटों में बाँट दिया गया और उस पर तरह-तरह के लेबिल चिपका दिये गए। कविता को नये रूप में ढालने के लिए जो प्रयत्न और प्रयोग आरम्भिक अवस्था में मुक्त स्वेच्छा से किये गए थे उन्हें बाद में जबरन अलग अलग कठघरों में खड़ा करने की कोशिश की जाने लगी। गिने-चुने वैयक्तिक प्रयत्न जितने व्यापक और सामूहिक होते गए उतनी ही गुटों की गिनती बढ़ती चली गई। लेकिन परिवर्तन इतनी तेजी से होते जा रहे थे कि इन डिब्बों में नई कविता को समेटे रहना आसान नहीं था। इसलिए कुछ ही दिनों के बाद यह कृत्रिम सीमाएँ चटखने लगीं और नई कविता फूटकर चारों तरफ फैलने लगी। आज नई कविता की यही स्थिति है कि वह गुटों की सीमाओं से छितर-छितरकर फैल रही है, उसकी धाराएँ आपस में मिल रही हैं, और एकबारगी बाँध टूटकर महान् शक्ति से एकसार बहने का वक्त पास आता जा रहा है।

छायावाद-काल के बाद से अब तक के सारे प्रयत्न और परिवर्तन तीन-चार मुख्य विभागों में रखकर देखे जा सकते हैं। पहला वर्ग उन सभी रचनाओं का हो सकता है जिनमें विशेष रूप से नये सामाजिक यथार्थ को पकड़ने का आग्रह रहा है, और जिनका मुख्य प्रेरणा-स्रोत देश-विदेश की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियाँ तथा तज्जनित वर्ग-संघर्ष हैं। इस विभाग में हम उन रचनाओं को भी ले सकते हैं जिनमें उपरोक्त प्रेरणा के विभिन्न रूपान्तर वैयक्तिक और सामूहिक दोनों ही ढंग से प्राप्त होते हैं।

दूसरा विभाग उन रचनाओं का है जिनका प्रेरणा-स्रोत व्यक्तिगत परिस्थितियों से उत्पन्न मानसिक अन्तर्द्वन्द्व है, और जिनकी मुख्य गूँज रोमानी असन्तोष, अनास्था, द्विविधा, सन्देह और सामाजिक अवस्था की 'पैसिव' स्वीकृति रही है। इन रचनाओं का केन्द्र व्यक्तिमूलक रहा है और इसीलिए इन रचनाओं में व्यक्ति-संघर्ष की अधिकतर झलक दिखाई देती है। यह इस बात का सबूत है कि आज के युग का व्यक्तित्व खण्डित है और जो कवि उस खंडितावस्था से ऊपर उठने में विवश होते हैं या उठना नहीं चाहते, या उस अवस्था को स्वीकार किये रहना चाहते हैं जो उनके सामाजिक सम्बन्ध-विशेष और स्थिति-विशेष को निर्धारित करती है, या उनकी तत्कालीन स्थिति को सुरक्षित रखती है, ऐसे कवियों का व्यक्तित्व भी समाजोन्मुखी न होकर वैयक्तिक और एकांतिक हो गया है। इस वर्ग के कवि यद्यपि विशिष्ट समाजवादिता और वर्ग-संघर्ष की सीधी अभिव्यक्ति का विरोध करते प्रतीत होते हैं फिर भी अपने को प्रत्यक्षतः सामाजिकता का विरोधी नहीं कहते।

तीसरा विभाग उन रचनाओं का है जिनमें परिस्थिति-जन्य असन्तोष और उदासी है, जीवन-संघर्ष के कारण थकान, हार......और पस्ती भी अक्सर झलकती है। लेकिन फिर भी सामाजिक चेतना पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इन कविताओं में जीवन के रस और रंग के प्रति मोह दिखाई देता है, इसीलिए इन्सानी जीवन के भविष्य में विश्वास भी। ऐसी रचनाओं में एक विशेष प्रकार का समन्वय नज़र आता है जो इस बात का प्रमाण है कि मानवता में गहरा विश्वास रखने वाले ये कवि मौजूदा परिस्थितियों के विरोधी तत्त्वों के बीच समाधान पाने का यत्न कर रहे हैं।

चौथे विभाग में वे सद्यजात रचनाएँ आती हैं जिनमें कवि या तो वादों और संघर्ष-रत विचार-धाराओं से अछूता रहने के प्रयत्न में रोमानी गीतात्मकता की पृष्ठभूमि पर लोकप्रिय (पापुलर) चीजें लिखने का प्रयास करते रहे हैं या ताज़गी लाने के लिए प्रकृति के यथातथ्य चित्रण ग्राम लैण्डस्केप, जनपदीय शब्दावली, बोल-चाल की भाषा के प्रयोग और लोक-गीतों के प्रकारों को अंगीकार करके नई कविता में स्थानीय रंग भर रहे हैं। ये कवि परिस्थितियों की कटुता से आँख मिलाते हुए कुछ घबराते प्रतीत होते हैं इसीलिए या तो 'नेचर' की रंगीनी की तरफ़ मुड़ते हैं, ऋतुओं के रसमय परिवर्तनों में नये ढंग और शैली से मन रमाते हैं या यथार्थ के पास पहुँचने की कोशिश में जनपदों के रम्य, विशद और 'डिटेल' से भरे चित्र आँकते हैं। 'डिटेल' देने से ही उनके यथार्थ-बोध की तुष्टि हो जाती मालूम पड़ती है, इसलिए वे इस यथातथ्यता से आगे बढ़कर वर्तमान की विविध भावनाओं तथा समस्याओं से अपने कृतित्व का सम्बन्ध नहीं जोड़ पाते।

नई कविता की ये चारों प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे से कहीं-न-कहीं निकट होते हुए भी एक-दूसरे का खुलकर विरोध करती हुई पिछले पन्द्रह वर्षों से अग्रसर होती जा रही हैं।

इन्हीं कुछ मुख्य दृष्टियों (एप्रोच) से आज की सारी नई कविता देखी-समझी जा सकती है। पिछले पन्द्रह वर्षों में इन विभागों के अन्तर्गत विषय-वस्तु और रूप-विधान दोनों ही प्रकार के नये प्रयत्न और प्रयोग किये गए हैं। अब तक आलोचकों द्वारा बनाये हुए नई कविता के प्रचलित वर्गीकरण से हम मोटे तौर पर यह समझते रहे हैं कि जो रचनाएँ समाजवादी-मार्क्सवादी दृष्टिकोण के साथ सामाजिक आग्रह लेकर चलती हैं वे सब प्रगतिवादी हैं और जिनमें व्यक्तिगत रोमानी भावना की प्रधानता के साथ रूप-विधान के नये प्रयोग किये गए हैं वे सब या तो रूपवादी और प्रयोगवादी हैं और यदि कुछ नहीं तो कम-से-कम प्रतिक्रियावादी तो जरूर ही हैं। ऐसा वर्गीकरण त्रुटिपूर्ण और भ्रामक है।

स्पष्ट है कि इस प्रकार की दृष्टि से नई कविता का सही-सही मूल्यांकन नहीं हो सकता, क्योंकि संक्रान्ति-काल में विशेष रूप से जब कि समाज नये परिवर्तनों के बीच से गुज़र रहा होता है तब अधिकांश विचार-धाराएँ एक-दूसरे में मिल-गुँथकर, एक-दूसरे से कमो-बेश प्रभावित होकर चलती रहती हैं। इन धाराओं के विभिन्न रूप और गुण जरूर होते हैं लेकिन वे सब-की-सब पुरानी धारा के ही विरोध में उठती और आगे बढ़ती हैं, इसलिए पुराने और नये के दो पूर्णतया विपरीत ध्रुवों के बीच दर्जनों नये तत्त्व विभिन्न होते हुए भी एक अस्पष्ट और मिली-जुली गति से चलते रहते हैं। परिणामतः उन सब तत्त्वों को निश्चयात्मक रूप से अलग-अलग बाँटकर देखना न सिर्फ गलत है बल्कि खतरे से भरा हुआ है, क्योंकि इन्हीं विभिन्न तत्त्वों के सामञ्जस्य

से नई विचार-धारा का रूप आगे चलकर संगठित और व्यवस्थित होता है। जब वे बीज-रूप में हों या अभी अंकुरित ही हो रहे हों तब उन्हें वादों के छोटे-छोटे घेरों में बाँटकर बाँध देना श्रेयस्कर नहीं है। इस बीच वाली 'फ्लूइड' (fluid) अवस्था की धाराओं के जो तत्त्व जन-समाज के लिए स्वस्थ और कल्याणकारी नहीं होते तथा असल जीवन से जिनका लगाव कम होता है वे कमजोर पड़ते जाते हैं और धीरे-धीरे मुख्य वृन्त से छूटते जाते हैं। और चूँकि विचार-धाराएँ प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली स्थूल चीजों की तरह नहीं होतीं इसलिए कमजोर तत्त्व काफी समय तक अटके रहते हैं। वे एकदम टूटकर न तो गिरते ही हैं न काम ही आते, बल्कि पीले पत्ते की तरह मुख्य सूत्र के साथ हिलगे हुए चलते रहते हैं। समय और परिस्थितियों के शक्तिशाली दबाव के कारण उनका गिरकर विलीन हो जाना अवश्यम्भावी होता है। केवल वही तत्त्व बाकी रह जाते हैं जो उन दोनों के अनुकूल होते हैं। ऐसे सभी तत्त्व भिन्न विचार-दिशाओं से आकर इकट्ठे होते जाते हैं और अन्ततः एक स्पष्ट, शक्तिशाली और जीवन्त विचार-धारा को सामने लाते हैं जो टिकाऊ होती है और स्थायी रूप से आगे की प्रक्रियाओं पर असर डाल सकती है।

नई कविता के आलोचकों और प्रत्यालोचकों ने अब तक काफ़ी संकीर्णता से काव्य की नई प्रवृत्तियों को जाँचा-परखा है और दुनिया के सामने प्रकृत रूप के बजाय विकृत रूप को उभारा है। सन् चालीस से छियालीस के बीच समाजोन्मुखी काव्य-प्रवृत्ति का स्वरूप स्पष्ट हुआ, जो नई कविता में प्रगतिवाद के नाम से प्रतिष्ठित हुई। धीरे-धीरे दूसरी ओर 'प्रयोगवादी' कहलाने वाली प्रवृत्ति स्पष्टतया अलग होकर सामने आई। उसके बाद दोनों प्रवृत्तियों की ओर से आलोचना का एक समूचा युद्ध नई कविता की दिशा, स्वरूप, उद्देश्य, प्रतिपाद्य विषय-वस्तु, काव्यगत मूल्य, मान्यताओं, रागात्मक सम्बन्ध, यहाँ तक कि कवि-कर्म, उपकरण और शब्दों के प्रयोगों तक चल पड़ा।

इन दोनों ही पक्षों के कवि और आलोचक बड़े जोर-शोर और विस्तार के साथ दूसरे पक्ष यानी असलियत में दूसरे प्रकार की रचनाओं के रेशे-रेशे उधेड़कर, अपने तर्क के समर्थन और सबूत में उन रचनाओं से सम्बन्धित या असम्बन्धित चीजें निकालकर यह बताने की कोशिश करते रहे हैं कि दूसरे पक्ष की चीज बिलकुल गलत, अस्वस्थ और अकल्याणकारी है। इसलिए दोनों के मत में ऐसी चीजें लिखकर दूसरा पक्ष हिन्दी-कविता को पीछे हटा रहा है, युग-सत्य का विरोध कर रहा है, साहित्य का अहित कर रहा है, ध्वंसात्मक अराजकता फैला रहा है, गलत वैचारिक रास्ता दिखा रहा है और समाज को बरबाद कर रहा है। बड़े-बड़े तर्क प्रत्येक के समर्थन में पेश किये गए हैं। दोनों युद्ध-रत पक्षों के बीच नई कविता के जो अन्य दो विभाग हमने अभी इंगित किये वे सक्रिय रूप से लड़ाई में भाग न लेते हुए भी दूसरे रूप में इनसे सम्बन्धित रहे हैं। इन विभागों की रचनाओं को भी उपरोक्त तर्क-युद्ध में अक्सर शामिल किया जाता रहा है। जीवन के रस-रंग से मोह रखने वाले, पर साथ ही इंसानी भविष्य में विश्वास रखने वाले कवियों को कभी इस पाली में और कभी उस पाली में खींच लिया जाता है। यदि रचना में मानवता और इंसानी भविष्य की अधिक गूँज हुई तो उसे प्रगतिवादी खेमा अपना कहने लगता है और कभी जब रचना में जीवन का रस और रंग बढ़ गया, 'इंसान' और 'मानवता' कुछ कम हो गई तो वह प्रयोगवादी शिविर में घसीट लिया जाता है। यही हाल चौथे विभाग का भी रहा है। जहाँ बोल-चाल की भाषा में सीधे, सच्चे और खरे विचारों की झलक हुई या गाँवों के जीवन का

कुछ अधिक यथार्थ वर्णन हुआ तो वह पहले खेमे की चीज कही गई और जहाँ रम्य लैंडस्केप-भर रह गया अथवा लोक-गीतों-जैसा रोमानी रंग ज़्यादा उभर आया वहाँ दूसरे तम्बू में वह आ गई।

लेकिन किनारे पर खड़े होकर बारीकी से देखने वाले को यह समझते देर नहीं लगेगी कि दोनों ओर से अपने को सच्चा और दूसरे को झूठा या गलत साबित करने का अथक प्रयत्न कोई बहुत रचनात्मक या कल्याणकारी नहीं हुआ। पिछले सात-आठ साल का यह आपसी तर्क-युद्ध और एक-दूसरे को नीचा दिखाने का यत्न नई कविता को लगभग आत्मरोध के खतरनाक कगार तक ले आया था। आप चाहे किसी खेमे में हों पर यदि आपको इस आलोडन-प्लावन का सही-सही अन्दाजा लगाना है और अच्युत मूल्यांकन करना है तो थोड़ी देर को इस आलोडन से अपने को अलग करना होगा, थोड़ा ऊपर उठकर सर्वशः उसे देखना होगा। इस नजर से यदि हम देखें, तो पाएँगे कि यद्यपि कठिन विरोध पाकर कोई भी चीज ज़्यादा मजबूती से पनपती, बढ़ती और फैलती है; पर हमारी नई कविता में वैसा पूर्णतया नहीं हो पाया। वह फैली तो जरूर पर मजबूती से नहीं, उस शान और गरिमा से नहीं जैसा कि उसे सचमुच बढ़ना, फैलना चाहिए था। पिछले पन्द्रह सालों के बीच हमने कोई महान् कविता का निर्माण कर लिया हो या उसका सूत्रपात ही किया हो ऐसा कुछ नहीं हो सका। इसका कारण आपस का सैद्धान्तिक विरोध नहीं है, क्योंकि ऐसा विरोध कल्याणकर भी हो सकता है, बल्कि वह प्रवृत्ति है जो ठोस काव्य-निर्माण छोड़कर अपने मत-प्रचार के लिए स्पष्टीकरण करते-करते कुत्ता-घसीटन में लग गई और लगभग वहीं लगी रह गई। शायद यही कारण है कि इस समय हिन्दी में नई कविता के आलोचक संख्या में अधिक हैं बनिस्बत ठोस रचयिताओं के। इस कथन का अर्थ यह नहीं है कि किसी नई वस्तु या विचार-धारा के विषय में स्पष्टीकरण, विश्लेषण और मूल्यांकन किया ही नहीं जाना चाहिए, अथवा यह कि हमारी नई कविता पर जहाँ भी जो कुछ आलोचना के रूप में लिखा गया है वह सब बेकार था और वैसा होना ही नहीं चाहिए था। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि नई चीज का पूरी तरह स्पष्टीकरण होना ही चाहिए ताकि हम उसके स्वरूप को भली भाँति समझकर उसे उतना पूरा अपनाएँ, जितना स्वस्थ और श्रेयस्कर है बाकी जो नहीं है उसको त्याग दें। नये रास्ते की उचित और अनुचित बातों से हम परिचित रहें, उसके खड्ड-खाइयों को देख-समझकर पैर बढ़ाएँ। लेकिन नई कविता पर पिछली समस्त आलोचना की व्यापक दृष्टि से समीक्षा करते हुए हम पाते हैं कि कविता के भविष्य में कोई विश्वास या गहरी आशा दिलाने और हाल के उठने वाले कवियों को स्पष्ट दिशा-निर्देशन के बदले उसने प्रगति और प्रयोग का एक विचित्र गोरखधन्धा सामने खड़ा कर दिया। इसका सबूत यह है कि उठती हुई सद्यजात पीढ़ी फिर से काल्पनिक रोमान और दुःखवाद की ओर झुकती दिखाई दे रही है। पत्र-पत्रिकाओं में आये-दिन प्रकाशित होने वाली नये कवियों की कोई भी रचना उठाकर यह बात साफ तौर से देखी जा सकती है। इन बिलकुल ही नये कवियों के कुछ पहले वाले कवि भी, जो अब धीरे-धीरे अपना स्थान बनाते जा रहे हैं अधिकांश गहरी अनास्था से आक्रांत नजर आते हैं। माना कि इस अनास्था के पीछे बड़े सामाजिक कारण हैं, फिर भी यह बात आँखों की ओट नहीं की जा सकती कि पिछली सारी आलोचना ने स्पष्ट 'नेतृत्व' देकर अनास्था कम करने की अथक कोशिश नहीं की। संकुचित आलोचना-प्रत्यालोचना में ही वह लगी रही। सारांशतः

सामाजिक और साहित्यिक दोनों परिस्थितियों का यह परिणाम हुआ कि उत्तर-छायावाद-काल के जो कवि सामाजिक यथार्थ की ओर तेज़ी से बढ़कर आये थे वे मिटने लगे, प्रगति-प्रयोग के सन्धि-काल वाले अधिकांश कवि बुझ गए और नई पीढ़ी के अधिकतर कवि दुःखवाद, अनास्था तथा पलायनवाद के शिकार होने लगे। एक ओर सामाजिक समस्याएँ प्रश्न-चिह्न बनी रहीं, दूसरी ओर साहित्यिक विवादों ने सही दिशा-संकेत देने के स्थान पर तत्कालीन वैचारिक गतिरोध उत्पन्न कर दिया। सैद्धान्तिक विरोध का जो दूसरा स्वस्थ तरीका हो सकता था, जिसमें दोनों प्रकार की कविताओं के मेहनत और विस्तार से गुणावगुण देखे जाते, एक-एक कवि को लेकर उसकी पूरी तरह छान-बीन की जाती या कि दोनों पक्ष अपनी-अपनी पुष्टि के निमित्त अपने-अपने ढंग का उत्कृष्ट और महान् साहित्य सोत्साह रचते और सबूत में पेश करते। वह तरीका छोड़ दिया गया। उसे दोनों ही पक्ष भूल गए। यदि वह तरीका अपनाया गया होता तो हम अब तक नई महान् कविता और दो-चार नये महान् काव्यों की नींव खोदकर उसमें ईंट भर चुके होते।

यह कठिन काम अभी बाकी है, जिसे हमें तन तोड़कर करना है। अभी तो पन्द्रह साल में जमीन की पूरी गुड़ाई ह: नहीं हुई, जिस पर नई कविता की विराट् खेती क्षितिज-से-क्षितिज तक लहलहाती उठेगी। अभी तो जमीन ही सँवरनी बाकी है। पन्द्रह साल पहले हम एक साथ गेंती-कुदाल लेकर काव्य-भूमि को नये सिरे से खोदने खड़े हुए थे। खुदाई शुरू करते ही बीच में इस बात पर झगड़ने लगे कि जमीन किसकी रहेगी और फसल किसकी उगेगी। जरा मेहनत करते, भूमि को एकसार बनाते, शक्तिशाली बीज डालते और फसल उगने तक प्रतीक्षा करते, फिर जब वह उगती तब प्रत्यक्ष हो जाता कि कौन-से बीज उगे, कौन-से मिट्टी में मिल गए। समय अपने ऐतिहासिक विकास के थपेड़ों से कमजोर बीजों को खुद खत्म कर देता, शक्तिशाली और कल्याणकारी बीज ही उगते। हाँ, उस तरह के मजबूत बीज डालते जाना हमारा उत्तर-दायित्व था। इसलिए अब कम-से-कम इतना ही साथ बैठकर देख लिया जाय कि हमने जो-कुछ अब तक भला-बुरा किया उसका नतीजा क्या है और उसमें भविष्य के लिए कुछ रास्ता नज़र आता है या नहीं। आज ऐसे मूल्यांकन के लिए सही वातावरण भी उपस्थित हो गया है। दलीय आलोचना संग्राम अब करीब-करीब नहीं के बराबर रह गया है। दोनों ही पक्ष या तो यह समझ चुके हैं कि जितने तीर छोड़े जा सकते थे वह छोड़ दिये गए और अब कुछ नया कहने को नहीं रहा या फिर थककर अपनी गलती समझ रहे हैं या यों कहना चाहिए कि परिस्थितियों के ऐतिहासिक विकास और दबाव के कारण वह एक-दूसरे से स्वतः आकर्षित होकर, अन्यमनस्क होते हुए भी, एक-दूसरे के क्रमशः निकट आते प्रतीत होते हैं। इतना अवश्य है कि जहाँ इस तर्क-युद्ध ने एक तात्कालिक गतिरोध पैदा किया वहाँ विचारों का मन्थन भी खूब किया। कम-से-कम चेतन और तटस्थ कृतिकारों का उससे भला ही हुआ, क्योंकि विपक्षी दल की काट करने के लिए जितने ही अधिक विस्तार से तर्क दिये गए उतनी ही खुद उस पक्ष की असलियत खुली, उसके स्वरूप पर से ऊपरी घूँघट हटे, उसके लक्ष्य और उद्देश्य ज्ञात हुए, साथ ही उन दोनों के मर्म-स्थल और कमजोरियाँ तथा अब तक के अज्ञात और सम्भावित गड्ढे नज़र के सामने आ गए। इस पिछले मन्थन से आज जो स्थिति पैदा हुई है वह एक सन्तुलित और यथातथ्य मूल्यांकन के लिए अनुकूल है, और आज ही वह पड़ाव आया है जिस बिन्दु पर खड़े होकर हम अपनी सारी सम्भावनाओं को समझते हुए आगे देख सकते हैं, भविष्य में झाँक सकते हैं।

: २ :

नई कविता के प्रादुर्भाव में कौन-कौन-से कारण थे इस पर अब तक आलोचक काफी विचार कर चुके हैं। आज इसे सभी स्वीकार करते हैं कि नई कविता छायावाद के काल्पनिक रोमान, व्यक्तिवादी निराशा और आध्यात्मिक पलायन की प्रतिक्रिया बनकर आई थी। सन् तीस से पैंतीस तक जो सामाजिक, राजनीतिक और वैचारिक परिवर्तन हमारे देश के क्षितिज पर उदित हो रहे थे उन्हें यहाँ ध्यान में रखना आवश्यक है। साम्राज्यवाद के प्रति विरोध और विद्रोह का रूप सुधार और क्रान्ति के दो भिन्न बिन्दुओं का एक समन्वय लेकर शुरू हुआ था। सामाजिक चेतना को व्यापक रूप से जाग्रत करके भी वह उन प्रश्नों का उस समय तक कोई हल नहीं दे पाया था। राष्ट्रीय आजादी का अहिंसात्मक आन्दोलन अभी सफल नहीं हुआ था और साम्राज्यवादी भीषण दमन ने अपना क्रुद्ध फन कुछ और फैला दिया था। संसार-व्यापी मन्दी और आर्थिक संक्रान्ति से बड़े-बड़े देशों की चूल ढीली हो रही थी। बेकारी ने दुनिया को दबोच रखा था, बड़े-बड़े शिक्षितों को नौकरी तथा व्यवसाय मिलना दूभर था। ग्रेजुएट और पोस्ट ग्रेजुएट पच्चीस-तीस रुपये माहवार की नौकरी ढूँढते फिरते थे और वह भी मिलती न थी। आर्थिक संकट से कारखाने चौपट हो गए, औद्योगिक हड़तालें हुईं और देशी पूँजीपति राष्ट्रीय आन्दोलन से तटस्थ होने लगे। उस स्थिति ने समाज में एक भयावह निराशा फैला दी। साहित्य में उसके परिणामस्वरूप घोर मुर्दनी, पस्ती, पराजय, भ्रम, मृत्यु-उपासना, रुग्ण रोमान, क्षणग्रस्त कुण्ठा और अहंवाद की कालिमा छा गई। उत्तर-छायावाद-काल में इसी 'डिकेडेन्स' के प्रत्यक्ष दर्शन हमें होते हैं। 'बच्चन', नरेन्द्र और 'अंचल' की तत्कालीन रचनाएँ इसका प्रमाण हैं। रोमानी विद्रोह के कवि और अधिक तेजी से आत्मचिन्तन, अध्यात्म तथा दर्शन की ओर मुड़ गए थे। 'नवीन'-जैसे विद्रोह के कवि "आज खड्ग की धार कुण्ठिता, है खाली तूणीर हुआ; विजय-पताका झुकी हुई है, लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ" लिखने पर विवश हो गए थे। राष्ट्रवादी कवि भारत के प्राचीन इतिहास के गौरव की याद करके वर्तमान काल की दुर्दशा पर आँसू बहा रहे थे। 'दिनकर' की सन् पैंतालीस में प्रकाशित 'रेणुका' में यही हाहाकार उतरा था।

लेकिन उत्तर-छायावाद-काल की इस पस्ती और पराजय के साथ ही एक दूसरी विचार-धारा का उदय होना आरम्भ हो गया। देश की आर्थिक और राजनीतिक अवस्था में अन्तर्निहित अन्तर्द्वन्द्व अब स्पष्टतर होते जा रहे थे। देशी पूँजीवाद ने अपनी जड़ें जमा ली थीं और साम्राज्यवाद तथा सामन्तवाद से उसका गठबन्धन हो रहा था। धीरे-धीरे राजनीति में समाजवादी विचार-धारा पनपने लगी और सन् चौंतीस में कांग्रेस-समाजवादी दल की स्थापना हुई। साहित्य में भी इस नवीन सामाजिक दृष्टिकोण का असर पड़ा। इसके साथ ही रवीन्द्रनाथ के प्रभाव से जिस मानवतावादी दार्शनिकता, सामाजिक न्याय, विश्व-प्रेम, अन्तर्राष्ट्रीयता, पूर्व-पश्चिम के अध्यात्म और भौतिकता के समन्वय का वातावरण वैचारिक जगत् में फैला था उसे लेकर कुछ कवि आगे बढ़े। समाजवाद ने सामाजिक न्याय का एक नया रास्ता दिखाया था, दूसरी तरफ गांधीवाद ने रूढ़िग्रस्त मानव-आत्मा के संस्कार का। इन्हीं दोनों का मानवतावादी आधार लेकर श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने छायावादी विषय-वस्तु छोड़कर 'युगान्त' की रचना की और नवमानव का प्रथम अभिनन्दन किया। 'युगान्त' की रचनाओं में इस मानवतावादी समन्वय का रूप स्पष्ट देखने को मिलता है।

'युगान्त' की रचनाएँ सन् चौंतीस से छत्तीस के बीच की हैं। पुस्तक का प्रकाशन सन् छत्तीस में हुआ था। उसके बाद पन्तजी की 'युगवाणी' में संग्रहीत रचनाएँ सन् सैंतीस-अड़तीस के बीच पत्रों में प्रकाशित हुईं, विशेष रूप से 'रूपाभ' में, जिसका जिक्र हम आगे चलकर करेंगे। 'युगवाणी' सन् उन्तालीस में प्रकाशित हुई थी। इसमें पन्तजी के अनुसार युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न किया गया था। जिस 'युग की मनोवृत्ति' के मिलने का संकेत पन्तजी ने इसकी भूमिका में किया था वह इसमें एक विशिष्ट रूप में देखने को मिलती है। 'युगवाणी' में नवमानवता, साम्राज्यवाद, धनपति, मध्यवर्ग, कृषक, श्रमजीवी, मार्क्स आदि विषयों के साथ समाजवादी-गांधीवादी दृष्टिकोण का समन्वय नजर आता है। नई कविता की समाजोन्मुखी धारा, जो आगे चलकर प्रगतिवाद कहलाई, उसके प्रथम सोपान में 'युगवाणी' का प्रमुख स्थान स्वीकार किया जाना चाहिए।

नये परिवर्तन के प्रथम चरण में इस प्रकार मानवतावाद का तत्त्व सबसे पहले आया जो कहीं मार्क्स के समाजवाद की ओर उन्मुख था, कहीं सीधा प्रकृतवादी यथार्थ की ओर। सन् चौंतीस से उन्तालीस के बीच कितने ही अन्य कवियों में यह नवीन मानवतावाद दृष्टिगोचर होता है। ऐसे कवियों में 'निराला', 'नवीन', 'दिनकर', भगवतीचरण वर्मा और सियारामशरण गुप्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें 'निराला' का स्थान भिन्न है, क्योंकि उनका छायावादकालीन रूढ़ियों से विद्रोह अब व्यंग्य और विद्रूप में बदल रहा था। राष्ट्रवादी विचार के कवियों में मानवतावाद आवेग से उठकर सामने आया था यद्यपि उसमें पुराना व्यक्ति-विद्रोह भी मौजूद था :

नवीन :

लपक चाटते जूठे पत्ते
जिस दिन मैंने देखा नर को
उस दिन सोचा क्यों न लगा दूँ
आग आज इस दुनिया-भर को
—'झूठे पत्ते'

दिनकर :

गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो
लगे आग इस आडम्बर में
वैभव के उच्चाभिमान में
अहंकार के उच्च शिखर में
स्वामिन् अंधड आग बुला दे
जले पाप जग का क्षण-भर में
—'तांडव'

भगवतीचरण वर्मा :

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे
कुछ पाँच कोस की दूरी पर
भू की छाती पर फोड़ों से
हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर

पशु बनकर नर घिस रहे जहाँ
नारियाँ जन रही हैं गुलाम
पैदा होना फिर मर जाना
यह है लोगों का एक काम।
—'भैंसागाड़ी'

भगवतीचरण वर्मा ने जीवन की असफलता और सियारामशरण गुप्त ने दलित वर्ग की करुणा का चित्र उपस्थित किया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावाद की अध्यात्मपरक और राष्ट्रवादी दोनों प्रवृत्तियाँ मानवतावाद की ओर इस काल में उन्मुख हो गई थीं। तीसरी प्रवृत्ति स्वच्छन्दता और रूढ़ि-विद्रोह की थी जिसके परिणामस्वरूप माध्यम और प्रकारों में उथल-पुथल की गई थी और जिसका प्रतिनिधित्व 'निराला' जी करते थे। सन् पैंतीस के बाद की उनकी कविताओं में नये परिवर्तन के धक्के लग रहे थे। छन्द, उपमान आदि के अपने ताज़े प्रयोगों में 'निराला' भी नवीन आशय लाने का यत्न कर रहे थे, यद्यपि वे समाजवादी वर्ग-भावना तथा यथार्थवाद को स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पाते थे। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक की प्रथम कविता-पुस्तक 'मंजीर' (रचना-काल १६३४-३६) की भूमिका में उन्होंने सन् चालीस के प्रारम्भ में स्पष्ट लिखा था :

"इस समय गांधीवाद, समाजवाद, प्रगतिवाद और अत्याधुनिकवाद का हिन्दी-साहित्य में तूफान उठा हुआ है। काव्य में इसके धक्के तेज़ी से लग रहे हैं। बहुतों का ख़याल है कि कुल छायावादी मकान उड़ गए। मैं ऐसे प्रत्यक्षदर्शियों को पहले भी देख चुका हूँ, इस समय भी देखता हूँ। पहले तो यह कहता हूँ कि जो छायावादी थे उनके मकान थे ही नहीं, फलतः तूफान से कायावादी ही उड़े हैं। उन्हें पहले भी छायावाद का ज्ञान नहीं था। इस समय भी उड़ते फिरने वाली हालत में बेहोशी के कारण नहीं। उदाहरण के लिए पहले जीवन की सार्थकता को लेता हूँ। 'जीव' का 'जीवत्व' या 'जीवन' दार्शनिक दृष्टि से बहुत छोटी चीज़ है। उसकी प्राप्ति या बढ़ने की प्रार्थना अज्ञता है। छायावाद इसी सत्याश्रय से निर्गत और इसीमें पर्यवसित है।

"इसके बाद धकापेल, वीर-भाव की रेलगाड़ी चलने लगी, एक-से-एक बढ़कर कर्कश शब्द, भाव का पता नहीं····जो कलम की नोक से निकल गया वही भाव। कला? जिस तरह भी कहिए कला है। दूसरी तरफ से प्रगतिशील आ गए, गांधीवादी जहाँ नाक सिकोड़कर दया-प्रेम-करुणा का पाठ पढ़ा रहे थे वहीं समाजवादी बिना हिचक के टाट उलटने लगे। देखते-देखते हिन्दी-साहित्य में इस तरह काव्य-साहित्य में भी अकाल ताण्डव शुरू हो गया।

"हमारे काव्य-साहित्य में जो प्रश्न हल होने को हैं वे एक तरह के नहीं। हमारा समाजवाद भी एक सीमा में ही बँधा है, क्योंकि देश परतन्त्र है। समाजवाद लिया जाय तो प्रश्न उठता है अध्यात्मवाद को कहाँ जगह मिलेगी? नग्नता को प्रश्रय देते हैं तो देश के सन्त-चरित्र सामने आकर खड़े हो जाते हैं। नये स्वरों की चीज़ अलापी जाती है तो पुराने गाने राग-रागिनियाँ देख देखकर मुस्कराते रहते हैं।"[1]

१. निराला : ('मंजीर' की भूमिका में)।

'निराला' जी के इस वक्तव्य से सन् चालीस के आस-पास का उनका दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। उन दिनों 'निराला' जी का मन 'ऑडेन' से विशेष प्रभावित था। नया यथार्थ उन्हें भोंड़ा, कर्कश, नग्न और कलाहीन ज्ञात होता था, यथार्थ जीवन के उत्कर्ष की कामना अज्ञता। नये स्वरों की चीज पर पुरानी राग-रागिनियों का व्यंग्य से मुस्कराना उनकी आगामी कविताओं के व्यंग्य विद्रूप का पूर्वाभास था, लेकिन यथार्थ के प्रति यह उदासीनता बहुत देर न रह सकी। उनकी सामाजिक चेतना इसी व्यंग्य विद्रूप के माध्यम से निःसृत हुई। सन् चालीस में उन्होंने 'कुकुरमुत्ता' लिखा; जिसे उन्होंने निम्न वर्ग के प्रतीक के रूप में देखा था और उच्च वर्ग को गुलाब के रूप में। 'कुकुरमुत्ता' का प्रकाशन सन् बयालीस में हुआ। इस काल में उनकी जो व्यंग्यात्मक रचनाएँ हुईं उनमें एक ओर वर्ग भावना का छायाभास नजर आता है, दूसरी ओर नवीन यथार्थ के ऊपर ही कटाक्ष और व्यंग्य भी। इन रचनाओं में यथार्थ का नग्न स्वरूप हमारे सामने आता है। 'गर्म पकौड़ी', 'प्रेम-संगीत', 'खजोहरा', 'रानी और कानी', 'मास्को डायलाग्ज़'-जैसी रचनाएँ इसका प्रमाण हैं। इन कविताओं को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे कवि ने यथार्थ का अर्थ भोंड़ापन, फूहड़पन, कुरूपता, नग्नता, कर्कशता समझा है और यथार्थ को पकड़ने के यत्न में उसने यही चित्रित किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ इसी प्रकार की नग्नता, कुरूपता, कर्कशता राष्ट्रीय धारा के कवियों में भी प्रस्तुत सन्धि-काल में आई थी और इसी के साथ व्यक्तिवादी कुण्ठा भी सम्मिलित थी।

अन्य कवियों की भाँति 'निराला' का यह अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट है। वह छायावादकालीन व्यक्तिवादी विद्रोह की भावना ही थी जो एक ओर तो पुरानी परम्पराओं को तोड़-फोड़कर माध्यमों के नये-से नये प्रयोग करती थी, दूसरी ओर सामाजिक यथार्थ को पूरी तरह स्वीकार भी नहीं करना चाहती थी। 'पन्त' जी में यह अस्वीकृति भौतिकता का आत्मसंस्कार के साथ समन्वय करने के यत्न में दिखाई देती है, 'निराला' में ऐंद्रियता के आग्रह और यथार्थ पर बढ़ते हुए व्यंग्य-विद्रूप में। पर दोनों ही में इस आंशिक अस्वीकृति के बावजूद मानवतावाद के तत्त्व पर्याप्त मिलते हैं। सन् उन्तालीस तक निराला 'दान', 'एडवर्ड अष्टम', 'तोड़ती पत्थर', 'बन बेला', 'कुछ न हुआ न हो', 'नर्गिस', 'खुला आसमान', 'किसान की बहू की आँखें', 'नयनों के डोरे लाल'-जैसी कविताएँ लिख चुके थे। इन सबमें नवीन युग की झलक दिखाई दे जाती है। सामाजिकता का आधार यहाँ सीधी मानवता है और दीन-दुखियों के प्रति सहानुभूति। सन् इक्कीस में लिखी गई 'भिखारी' नामक प्रसिद्ध रचना से लेकर 'वह तोड़ती पत्थर' तक 'निराला' जी में मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रमाण मिलता है। परिवर्तन-काल तक आते-आते 'निराला' जी की कविता के तीन मुख्य तत्त्व स्पष्ट हो जाते हैं—एक तो माध्यम के नये प्रयोग और फलतः रूप-विधान का प्रसार, दूसरे ऐंद्रियता, तीसरे व्यक्तिमूलक कुण्ठा के साथ सामाजिक व्यंग्य। इन तीन तत्त्वों में से केवल प्रथम तत्त्व का प्रभाव आगे की कविता पर अधिक पड़ा, शेष दो का तात्कालिक महत्त्व ही रहा। आगे चलकर प्रयोगशील कवियों ने 'निराला' जी से प्रेरणा पाकर ही रूप-विधान में सचेष्ट परिवर्तन किये।

इन पाँच-छः वर्षों के बीच छायावादी डिकेडेन्स की एक और प्रवृत्ति दृष्टि में आती है जिसमें चरम निराशा, मृत्यु-उपासना और रुग्ण-रोमान की प्रधानता थी। साथ ही छायावाद की सीमाओं में रहते हुए भी भाषा का एक नयापन इस प्रवृत्ति की विशेषता थी। कविता

की भाषा को सरल और बोल-चाल के निकट लाने में बच्चन की काफी बड़ी देन है। 'बच्चन' की तत्कालीन लोकप्रियता का यही राज़ था। यह केवल इस बात का सबूत है कि किस प्रकार उस समय का साधारण पाठक या श्रोता भावनाओं को अपनी यथार्थ भाषा में व्यक्त होते देखने के लिए तरस रहा था। इस प्रवृत्ति का प्रतिनिधि रूप 'बच्चन', नरेन्द्र और 'अंचल' की कविताओं में मिलता है। 'बच्चन' के लोकप्रिय संग्रह 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त-संगीत' के गीतों में मरण-भावना का प्राबल्य है। उसका व्यक्तिगत कारण अवश्य है, किन्तु मृत्यु-उपासना को यहाँ एक दर्शन के रूप में स्वीकार किया गया था। "एक मुर्दा रो रहा था बैठकर जलती चिता पर" यह पंक्ति केवल किसी एकान्त घटना की प्रतिक्रिया न होकर इस समस्त गीति-धारा की सार-प्रतीक है। मुर्दनी, रुदन और दहन का वातावरण इन कविताओं को समोये हुए है। अपने काव्य-संग्रह 'प्रवासी के गीत' (प्रकाशित १९३९) में नरेन्द्र ने काव्य की इस क्षयग्रस्त स्थिति और तत्कालीन कवि की चरम विवशता का स्पष्टीकरण किया था। उनकी भूमिका की ये पंक्तियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं :

"'प्रवासी के गीत' में संग्रहीत रचनाएँ आधुनिक हिन्दी-गीति-काव्य के उत्तरार्ध के अन्तर्गत आती हैं। पूर्वार्ध के कवि प्रधानतया सौन्दर्योपासक और असीम तथा अनन्त के अनुरागी थे। सौन्दर्योपासकों में से कुछ की रुचि काव्य की प्रकार-योजना में नयेपन तथा विलक्षणता की ओर भी गई।"

प्रकार-योजना अर्थात् रूप-विधान में नवीनता लाने का यत्न और इस काल में उसका प्रारम्भ एक महत्त्वपूर्ण बात है। नरेन्द्र ने संक्रान्तिकालीन सामाजिक अवस्था और तज्जनित निराशा तथा असन्तोष का संकेत 'प्रवासी के गीत' की भूमिका में किया था और अपनी पुस्तक को मानसिक क्षयग्रस्त युवक कवि के गीतों का संग्रह कहा था।

यह भावना तत्कालीन परिस्थिति का पर्याप्त स्पष्टीकरण करती है। एक ओर इस काल की व्यक्तिवादी निराशा चरम 'फ्रस्ट्रेशन' और ह्रासोन्मुख भावना हमें दिखाई दे जाती है, दूसरी ओर यह भी ज्ञात होता है कि जिस प्रकार उस समय के सौन्दर्योपासक कवि रूप-प्रकारों के लिए यत्नशील हो गए थे। नरेन्द्र की ही रचनाओं में हमें इसका प्रमाण मिलने लगता है। प्रधानतया गीत-कवि होते हुए और फलस्वरूप सधी-जमी परिपाटीगत रूप-योजना को स्वीकार करते हुए भी उनकी रचनाओं में नये प्रयोगों के उदाहरण मिलते हैं। यह प्रयोग उपकरण, भाषा, छन्द और उपमान चारों दिशाओं में परिलक्षित होते हैं। एक-दो उदाहरण देना उचित होगा :

नवीन छवि-चित्र :

गृहिणियों के हेतु ले धन-धान्य आती
हो नगर की ओर जब गोधूलि वेला
देख पाओ यदि कदाचित् क्षितिज-तट पर
कहीं मिटता धूल का बादल अकेला।

फिर धधक बुझ जाय जब दिन की चिता भी
अस्थि-फूलों से खिलें जब शून्य नभ में कुन्द तारक
व्यर्थ भर लाना न लोचन।

नये उपमान :

जग में तो पूर्ण पुष्प-सी यह पूनो, मन आज खिन्न क्यों,
प्रिय भग्न हृदय मेरा देखो तरु छाया छिन्न-भिन्न ज्यों।

पूर्ण पुष्प-सी पूनों की उपमा में एक ताजगी है, साथ ही कविता के छंद को स्वीकृत परिपाटी के बाहर खींचने का प्रयत्न किया गया है। छंद सोलह मात्रा का है जो उच्चरित (एक-सेण्टेड) प्रथमाक्षर से आरम्भ होता है। टेक की पंक्ति को छोड़कर बीच वाले चार-चार पंक्तियों के बंद सोलह मात्रा के तथा उपरोक्त वज़न पर लिखे गए हैं, केवल मात्राएँ दुगुनी रखी गई हैं....

सौंदर्य सिंधु में सूनेपन की प्रतिमा-सी शशि-सी नभ में,
तुम, मैं भूपर के विजन विपिन के तरु-सा ही अपलक उदास।

रीत्यनुसार टेक की पंक्तियाँ भी इसी वज़न की होनी चाहिए थीं, पर वह भिन्न हैं। उनमें पहले तो दो मात्राओं की कमी है, दूसरे लय-गति का स्पष्ट अन्तर भी है। प्रचलित छंदों की कैद से छूटने का इसमें प्रयास किया गया है।

शैली और प्रकार-योजना :

१. कल दिन में मैं कमरे में था, था चित्र तुम्हारा सन्मुख
क्षण-भर को तो दिन-भर के सब था भूल गया श्रम-सुख-दुख,
सहसा सफेद दीवारों पर आई हल्की-सी छाया
तुम द्वार खड़ी हो, प्राण, तड़ित-सा ध्यान तुरत यह आया,
पर मुड़कर जब देखा बाहर फिर धूप विहँसकर निकली
मेरे मन में सुधि आई थी, छाई थी रवि पर बदली।[1]

२. तुम्हें याद है क्या उस दिन की
नए कोट के बटन-होल में
हँसकर प्रिये लगा दी थी जब
वह गुलाब की लाल कली।
फिर कुछ शरमाकर, साहस कर
बोली थीं तुम, इसको यों ही
खेल समझकर फेंक न देना
है यह प्रेम-भेंट पहली।
कुसुम-कली वह कब की सूखी
फटा ट्वीड का नया कोट भी
किन्तु बसी है सुरभि हृदय में
जो उस कलिका से निकली।[2]

इन उद्धरणों का मिलान यदि आज की प्रयोगशील कविता से किया जाय तो बहुत अधिक अन्तर नजर नहीं आयगा। सिर्फ आज भावुक उदासी की जगह उलझाव कुछ अधिक गहरा है,

१. जुलाई १९३७।
२. फरवरी १९३७।

सूक्ष्मता और तीखापन भी अधिक, साथ ही बौद्धिकता भी कुछ विशेष। प्रस्तुत कवितांश उद्धृत करने का उद्देश्य केवल यही है कि हम अपनी नई कविता को बीच वाली कड़ियों के सन्दर्भ में देख सकें। आगे चलकर जब इस निराशा, पराजय, दुःखवाद, नियतिवाद और अहंवाद के साथ छन्द और माध्यम के प्रयोगों का गठबन्धन हुआ तब वह उस नाम से जानी गई जिसे हम अब प्रयोगवाद कहने के आदी हो गए हैं, यद्यपि समस्त प्रयोगशील कविता के लिए यह परिभाषा नहीं दी जा सकती।

सन् चौंतीस से चालीस के बीच इस प्रकार तीन-चार मुख्य तत्त्व उभर आए थे यानी एक तो मार्क्सीय विचार-धारा का प्रारम्भिक समन्वित रूप, दूसरा मानवतावाद, तीसरे संक्रांतिजन्य असन्तोष और अहंवाद, जो एक ओर माध्यमों के प्रति व्यक्ति-विद्रोह में प्रकट हुआ और दूसरी ओर रुग्ण रोमान, अस्वस्थ ऐंद्रियता और चरम निराशायुक्त गीतात्मकता का रूप रखकर आया। इन्हीं तत्त्वों के विभिन्न रूपान्तर हमारी नई कविता में अब तक विद्यमान हैं। मार्क्सीय समन्वययुक्त सामाजिक दृष्टिकोण परिवर्द्धित और विकसित होकर वर्ग-संघर्ष-प्रधान कविता में उतरा; जिसमें 'निराला' के छन्द और प्रकार के प्रयोगों को भी आगे बढ़ाया गया और छंदोबद्ध योजना में माखनलाल, 'नवीन', 'दिनकर'-जैसे राष्ट्रीय धारा के कवियों की प्रवहमान (ड्राइवयुक्त) बोलचाल की शैली भी अपनाई गई। यथातथ्य मानवतावादी 'एप्रोच' विकसित होकर यथार्थ से अधिकाधिक सम्बद्ध हुआ और साधारण जन के सुख-दुःख, आशा-विश्वास को लेकर मानवतावादी दृष्टिकोण में बदला। संक्रांतिजन्य अहंवाद और 'फ्रस्ट्रेशन' व्यक्ति-विद्रोह की नींव पर माध्यमों के नये प्रयोगों से उलझा और आगे बढ़कर उसने 'फ्राइड' से नाता जोड़ा। या यों कहना चाहिए कि व्यक्तिमूलक समस्याओं का समाधान फ्राइडवादी मनोविश्लेषण द्वारा खोजना आरम्भ किया। दुःखवाद, नियतिवाद और ऐंद्रियता-प्रधान गीतात्मकता रोमानी ढंग के नये गीत-प्रयोगों में परिवर्तित हुई और लोक-गीतों के छंद, लय तथा स्थानीय रंग लेकर सामने आई। अन्तिम दोनों प्रवृत्तियों का एक दूसरा मिश्रित रूप इधर की कुछ ताजी रचनाओं में मौजूद है जिनमें अनास्था का तत्त्व प्रधान है। दो महायुद्धों के विनाशकारी प्रभाव से विदेशों की विचार-धारा में अनास्था का अवतरण हुआ था। टी० एस० इलियट के 'वेस्टलैंड' और 'हालोमैन' से लेकर सार्त्र के अस्तित्ववाद की पीड़ा तक जीवन के प्रति इसी अनास्था से निःसृत हुई। हिन्दी-कविता की यह नई प्रवृत्ति भी इलियट और सार्त्र के विचारों से मेल खाती है।

: ३ :

हमने अब तक यह देखा कि छायावादी परिपाटी के ह्रास-काल में किस प्रकार तात्त्विक परिवर्तन हुए जिससे हिन्दी-कविता में एक नया मोड़ आया। हमने यह भी देखा कि नई कविता अब तक किन-किन मंजिलों से होकर गुजरी है और आज ही मुख्य प्रवृत्तियाँ संधि-काल में किस तरह बीज-रूप या पूर्वरूप में मौजूद थीं। विभिन्न तथ्यों से यह भी प्रत्यक्ष है कि सन् पैंतीस से सैंतीस के बीच पुरानी धार ने मोड़ खाया और सैंतीस के बाद वह स्पष्ट रूप से उभरने लगी। 'रूपाभ' का प्रकाशन सैंतीस से शुरू हुआ था। उस समय कितने ही नये कवि सामने आये थे। 'युगवाणी की लगभग सारी कविताएँ 'रूपाभ' में प्रकाशित हुईं, साथ ही नरेन्द्र की नई रचनाएँ, 'बच्चन' के नये गीत, रामविलास शर्मा के सानेट तथा लैंडस्केप, शमशेर बहादुरसिंह के

प्रतीक चित्र और मुक्तगीत, वीरेश्वरसिंह के ग्राम-चित्र, केदारनाथ अग्रवाल की कतिपय रचनाएँ और भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाड़ी' 'रूपाभ' में प्रकाशित हुई थीं। और भी कुछ नये कवि थे जो 'पन्त' जी के कथनानुसार उस काल में उदय हुए थे, पर अब बहुत दिनों से अस्त हो चुके हैं। 'रूपाभ' का दृष्टिकोण अधिकांश रूप से सामाजिक यथार्थ का था। उसमें मार्क्स का प्रभाव गांधीवादी सांस्कृतिक चेतना के साथ मिलकर चला था। सन् उन्तालीस के लगभग 'रूपाभ' बन्द हुआ। इसी बीच फ्राइडवादी मनोविश्लेषण का तेजी से हिन्दी-साहित्य पर असर होने लगा, विशेष रूप से व्यक्तिवादी लेखकों पर जिन्हें व्यक्ति-समस्याओं का उद्गम मानसिक वर्जनाओं में नजर आया और उन्हें लगा कि मानसिक कुण्ठाओं और 'कम्प्लेक्सेज़' का परिष्कार ही सारी भौतिक समस्याओं का समाधान है। यौन-सम्बन्धों पर आधारित इस सिद्धान्त में एक थ्रिल थी, रोमांस और रोमांच दोनों ही थे। प्रणय, ऐन्द्रियता और अहं की तुष्टि उसमें थी, इसलिए जिन कवि-लेखकों का प्रेरणा-स्रोत वहाँ था वह मनोविश्लेषण की ओर तीव्रता से झुके। सन् उन्तालीस में नरोत्तमप्रसाद नागर के सम्पादकत्व में एक पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ था जिसका नाम था 'उच्छृङ्खल'। इस पत्र का उद्देश्य मनोविश्लेषण के अस्त्र द्वारा एक साहित्यिक सनसनी मचाना था। हिन्दी के लिए फ्राइड के सिद्धान्तों की साहित्य में अवतारणा उस समय नई चीज़ थी। छायावादी प्रणय-केलि के रहस्यात्मक प्रतीकों का पर्दा उठाकर यौन-सम्बन्धों को उनके प्रकृत, नग्न स्वरूप में प्रदर्शित कर देना उस समय 'सेन्सेशन' की बात थी। यद्यपि 'उच्छृङ्खल' का महत्त्व या स्थान साहित्यिक इतिहास में नहीं के बराबर है और आज उसका कहीं उल्लेख तक नहीं मिलता फिर भी वह सन्धि-काल की एक विशिष्ट प्रवृत्ति का परिचायक तो है ही। रामविलास शर्मा की कई चीजें इस पत्र में निकली थीं और केदारनाथ अग्रवाल की 'देवताओं की आत्महत्या', 'ग्राम लैंडस्केप' आदि उसमें प्रकाशित हुए थे। अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी इस समय नये ढंग की रचनाएँ निकलने लगी थीं। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक की प्रयोगात्मक कविताएँ, मुक्तछन्द और नये ढंग के गीत-प्रयोग प्रकाशित हो रहे थे। प्रभाकर माचवे के सानेट व्यंग्य-चित्र और 'गा रे हरवाहे, दिलचाहे वही तान'-जैसे ग्राम-गीत दिखाई देने लगे थे। अड़तीस से लेकर चालीस तक कितने ही नये कवि काव्य-क्षितिज पर उदित हुए। सन् चालीस में 'पन्त' जी की रोमानी भावना सामाजिक यथार्थ को साथ लेकर नये छन्द और माध्यमों द्वारा 'ग्राम्या' में संग्रहीत होकर आई। 'ग्राम्या' की कविताएँ उन्तालीस के अन्त से चालीस की फरवरी के बीच लिखी गई थीं। हमारी राय में 'ग्राम्या' 'पन्त' जी की रचनाओं में सर्वोत्कृष्ट और संधि-काल की कविता का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

इसी समय देश के सामाजिक और राजनीतिक आकाश में काली घटाएँ उमड़ने लगीं। सन् उन्तालीस में विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया। सन् चालीस के बाद देश पर उसके धक्के बड़ी तेज़ी से लगने आरम्भ हुए और सामाजिक विपत्ति आरम्भ हुई। सन् बयालीस-तैंतालीस तक आते-आते उसने अपने भीमकाय पंजों में देश को जकड़ लिया। जिन्दगी की जरूरी चीज़ों की ज़ोरों से कमी होने लगी; अन्न-संकट मुँह फैलाकर सामने आया; कपड़ा, तेल, चीनी, नमक, ईंधन दुर्लभ हो गया; चोरबाज़ारी, मुनाफ़ाखोरी आसमान को छूने लगीं···भुखमरी फैली, चीज़ों के दाम इतने आश्चर्यजनक हो गए कि सुनकर विश्वास नहीं होता था। एक व्यापक महानाश उपस्थित हो गया। बंगाल का भीषण अकाल पड़ा, हड़तालें हुईं, हिन्द-सेना बनी, बयालीस का भारी

विप्लव हुआ, नौसैनिकों का विद्रोह हुआ, सैकड़ों प्रकार की सामाजिक हलचलें और उथल-पुथल मचीं। यथार्थ का तूफान एक साथ ही सतह पर आ गया। उसने सबकी नजर बड़ी तेजी से अपने पर केन्द्रित कर दी। कविता के क्षेत्र में इसके पहले प्रचलित परिपाटी से छन्द और माध्यमों का विद्रोह चल ही रहा था, उसे अब फूट पड़ने का रास्ता मिल गया। नये ढाँचे को नई आत्मा प्राप्त हुई, रूप-विधान के प्रयोगों को विषय-वस्तु की नई जमीन मिली।

इस तूफ़ान में छायावाद बह गया और पुराने कवियों की चमक उतर गई। कविता की पुरानी धातु अपने रूढ़िग्रस्त आवरण और युग-विमुख दृष्टि से यथार्थ की तेज आँच न सह सकी। 'बंगाल के अकाल' और बयालीस-तैंतालीस की उथल-पुथल पर बहुत-सी कविताएँ पुरानी शैली में लिखी गईं, पर सबके जैसे रंग उड़े हुए थे।

नतीजा यह हुआ कि छन्द और प्रकारों के प्रयोग करने वाले अधिकांश कवि, जो अब तक नये विषयों के लिए खेत, खलिहान, ग्राम-चित्र या प्रणय-व्यापारों को टटोल रहे थे, वे एक साथ इस यथार्थ की ओर बढ़े। समाज की तत्कालीन दुर्दशा और उसकी महाजटिल समस्याओं का हल समाजवाद में उन्हें नजर आया। इस गठबन्धन से ही प्रगतिवादी कहलाने वाली कविता-धारा का प्रारम्भ हुआ। माध्यमों पर प्रयोग करने वाले शुरू के बहुत-से कवि इस प्रभाव-वृत्त में आ गए। नरेन्द्र, रामविलास, शमशेर, केदार, भारतभूषण अग्रवाल, नेमिचन्द्र, प्रभाकर माचवे, मुक्तिबोध और कुछ बाद के त्रिलोचन, रांगेय राघव, 'नागार्जुन', 'अंचल', 'बच्चन', सोहनलाल, उदयशंकर भट्ट, सुमन-जैसे गीत-कवि भी इससे अछूते न रहे। 'अंचल' का 'करील' और 'किरणवेला', जिनमें उनकी प्रगतिशील रचनाएँ संग्रहीत हैं, उसी काल में प्रकाशित हुई थीं। इस नई धारा में एक ओर माध्यमों के प्रयोग थे, दूसरी ओर नवीन सामाजिक चेतना। दोनों ही तरह की रचनाएँ फुटकर रूप से इधर-उधर प्रकाशित हो रही थीं पर संग्रहीत रूप से उनका प्रकाश में आना कठिन था। लड़ाई के कारण काग़ज़ की अत्यन्त कमी थी, हिन्दी की पुस्तकों का प्रकाशन लगभग स्थगित था। काग़ज की सप्लाई और पुस्तक के प्रकाशन के लिए सरकारी आज्ञा जरूरी थी। नियन्त्रण कड़े थे। नये कवियों की कविताएँ, खासकर ऐसी कविताएँ, जो प्रतिष्ठित लेखकों, आलोचकों और प्रकाशकों की नजर में ऊल-जलूल थीं, कौन छापता। परिणामतः सहकारिता के आधार पर कवि-लेखकों द्वारा ही एक संग्रह छपाने का विचार किया गया। हालाँकि बाद में यह सहकारिता नहीं चल सकी। इस स्थिति में सन् तैंतालीस में 'अज्ञेय' द्वारा संग्रहीत 'तार सप्तक' में सात नये कवियों की रचनाएँ एकत्र रूप से प्रकाश में आईं। इन सात कवियों में से पाँच में समाजवादी दृष्टिकोण साफ नजर आता है, जो इस बात का सबूत है कि किस प्रकार माध्यमों पर प्रयोग करने वाले कवियों ने नवीन वस्तु-स्थिति और यथार्थ समस्याओं का सामञ्जस्य रूपगत प्रयोगों के साथ किया था। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि प्रारम्भ में प्रगतिशीलता और प्रयोगशीलता एक-दूसरे से सम्बद्ध होकर चली थीं। इन तथ्यों की रोशनी में यह समझना और कहना बिलकुल गलत है कि स्वयं 'तार सप्तक' ने 'प्रयोग' नाम के किसी 'वाद' को जन्म दिया अथवा यह कि कोई एक कवि उसका प्रवर्त्तक हुआ। 'तार सप्तक' के सम्पादन और संग्रहीकरण का यही ऐतिहासिक महत्त्व है कि उसके द्वारा काफी वर्षों से कितने ही कवियों के प्रयत्न एकत्र होकर सामने आए, उनकी ओर लोगों का ध्यान खिंचा तथा नई कविता पर केन्द्रित हुआ। यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। प्रयोगों को 'वाद' की संज्ञा देने का श्रेय बाद के प्रगतिशील आलोचक-

प्रत्यालोचकों को है, जिसका प्रचलन 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन के बाद ज़्यादा ज़ोरों से हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि एक ओर समाजवादी आलोचकों ने उन प्रयोगों को प्रतीकवादी, रूपवादी (फारमेलिस्ट) कहना शुरू किया; जिनमें व्यक्तिगत कुण्ठा, यौन वर्जना, सूक्ष्म अन्तर्चेतना आदि की छाप थी, दूसरी ओर खुद कुछ नये प्रयोगशील कवियों ने रचना-वैचित्र्य और विलक्षणता की झोंक में प्रयोगों को एक नारे के रूप में ग्रहण करना शुरू किया। 'नकेन'-वाद या प्रपद्यवाद इसीका एक उदाहरण है। असलियत में प्रयोग-'वाद' शब्द ही गलत है; क्योंकि एक तो किसी भी सचमुच के 'वाद' के पीछे एक समूचा दर्शन होता है, दूसरे प्रयोग समाजोन्मुख और आत्मपरक दोनों ही पक्षों में किये जा सकते हैं, इसलिए एक ही प्रकार के प्रयोगों को 'प्रयोग' मानकर उन्हें 'प्रयोगवाद' कहना फिजूल की बात है।

हम अब तार-सप्तकों की रचनाओं के तत्त्वों का लेख के आरम्भ में बताये हुए विभाग और उनकी कसौटी पर मूल्यांकन करेंगे। इसके साथ ही हम इस काल के उन नये कवियों को भी सामने रखेंगे जो 'सप्तकों' में नहीं आए थे, पर नई शैली की रचनाएँ कर रहे थे। हम यह देख चुके हैं कि सन् तैंतालीस में 'तार सप्तक' के द्वारा नई कविता का एकत्र प्रकाशन एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी। पिछले पाँच-छः वर्षों से विभिन्न शैलियों के जो नवीन प्रयोग किये जा रहे थे वे प्रकाश में आए। सम्पादकीय वक्तव्य में कहा गया था कि ये सात कवि किसी एक ग्रुप या स्कूल के नहीं हैं; वे मंजिल पर पहुँचे हुए भी नहीं हैं, बल्कि राहों के अन्वेषी हैं; यानी कविता के प्रसार के लिए नये रास्ते या 'चैनल' खोज रहे हैं। 'तार सप्तक' की कविताओं में हमें कितने प्रकार के ऐसे रास्ते नजर आते हैं ? और वे रास्ते वस्तु और रूप की किन-किन दिशाओं की ओर उन्मुख होते जान पड़ते हैं ? छायावाद के ह्रास-काल में जो नवीन तत्त्व उभरे थे उनसे वे कहाँ तक सम्बन्धित हैं ? 'तार सप्तक' के बाहर जो नये कवि थे उनकी क्या स्थिति थी ?

'तार सप्तक' में हमें तीन मुख्य अन्तर्धाराएँ नजर आती हैं। एक तो समाजवादी यथार्थ की प्रवृत्ति जो रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल, गजानन मुक्तिबोध की रचनाओं में मिलती है। इनमें से अन्तिम अर्थात् मुक्तिबोध की रचनाएँ व्यक्ति-प्रधान, अन्तर्मुखी दार्शनिकता, निराशा तथा समाजोन्मुख यथार्थ बोध के संधि-स्थल पर खड़ी थीं और नेमिचन्द्र की प्रधानतः रूपासक्ति, रोमान, व्यष्टि और समष्टि के अन्तर्द्वन्द्व पर। दूसरी प्रवृत्ति व्यक्ति-विद्रोह के अहं और 'फ्रस्ट्रेशन' तथा उसकी वैयक्तिक, दैहिक, वर्गगत और 'काम'-समस्याओं पर आधारित है, जिसकी मुख्य गूँज आन्तरिक यौन-संघर्ष और बाहरी वर्ग-संघर्ष से उत्पन्न कुण्ठाओं और वर्जनाओं की है। इसके साथ ही बौद्धिक आत्मानुभूति, सूक्ष्म मनोभावों और राग-रेखाओं की अभिव्यक्ति तथा सौन्दर्य-बोध इसका दूसरा पक्ष है। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत 'अज्ञेय' की रचनाएँ आती हैं। तीसरी प्रवृत्ति मध्यवर्गीय, अन्तर्द्वन्द्व, रोमानियत, मानसिक प्यास, स्थूल ऐन्द्रियता, चित्रमयता, भौतिक जीवन के रसमय और रंगीन पक्ष के प्रति लालसा तथा मोह की है। साथ ही इतिहास की 'आब्जेक्टिव' चेतना और विज्ञान-सम्मत आधुनिकता का एक तत्त्व भी इस प्रवृत्ति में दिखाई देता है। यह प्रवृत्ति गिरिजाकुमार माथुर की रचनाओं में हमें मिलती है। 'तार सप्तक' की इन तीनों प्रवृत्तियों का आगे चलकर विकास और रूपान्तर हुआ। पहली प्रवृत्ति प्रगतिवाद के रूप में प्रतिष्ठित हुई, दूसरी 'अज्ञेय' की प्रवृत्ति उपचेतना, सूक्ष्म बौद्धिकता, सन्देह-द्विविधा और नई सौन्दर्य-सृष्टियों में परिवर्तित हुई, तीसरी गिरिजाकुमार माथुर

की प्रवृत्ति आगे सामाजिक यथार्थ से सम्बद्ध होकर नई रोमानियत, रंग-रसमयता, मानवतावाद और भविष्य के विश्वास में परिणत हुई। एक ओर रंग-रोमान और दूसरी ओर सामाजिक यथार्थ का उसमें समन्वय हुआ। तीनों प्रवृत्तियों के उदाहरण देना उपयुक्त होगा····

पहली प्रवृत्ति : सामाजिक यथार्थ

१. *विश्व-शान्ति :*

ईश के सुवर्ण सिंहासन के पार्श्व से
उड़ चले पुष्पक-विमान पृथिवी की ओर
करते हैं पुष्प-वृष्टि
नष्ट करते हैं नर-सृष्टि कर अग्नि-वृष्टि
दुर्दम नृशंस आततायियों के ध्वंसकारी वायुयान
हरे-हरे खेतों के
काले-काले लोहे के कल-कारखानों के
नीचे कहीं दबा था भूकम्प एक चुपचाप।
हड्डियों का ताप :[1]

२. *निम्न-मध्यवर्ग :*

नोन तेल लकड़ी की फ़िक्र में लगे घुन-से,
मकड़ी के जाले-से, कोल्हू के बैल-से,
मकां नहीं रहने को, फिर भी ये धुन से
गन्दे, अंधियारे और बदबू-भरे दड़बों में
जनते हैं बच्चे।

बीसवीं सदी ने हमें क्या दिया
मोटर, रेल, विमान, क्रांतियाँ
यह बेतार, सवाक् चित्रपट
काग़ज मुद्रा, आर्थिक संकट
गति अतिशयता, वेगातुरता
कहीं प्रपीड़न कहीं प्रचुरता।

बीसवीं सदी ने यही दिया
मानव को मानव का भक्षण
मानव को निज संरक्षण का
परवाना सबको बाँध दिया
जीवन-संघर्ष बढ़ा याँ तक
उस हाथ दिया इस हाथ लिया

१. रामविलास शर्मा।

देखा न पुण्य अथवा पातक
जिसने मारा बस वही जिया ।[1]

३. पूँजीवादी समाज के प्रति :

तेरे रक्त में भी सत्य का अवरोध
तेरे रक्त से भी घृणा आती तीव्र
तुझको देख मितली उमड़ आती शीघ्र
तेरे हास में भी रोग-कृमि हैं उग्र
तेरा नाश तुझ पर क्रुद्ध, तुझ पर व्यग्र
मेरी ज्वाल, जन की ज्वाल होकर एक
अपनी उष्णता से धो चले अविवेक
तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ ।[2]

दूसरी प्रवृत्ति : 'अज्ञेय'

१. अहं और वर्गीय अन्तर्द्वन्द्व :

अवतंसों का वर्ग हमारा
खड्ग-धार भी न्यायकार भी
हमने क्षुद्र तुच्छतम जन से
अनायास ही बाँट लिया
श्रम-भार भी सुख-भार भी
हम लोगों का एक-मात्र श्रम है, सुरति-श्रम
उस अन्त्यज का एक-मात्र सुख है····मैथुन-सुख ।[3]

नूतन प्रचण्डतर स्वर से
आतताई आज तुझको पुकार रहा मैं
रणोद्यत दुर्निवार ललकार रहा मैं
कौन हूँ मैं ?
तेरा दीन, दुखी, पददलित, पराजित
आज जो कि क्रुद्ध सर्प से अतीत को जगा
मैं से हम हो गया ?

मैं ही हूँ वह पदाक्रांत रिरियाता कुत्ता
मैं ही हूँ वह मीनार-शिखर का प्रार्थी मुल्ला
मैं वह छप्पर तल का अहं-लीन शिशु भिक्षुक ।[4]

१. प्रभाकर माचवे ।
२. मुक्तिबोध ।
३. 'वर्ग भावना'—'अज्ञेय' ।
४. 'अज्ञेय' ।

२. सूक्ष्म बौद्धिक आत्मानुभूति :

नहीं मुझमें तीव्र कोई अहं की अभिव्यंजना जागी
नहीं चाहे प्राण तुम प्रत्येक स्पंदन की
बनो बेबस फेन-सी उच्छ्वसित समभागी
चेतना की दो प्रवाहित पृथक् धारों-सी
जो कि संगम के अनन्तर भी
रंग अपने पृथक् रखती हैं

और जिनके
घुले उलझे, परस्पर वलयित
द्रवित देहों में
शांति में गति से परम कैवल्य में संवेदना से
भँवर हैं उद्भ्रांत मँडराते······।[1]

उस महा व्याकुल अनावृत ज्ञान-लिप्सा
के क्षितिज पर
जो खिंचा है स्वप्न
श्रावण-साँझ के वितरित घनों पर
अमित नीला, जामुनी, अतिलाल, सुन्दर
दिवस की बरसात का सूर्यास्त का चुम्बन
वह ज्ञान-लिप्सा क्षितिज-सपना
रे वही तुझमें अनेकों स्वप्न देगा।
औ' अनेकों सत्य के शिशु
नव हृदय के गर्त में द्रुत
आ चलेंगे।
आत्मा मेरी
उस ज्वलन की भूमि में तू स्वयं बिछ जा
देख, जलते स्पन्दनों में क्या उलझता ही गया है।[2]

३. यौन-प्रतीक और सौंदर्य-बोध

जब कि सहसा तड़ित के अघात से घिरकर
फूट निकला स्वर्ग का आलोक
बाध्य देखा···
स्नेह से आलिप्त
बीज के भवितव्य से उत्फुल्ल

---

१. 'अज्ञेय'।
२ 'खोल आँखें'—मुक्तिबोध।

बद्ध
वासना के पंक-सी फैली हुई थी
धारयित्री सत्य-सी निर्लज्ज, नंगी,
औ' समर्पित।[1]

चरण पर धर
सिहरते-से चरण
आज भी मैं इस सुनहले मार्ग पर
पकड़ लेने को पदों से
मृदुल तेरे पद-युगल के अरुण तल की
छाप वह मृदुतर
जिसे क्षण-भर पूर्व ही निज
लोचनों की उछरती-सी बेकली से
मैं चुका हूँ चूम बारम्बार।[2]

तीसरी प्रवृत्ति : गिरिजाकुमार माथुर

१. रंग, रस, रोमान

उन्हीं रेडियम के अंकों की लघु छाया पर
दो छाँहों का वह चुपचाप मिलन था
उसी रेडियम की हल्की छाया में
चुपके का वह रुका हुआ चुम्बन अंकित था
कमरे की सारी छाँहों के हल्के स्वर-सा
पड़ती थीं लो एक-दूसरे से मिल-गुँथकर
सूनी आधी रात।[3]

एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा
गिरा रेशमी चूड़ी का छोटा-सा टुकड़ा
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहने थीं
रंग-भरी उस मिलन-रात में

दूज कोर से उस टुकड़े पर
तिरने लगीं तुम्हारी सब लज्जित तसवीरें
कसे हुए बन्धन में चूड़ी का झर जाना।[4]

१. 'सावन मेघ'—'अज्ञेय'।
२. 'चरण पर धर चरण'—'अज्ञेय'।
३. 'रेडियम की छाया'।
४. 'चूड़ी का टुकड़ा'।

जीवन में फिर लौटी मिठास है
गीत की आखिरी मीठी लकीर-सी
प्यार भी डूबेगा गोरी-सी बाँहों में
ओठों में आँखों में
फूलों में डूबे, ज्यों
फूल की रेशमी-रेशमी छाँहें।

२. *चित्रमयता :*

सेमल की गरमीली हल्की रुई समान
जाड़ों की धूप खिली नीले आसमान में
झाड़ी झुरमुटों से उठे लम्बे मैदान में
रूखे पतझार-भरे जंगल के टीलों पर
काँपकर चलती समीर हेमन्त की
लम्बी लहर-सी
दूरी के ठिठुरे-से भूरे-भूरे पेड़ों पर
ठंडे बबूले बना धूल छा जाती थी।[1]

३. *आकांक्षा और उदासी :*

सुन्दर चीजें ही मिटती हैं सबसे पहले
यह फूल, चाँदनी, रूप, प्यार
आँसू के अनगिन ताजमहल
रागों की ठहरी गूँज
असम्भव सपनों की मनहर मिठास
स्रष्टा तक मिटता कलाकार के मिटने से
पर गीतों के इन पिरामिडों,
इन धौलागिरि, सुमेरुओं पर
मिट जाती स्वयं मृत्यु आकर।

ऐतिहासिकता :

'अधूरा गीत', 'विजय दशमी', तथा 'बुद्ध' में ऐतिहासिक दृष्टि का उदाहरण मिलता है। 'तार सप्तक' की इन तीनों प्रवृत्तियों का आगे की कविता पर असर पड़ा।

रूप-विधान की दृष्टि से भी 'तार सप्तक के कवियों की महत्वपूर्ण देन है। नये विषयों के साथ उपमान, प्रतीक, चित्र, रंग, छंद, लय, अन्तःसंगीत, भाषा और शब्द-योजना के नवीन प्रयोग स्थिर हुए। इन कवियों ने एक विस्तृत केनवेस काव्य-प्रयोगों के लिए प्रस्तुत किया। उपमान यथार्थ जीवन से लिये गए, उनमें आधुनिक युग का वातावरण उतरा, परिपाटीगत प्रतीकों को ठुकराकर ताजे नये प्रतीक और प्रतीक-चित्र जुटाये गए, भाषा की सधी-जमी संकीर्णता का कलेवर चीरकर दैनिक बोल-चाल की भाषा, मुहावरे, पेरेन्थेसेस, जनपदीय-स्थानीय शब्द, उर्दू-अँग्रेजी के प्रचलित शब्द, नाम आदि अंगीकार किये गए और नये शब्द भी गढ़े गए, छंदों में मुक्त

१, 'कुतुब के खण्डहर'।

छंद, छंदमुक्त (फ्रीवर्स), नई मात्रिक छंद-योजना, रूबाई के ढंग के प्रयोग, लोक-गीत और जन-गीतों के छंद, कवित्त और सवैये को तोड़कर नये मुक्त छंद आदि प्रयोग में लाये गए, प्रकारों में सानेट, बैलेड, एकालाप (मोनोलॉग), परिसंवाद, मुक्त-गीत, ग्राम-गीतों की योजनाएँ अपनाई गईं।

इन सबने मिलकर रूप-विधान की दिशा में एक व्यापक क्रान्ति उत्पन्न कर दी।

'तार सप्तक' से बाहर के कवि भी सचेतन दृष्टि से नये विषयों और शैलियों की रचना में यत्नशील थे। नरेन्द्र में प्रगतिशीलता की लहर वेग से आई थी और वे "नील लहरों के पार, लगी है चीन देश में आग"-जैसी कविताएँ लिख रहे थे। 'अंचल' में भी सामाजिकता, साम्राज्य-विरोध और वर्ग-भावना तेज़ी के साथ आई थी, उधर उनके गीतों की रंगीन भावुकता और ऐन्द्रियता में भी निखार बढ़ रहा था, नये 'शरबती' प्रतीक और उपमान आ रहे थे। राष्ट्रीय कवियों की प्रवहमान शैली और विद्रोह की ललकार के साथ समाजवादिता, साम्राज्य-विरोध तथा वर्ग-संघर्ष की भावना मिलाकर 'सुमन' प्रगतिशील कवियों में स्थान बना रहे थे। शमशेरबहादुर-सिंह ने 'फ्रीवर्स' में कितनी ही नई रचनाएँ, प्रतीक-चित्र, तथा मनोविज्ञान के 'फ्री-एसोसिएशन' का टेक्नीक लेकर कविताएँ लिखी थीं। भवानी मिश्र व्यावहारिक बोल-चाल की चुभती हुई भाषा में 'सतपुड़ा के जंगल'-जैसे रम्य विशद वर्णन, 'सन्नाटा'-जैसे बैलेड प्रकार और "पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री"-जैसे गीत रच रहे थे। त्रिलोचन शास्त्री गेय गीतों के ढंग की कविताएँ लिखकर उनमें गाँव, खेत, खलिहान, फसलों की ताज़गी और जीवन लाने का यत्न कर रहे थे। केदारनाथ अग्रवाल ने प्रकृति-चित्रण, लैंडस्केप, दैनिक जीवन के यथार्थ चित्रों के साथ वर्ग-संघर्ष-सम्बन्धी व्यंग्य आदि लिखे थे। रांगेय राघव की मुक्त छन्द में लिखी कितनी ही शक्तिशाली रचनाएँ सामने आ रही थीं। नागार्जुन सीधी अभिधायुक्त भाषा में व्यंग्य-चित्र लिखकर कविता को उसके ऊँचे शासन से नीचे उतार रहे थे। और भी कितने ही कवि इस उथल-पुथल से प्रभावित हो रहे थे तथा उनके काव्य की मूरत के हाथ-पाँव बन रहे थे। सन् तैंतालीस के बाद के छः वर्षों में नई कविता का प्रसार तेज़ी से बढ़ता गया।

इन वर्षों के बीच 'तार सप्तक' की मुख्य धाराओं का रूप और अधिक स्पष्ट हुआ तथा निखरा।

उनकी शैलियाँ अधिक प्रौढ़ तथा परिपक्व होकर सामने आईं। 'अज्ञेय' की रचनाओं में एक ओर ज़्यादा गहनता, सूक्ष्मता और गूढ़ता आई, दूसरी ओर नई सौन्दर्य-सृष्टियाँ उसमें हुईं। 'कलगी बाजरे की', 'माघ-फागुन-चैत', 'आषाढस्य प्रथम दिवसे', 'ओ पिया पानी बरसा', 'छिटक रही है चाँदनी', 'भेड़ा घाट की साँझ', 'हवाई यात्रा'-जैसी रचनाओं में पहले की बनिस्बत अधिक निखार उतरा। गिरिजाकुमार माथुर में मानवता, आशावादिता, इन्सानी जीवन और भविष्य में विश्वास का स्वर ज़्यादा उभरकर रंग-रोमान के समन्वय के साथ आया।

उधर प्रगतिशील कविता कट्टरपन्थी उसूलों के कारण नारों के वाग्जाल में सीमित होती गई, और केवल 'रियलिज़्म' का एक तत्त्व अपने दायरे के बाहर छोड़कर स्वयं संकुचित और संकीर्ण हो गई।

इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त इस ज़माने में गीति-काव्य के माध्यम से भी नये प्रयोग किये गए। ऐसे कवियों में हम जानकीवल्लभ शास्त्री, शंभूनाथसिंह, ठाकुरप्रसादसिंह, हंसकुमार तिवारी और इधर बिलकुल ही नये नीरज तथा वीरेन्द्र मिश्र आदि को ले सकते हैं। इन कवियों के

गीतों में अधिकांश रूप से रोमानी भावना के दर्शन हमें होते हैं। इनमें से रंग-योजना तथा नये उपमानों का प्रयोग शम्भूनाथसिंह में सबसे अधिक मिलता है, और गीतों को बोल-चाली चलताऊ भाषा में लिखने का प्रयोग 'नीरज' में।

: ४ :

शताब्दी के अर्ध चरण तक आते-आते नये कवियों की एक और पीढ़ी उठकर साहित्य-क्षितिज पर आई। धर्मवीर भारती, हरि व्यास, नरेश मेहता, रघुवीरसहाय, शकुन्त माथुर, महेन्द्र भटनागर, सर्वेश्वरदयाल, मदन वात्स्यायन, विजयदेव साही, नामवरसिंह, सिद्धनाथ 'कुमार' तथा राजनारायण बिसारिया आदि कितने ही नये कवि हमारे सामने हैं। और बहुत-से सद्यः कवि हैं जिनकी रचनाएँ अक्सर पत्रों में आजकल प्रकाशित होती रहती हैं तथा जिनमें नई कविता के तत्त्व झलकते हैं। हालाँकि ये कवि अभी निर्माणावस्था में ही हैं। नाम गिनाना यहाँ इष्ट नहीं है और न ही वह सम्भव है; क्योंकि यह पीढ़ी आजकल ही उठ रही है। नाम गिनाने में दो कठिनाइयाँ हैं। एक तो वह सूची कहाँ तक बढ़ाई जाय तथा उसको खत्म कहाँ किया जाय? दूसरे आज नये कवियों की हालत यह है कि जहाँ एक बार नाम लिया या कुछ ताजगी अथवा नयापन देखकर लोगों ने नई कविता से सम्बन्धित पत्रों में उनकी रचना प्रकाशित की वहाँ उन्हें अपने बारे में गलतफहमी होने और गलत रास्तों पर चले जाने की पूरी सम्भावना होती है। नई उठान के कवियों में से सात को फिर लेकर 'अज्ञेय' ने 'दूसरा सप्तक' का संकलन किया। 'दूसरा सप्तक' सन् इक्यावन में प्रकाशित हुआ और उसमें दो पिछली पीढ़ी के तथा पाँच नये कवियों की रचनाएँ संग्रहीत की गईं। पिछली पीढ़ी के शमशेर और भवानी मिश्र तथा नई पीढ़ी में से शकुन्त माथुर, हरि व्यास, नरेश मेहता, रघुवीरसहाय, धर्मवीर भारती इस सप्तक में रखे गए। कवि किस दृष्टिकोण से संग्रहीत किये गए थे इस पर हम न जाकर स्वयं उन कवियों के कृतित्व को देखेंगे और इस बात का विश्लेषण करेंगे कि ऐतिहासिक परम्परा की कड़ी में इस कृतित्व का क्या स्थान है, पिछले किन तत्त्वों पर वे आधारित हुए हैं, तथा 'दूसरा सप्तक' में उन तत्त्वों का विकास हुआ या नहीं। आखिर में यह कि इस समस्त नई पीढ़ी की कविता जिन्दा रहेगी या नहीं और यदि रहेगी तो उसकी कौन-सी चीजों के विकसित होकर रह जाने की सम्भावना है।

इसके लिए हम 'दूसरा सप्तक' की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके सप्तक के बाहर वाले कवियों को भी परखेंगे। दूसरे सप्तक में यद्यपि प्रगतिशील धारा का भी प्रमाण मिलता है, 'अज्ञेय' की सूक्ष्म आत्मानुभूति तथा बौद्धिकता और उनसे भी पिछले, कुण्ठाग्रस्त तथा अर्ध-समाजोन्मुखी, अर्ध-व्यक्तिवादी कवियों-जैसी शैली के प्रयोग, और गिरजाकुमार माथुर-जैसी रंगीनी, प्रतीक-योजना चित्रमयता और आधुनिकता भी मिलती है, फिर भी यह कहना पूरी तरह ठीक न होगा कि 'दूसरा सप्तक' पहले 'तार सप्तक' के कवियों का सिर्फ 'फॉलो ऑन' है। इसके विपरीत यह कहना ज़्यादा ठीक होगा कि 'तार सप्तक' के कवियों ने कविता-क्षेत्र का नई दिशाओं में प्रसार बढ़ाने के जो अभिनव यत्न किये थे उसका आने वाली पीढ़ी पर स्पष्टतया गहरा असर पड़ा और बहुत-से कवि अपनी-अपनी रुचि, सामर्थ्य तथा मानसिक स्थिति के अनुसार इस प्रयत्न-भूमि पर आकर इकट्ठे होने लगे। 'दूसरा सप्तक' के दो कवि यानी भवानी मिश्र और शमशेर पहले ही से अपनी स्वतन्त्र शैली स्थापित कर चुके थे, अन्य पाँच कवि 'तार सप्तक' का दिशा-संकेत लेकर अग्रसर हुए। इन

पाँच कवियों ने अवश्य ही पिछली नई कविता से प्रेरणा ली और सीखा भी, विशेषकर 'अज्ञेय' और गिरिजाकुमार माथुर के प्रयोगों से। इसका सबूत इन कवियों के वक्तव्य और कृतित्व दोनों से प्राप्त होता है। रघुवीरसहाय में पूर्णतया और एक सीमा तक हरि व्यास में बौद्धिक आत्मानुभूति, मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का सूक्ष्म विवेचन, अन्तर्मुखी चेतना और व्यक्तिगत कुण्ठाओं का आभास 'अज्ञेय' की याद दिलाता है। धर्मवीर भारती के सिर्फ वक्तव्य में 'अज्ञेय' की मान्यताओं-जैसी गूँज है····यद्यपि कृतित्व में उनसे विभिन्नता है। भारती में रोमानियत और प्रणयासक्ति के साथ सामाजिक चेतना तथा यथार्थ की कटु अनुभूति काफी तीव्रता से मिलती है, जिन चीजों के कारण यह अन्तर स्पष्ट होता है। आगे चलकर भारती तथा अन्य कुछ कवियों—जैसे सर्वेश्वरदयाल और विजयदेव साही—में अनास्था का प्रवेश हुआ। दूसरी ओर नरेश मेहता में नये उपमानों की खोज, छवि, रचना का प्रयास, शिल्प-योजना, रूमानियत के साथ सामाजिक यथार्थ का समन्वय, शकुन्त माथुर की रंगीनी और चित्रमयता, हरि व्यास की रोमानी मोहासक्ति से गिरिजाकुमार माथुर का ध्यान आ जाता है। लेकिन इन कवियों में 'तार सप्तक' की उपरोक्त शैलियों का अनुकरण-मात्र ही है और कुछ नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। रचना-काल की आरंभिक अवस्था में सभी कवि अपने पिछले कवियों से प्रभावित होते हैं, उनसे प्रेरणा पाते हैं, अपनी मनोनुकूल शैलियों के कई तत्त्व लेकर अपनी-अपनी मिट्टी की मूरत गढ़ने की कोशिश करते हैं, अपनी अनुभूतियों का रंग उसमें भरते हैं और इस प्रकार अपनी विशिष्टता की छाप उन शैलियों पर लगाते हैं। 'दूसरा सप्तक' के कवियों की रचनाओं में पिछले प्रयोगशील कवियों की दी हुई शैली और शिल्प का यदि स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है तो इसका कारण यही है कि इस संग्रह में उनके प्रारम्भिक प्रयोग ही थे। प्रारम्भिक होने के कारण उनकी रचनाओं में वह प्रौढ़ता नहीं थी जो 'तार सप्तक' के कवियों में थी। उनकी शैलियाँ अभी स्थिर नहीं हो पाई थीं और उनमें कच्चापन नजर आता है। इसलिए 'दूसरा सप्तक' बहुत-से कवियों में से कुछ नये कवियों की कविताओं का संग्रह-मात्र है, वह समस्त नई पीढ़ी का प्रतिनिधित्व नहीं करता और पहले सप्तक की तरह उसका ऐतिहासिक महत्त्व भी नहीं है। इसका एक कारण यह भी है कि पहले सप्तक के संग्रहीकरण और प्रकाशन से हिन्दी-काव्य की एक नूतन धारा स्पष्ट रूप से अलग होकर सामने आई थी, जिसने आगे की कविता पर अपना प्रभाव डाला। उस रूप में 'दूसरा सप्तक' के द्वारा ऐसा कुछ नहीं हुआ, क्योंकि 'दूसरा सप्तक' के बाहर नये प्रयत्न और प्रयोगों की अब तक एक पूरी परम्परा खड़ी हो चुकी थी।

इस निर्णय के बाद हम 'दूसरा सप्तक' के अन्य पक्षों पर विचार करेंगे। 'दूसरा सप्तक' में पहले की प्रयोगशीलता का परिमार्जित और परिष्कृत रूप है, यह कहना यद्यपि ठीक नहीं है तथापि इन कवियों में कुछ और चीजें देखने को मिलती हैं। सबसे पहली बात जो हमारी दृष्टि खींचती है वह इन रचनाओं की शब्द-योजना और भाषा की है। भवानी मिश्र से लेकर धर्मवीर भारती में भाषा और शब्द-योजना का पहले से कहीं अधिक अन्तर नजर आता है। 'दूसरा सप्तक' के कवियों में भाषा को अधिकाधिक दैनिक यथार्थ के पास लाने का स्पष्ट प्रयत्न है। 'तार सप्तक' के कितने ही कवियों पर छायावादकालीन भाषा और शब्द-योजना का प्रभाव था। 'दूसरा सप्तक' के कवियों की भाषा अधिक सरल और सीधी है। वह बोल-चाल के शब्दों से अनुप्राणित है और उसमें दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त की जाने वाली भाषा के निकट आने का स्पष्ट यत्न है। भवानी मिश्र की चुभती हुई सीधी शैली का यही मर्म है। 'दूसरा सप्तक' में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं :

गीत फ़रोश :

जी हाँ हज़ूर मैं गीत बेचता हूँ
मैं तरह-तरह के
किसिम-किसिम के
गीत बेचता हूँ
जी बहुत ढेर लग गया हटाता हूँ
गाहक की मर्ज़ी....अच्छा, जाता हूँ
मैं बिलकुल अन्तिम और दिखाता हूँ
या भीतर जाकर पूछ आइए, आप ।[1]

आज मुझे लगता संसार खुशी में डूबा
माँ ने पाया अपना धन ज्यों
बहुत दिनों का खोया
बहुत बड़ी कुँवारी लड़की को
सुघर मिला हो दूल्हा
मैल-भरी दीवारों पर राजों ने फेरा चूना
किसी भिखारिन के घर में
बहुत दिनों पीछे, मंद जला हो चूल्हा ।[2]

उधर उस नीम की कलगी पकड़ने को
झुके बादल
नई रंगत सुहानी चढ़ रही है
सबके माथे पर
उड़े बगले, चले सारस
हरस छाया किसानों में
बरस-भर की नई उम्मीद
छाई है बरसने के तरानों में ।[3]

कौन आज मुझे खास बात समझाने को
दिल में आता है
और दूर से यह गाता है
सुनता हूँ, साह कोई मरा
और एक चोर नहीं डरा, नहीं डरा
रात हुई खतम, दिन जब आलोक से भरा
उतरी एक लाल परी ।
सुनकर मन पछताता है

१. भवानी मिश्र ।
२. शकुन्त माथुर ।
३. हरि व्यास ।

आह, मैं चोर न हुआ
हाय, मुझे कुछ नहीं आता है
जग से मरने का ही मेरा नाता है।[1]

काला गगन, हवा साँवली, ज़हरीले धुएँ के बादल
चीख़ रही सीटी जिनमें मिल
भद्दी मोटी लालटेन ले घूम रहे गोदामों में ये मोटे वार्डर
जाँच रहे रेलों के पहिये हथौड़ियों से टन-टन करके
मोटे ओठों में चुरुट जल रहा
आसमान की छाती में इंजन का सारा शोर भर रहा
जाने किस राक्षस की आँखों-जैसी लाल हरी लाइटें चमक रहीं
सिगनल-खम्भों की……[2]

मैं कभी-कभी कमरे के कोने में जाकर
एकान्त जहाँ पर होता है
चुपके से एक पुराना काग़ज़ पढ़ता हूँ
वह एक पुराना प्रेम-पत्र है जो लिखकर
भेजा ही नहीं गया, जिसका पाने वाला
काफी दिन पीछे गुज़र चुका।[3]

हर घर में सिर्फ़ चिराग़ नहीं, चूल्हे सुलगे
लेकिन फिर भी
जाने कैसा सुनसान अंधेरा
रह-रहकर घुँधुआता है
छप्पर से छनता हुआ धुआँ
हर ओर
हवा की पर्तों पर छा जाता है
बढ़ जाती है तकलीफ़ साँस तक लेने में
हर घर में मचता हंगामा
दफ़्तर के थके हुए क्लर्कों की डाँट-डपट
बच्चों की चीख-पुकारें
पत्नी की भुन-भुन……[4]

भूख ने उसकी जवानी तोड़ दी
यों बड़ी ही नेक थी कविता

१. शमशेर।
२. नरेश मेहता।
३. रघुवीर सहाय।
४. धर्मवीर भारती।

मगर धनहीन थी, कमज़ोर थी
और बेचारी गरीबन मर गई ।[४]

भाषा का 'रियलिज़्म' और उसे व्यावहारिक बोल-चाल से एक कर देने का प्रयत्न इन सभी नये कवियों की एक विशिष्टता है । इसका अर्थ यह है कि हिन्दी की नई कविता अब अधिकाधिक साधारण जीवन के निकट आती जा रही है, उसके उपकरण और माध्यम दोनों ही सामाजिक यथार्थ की ओर तेज़ी से अग्रसर हो रहे हैं । नई पीढ़ी में भाषा, शब्द-योजना, उपमान, प्रतीक, चित्रों का यह 'रियलिज़्म' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जो भविष्य की काव्य-प्रक्रियाओं पर असर डालेगा । भाषागत यथार्थ गद्य में और विशेषकर कहानी-उपन्यास में प्रेमचन्द के बाद से काफी आ चुका था । कविता में अब वही चीज़ बोल चाल की भाषा को लेकर आ रही है ।

दूसरे सप्तक और उसके बाद के लगभग सभी कवियों में भाषा की यह विशेषता मौजूद है । आज के किसी भी कवि की रचनाओं से ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं । सभी में बोल-चाल की भाषा का प्रयोग मिलता है । जनपदीय शब्द, प्रान्तीय पर्याय, प्रादेशिक मुहावरे, स्थानीय, प्रयोग, लटक (मेनेरिज़्म), आधे वाक्य (पेरेन्थेसिस) बड़ी तेज़ी से आते जा रहे हैं, और इस तरह काव्य की भाषा का प्रसार बढ़ता जा रहा है ।

पिछले प्रयोगशील कवियों ने यदि कविता के क्षेत्र का एक व्यापक रूप से फैलाव बढ़ाया था तो अब नई पीढ़ी के कवि उसकी भाषा और उपकरणों पर विशिष्ट रूप से काम कर रहे हैं ।

इससे स्पष्ट है कि एक ओर तो तथाकथित साहित्यिक भाषा और बोल-चाल की भाषा का व्यवधान बहुत-कुछ मिट जायगा, दूसरी ओर बोल-चाल की भाषा जो हमें असंस्कृत, निम्न और काव्य की गरिमा के अयोग्य लगती है और जिसका उपयोग करने से यह समझा जाता है कि साहित्य या काव्य नीचा और अभद्र हो जायगा । वह जब स्वयं कविता की भाषा बन जायगी तो अपने-आप प्रतिष्ठा और प्रामाणिकता प्राप्त करेगी ।

मैं समझता हूँ भाषा का यह 'रियलिज़्म' भविष्य की कविता का एक प्रधान बीज है, और आने वाली महान् कविता इसी जीवन-यथार्थ की भाषा को ग्रहण करके उस पर अपना भवन उठायगी । भविष्य के महाकाव्य जन-साधारण की इसी बोल-चाली भाषा में यदि लिखे जायँ तो कोई अचरज की बात नहीं होगी । हमारे विचार में कविता के भाषागत विकास का वही स्वाभाविक, आवश्यक और ऐतिहासिक चरण होगा ।

नई पीढ़ी की दूसरी विशेषता उसकी सामाजिक अनुभूति है । यह अनुभूति विश्वास, अनास्था और कटुता तीनों ही रूपों में प्राप्त होती है । 'तार सप्तक' और उसके अन्य समकालीन कवियों में नई सामाजिक चेतना का उदय एक व्यापक ढंग से हुआ था । सामाजिक अर्थ-व्यवस्था की समझदारी, जीवन की विषमता और जटिलता, मध्यवर्ग की मनोवृत्ति, मुसीबत और छीछालेदर, किसान, मजदूर, धनिक, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, अन्तर्राष्ट्रीयता आदि की चेतना 'तार सप्तक' के कई कवियों में हम स्पष्ट पाते हैं । इन बातों का जैसे सहसा उन्हें अपने जीवन में ज्ञान हुआ हो और आँखें खुली हों । नई पीढ़ी के कवियों में यह चेतना ज़्यादा उलझी हुई अनुभूति के रूप में आई है । यद्यपि जीवन के विरोधी और अनुकूल तत्त्व आज बहुत साफ होकर सतह पर

१. धर्मवीर भारती ।

आ चुके हैं पर आज उन्हें देखने की दृष्टियों का भेद भी काफी मौलिक रूप से उपस्थित है। दूसरों की अनुभूतियों के आधार पर उठी हुई सामाजिकता अब लगभग बुझ गई है और पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, किसान, मजदूर, शोषित-वर्ग का नाम-भर गिना देना सामाजिकता का लक्षण नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत जीवन के छोटे-से-छोटे पहलू में संघर्ष की जो छाया पहुँची है उसकी अभिव्यक्ति असली सामाजिकता मानी जाने लगी है। अपनी और अपने आस-पास की जिन्दगी में उसकी छाप देखकर, उसे भोगकर आज का कवि सामाजिकता को अपना रहा है।

लेकिन जैसा कि हमने अभी कहा इस सामाजिकता को देखने की दृष्टियाँ आज कई-एक हैं। सामान्य रूप से उसके विरोधी और अनुकूल पक्षों से आज सभी परिचित हैं, कम-से-कम परिचित होने का दावा तो करते ही हैं। इस कारण जहाँ एक ओर विरोधी और अनुकूल ध्रुव अलग-अलग दिखाई देते हैं वहाँ इनके ऊपर एक-सी दिखाई देने वाली किन्तु विभिन्न दृष्टियों ने एक नया उलझाव नये कवि के मन में पैदा कर दिया है। जीवन के विरोधी तत्त्वों से जो आक्रान्त हैं पर जिन्हें उनसे त्राण पाने का मार्ग समझ में नहीं आता, उनमें सामाजिक परिस्थितियों की अनुभूति के साथ एक नये प्रकार की हताशा अथवा अनास्था पैदा होती है। वे मार्ग ढूँढ़ने का यत्न करते हैं पर परिस्थितियों की चट्टानों पर सिर पटककर छटपटाते रह जाते हैं। दूसरी ओर सामाजिक न्याय और कल्याण के विभिन्न स्वर उन्हें सुनाई देते हैं। सामाजिक मुक्ति का दावा करने वाले भिन्न-भिन्न विचारादर्श उन्हें आस-पास दिखाई पड़ते हैं, पर सभी में उन्हें एक-न-एक कमी नजर आती है। कोई थोथा लगता है, कोई कमजोर, कोई ढीला-ढाला, कोई मनगढ़न्त और अव्यावहारिक, कोई बाहर से थोपा हुआ, कोई भयावह, कोई संदिग्ध, कोई प्रच्छन्न, दुकान की बाहरी सजावट-जैसा और इस तरह कोई भी 'एप्रोच' उनकी बौद्धिकता और अनुभूति को स्वीकार नहीं होता। इसलिए हर 'एप्रोच' में कमी अनुभव करके वे सभी पर से आस्था खो बैठते हैं।

धर्मवीर भारती, रघुवीरसहाय, सर्वेश्वरदयाल, विजयदेव साही, राजनारायण बिसारिया तथा कुँवर नारायण की इधर की कुछ रचनाओं में अनास्था और 'निषेध' (निगेटिविज़्म) की छायाएँ देखने को मिलती हैं। भारती में विश्वास और अनास्था का अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट रूप से नजर आता है। एक ओर ऐसी पंक्तियाँ हैं :

ठहरो, ठहरो, ठहरो, ठहरो हम आते हैं
हम नई चेतना के बढ़ते अविराम चरण
हम मिट्टी की अपराजित गतिमय सन्तानें
हम अभिशापों से मुक्त करेंगे कवि का मन।

और दूसरी ओर····

हम सबके दामन पर दाग़
हम सबकी आत्मा में झूठ
हम सबके माथे पर शर्म
हम सबके हाथों टूटी तलवारों की मूठ

दो हमको फिर झूठे युद्ध
दो हमको फिर झूठे ध्येय
हारेंगे फिर यह है तय

फिर उसको मानेंगे हम प्रभु की हार
अपने को मानेंगे फिर अपराजेय ।[१]

अथवा

सूनी सड़कों पर ये आवारा पाँव
माथे पर टूटे नक्षत्रों की छाँव
कब तक
आख़िर कब तक
लड़ने वाली मुट्ठी जेबों में बन्द
नया दौर लाने में असफल हर छन्द
कब तक
आख़िर कब तक ?[२]

पर आज सिर्फ भग्नावशेष
बेस्वाद सान्त्वना, धीरज, ढाढस, सब्र, भाग्य
उजियाले की जड़ हँसी
अंधेरे के आँसू

सच मानो प्रिय
इन आघातों से टूट-टूटकर रोने में कुछ शर्म नहीं
कितने कमरों में बन्द हिमालय रोते हैं,
मेजों से लगकर सो जाते कितने पठार,
कितने सूरज गल रहे अंधेरे में छिपकर,
हर आँसू कायरता की खीझ नहीं होता ।[३]

इस रचना में भी जीवन के निषेध और विश्वास दोनों का अन्तर्द्वन्द्व मिलता है । आज के कवि की यह अनास्था सामाजिक संघर्ष की कटुता और परिणामगत पस्ती से उपजती है ।

इस प्रकार सामाजिक चेतना से उत्पन्न कटुता भी मौजूदा कविता की एक विशिष्टता है। यह कटुता अनास्थामूलक भी है और किसी एक सिद्धान्त को किताबी रूप में अनुदारता, असहिष्णुता और कट्टरता से स्वीकार करने के कारण भी । इसके अलावा सीधी परिस्थिति-जन्य कटुता भी है, जो आवश्यक रूप से अनास्थाजनित नहीं होती । इस प्रकार की कटुता आगे बढ़कर स्वस्थ सामाजिकता में परिवर्तित भी हो सकती है ।

तीसरी बात मानवता और जीवन-कल्याण में विश्वास के स्वर की है । विश्वास की आवाज यद्यपि आज कुछ कम है फिर भी जितनी है वह उतनी ही मजबूत और बलवती है । इस मानवतावादी दृष्टि में सामाजिक अवस्था को देखने का पैनापन है; मौजूदा परिस्थितियाँ किस गति

१. धर्मवीर भारती ।
२. 'संक्राति'—भारती ।
३. 'हिमालय के आँसू'—साही ।

से बढ़ रही हैं, किधर बढ़ रही हैं, उनका आज क्या रूप है और यह स्वरूप किस तरह दूसरे रूपों में ढलता जा रहा है इसकी समझदारी यहाँ मौजूद है। इस आवाज़ में भविष्यवादिता का एक तत्त्व भी दिखाई देता है और यह भविष्यवादिता दिन-दिन अधिक गहरी होती जा रही है। अब वह जिन्दगी के छोटे-से-छोटे पहलू की खण्ड-अनुभूति को उठाकर उस पर अपने सिद्धान्तों को कसना और अपने विश्वास की छाप को लगाना चाहती है। हमारे देश की संस्कृति के वह अनुरूप भी है। यही आवाज़ आगे आने वाली कविता में निरन्तर बढ़ती जायगी ऐसा हमारा निश्चित विचार है।

अन्त में हम नई कविता के उन समस्त पहलुओं की ओर इशारा करेंगे जिनसे बचकर आज के कवि को चलना होगा, यदि उसके सामने केवल साहित्यिक 'लीडर' बनने का लक्ष्य नहीं है और वह मेहनत करके हिन्दी के काव्य-साहित्य का भविष्य सँवारना चाहता है।

सबसे पहली बात तो यह है कि नया कवि 'वादों' और गुटों के फेर में न पड़कर अपना स्वतन्त्र चिन्तन करे और उसे अपने मौलिक ढंग से विकसित करे। जान बूझकर पूर्वाग्रह के साथ एक के पक्ष या दूसरे के विरोध में रचना न करे। सिर्फ देखा-देखी या सुन-सुनाकर मान्यताएँ बनाने का दम न भरे, क्योंकि वे कभी टिकाऊ नहीं होतीं। हाँ, यह बात ज़रूर है कि इसके लिए ज़रा मेहनत के साथ पठन, अनुशीलन, मनन, स्वतः आलोचन और चिन्तन करना पड़ेगा, 'शॉर्ट-कट' नहीं मिल सकेगा। लेकिन श्रेष्ठ रचनाकार को 'शॉर्ट-कट' का मोह तो होना नहीं चाहिए, यदि वह श्रेष्ठ रचनाकार बनना चाहता है, अपनी नई शैली गढ़ना चाहता है और आगे के लिए कुछ छाप छोड़ना चाहता है। इस रास्ते पर चलकर हो सकता है मेहनत में वर्षों निकल जायँ और बहुत जल्दी पाँचवें सवारों में नाम न आ पाए। पर जिसे कोई गम्भीर काम करके आगे की पीढ़ियों के लिए सौंप जाना है उसे यह करना पड़ेगा, दूसरा कोई रास्ता है ही नहीं।

एक और भी आवश्यक बात यह है कि नया कवि प्रयोगों को एक नारे के रूप में ग्रहण न करे। नयेपन के नाम पर वह अस्वाभाविक विशृङ्खलता, विचित्रता, विलक्षणता, कृत्रिम खींच-तान और ऊल-जलूल, शब्द-उपमान-संग्रह करके लोगों को चौंकाने, ध्यान आकृष्ट करने, नई शैली का आभास पैदा करने या सनसनी मचाने का प्रयास न करे। क्योंकि न तो उससे सनसनी मचती है, और न नई शैली का निर्माण होता है; बल्कि स्वयं उसकी रचनाएँ दयनीय अथवा हास्यास्पद हो जाती हैं। छन्दों की व्यर्थ तोड़-मरोड़, जो बिना किसी गम्भीर आधार या सिद्धान्त के की जाती है, जान-बूझकर 'गद्य' बनाने का यत्न, अथवा छन्द, लय, अन्तःसंगीत की अज्ञानता, दूर-दूर के असम्बद्ध उपमानों का संग्रह, रद्दी, छिछोरे, ओछे, निकृष्ट, फूहड़ या शालीनता-रहित वैयक्तिक व्यापारों की अभिव्यंजना, कविता को प्रगतिवादी या प्रयोगवादी बनाने के लिए ज़बरदस्ती कुछ नाम, नारे, 'कैचवर्ड्स', खोखले प्रतीक, स्थानीय देशज या जनपदीय शब्द अथवा उपमाओं की ठूँस-ठाँस, नई फिलासफी या विचार-आदर्श देने के लिए उलझी-सुलझी अर्थहीन बौद्धिकता और तर्क आदि से न तो कविता में नयापन आता है और न उससे कोई नया चमत्कारी साहित्य-प्रवर्तन होता है; श्रेष्ठ कविता होने या काव्य साहित्य को समृद्ध करने की बात तो दूर रही। आज नये कवियों में इस 'नुस्खेबाजी' का चलन जगह-जगह दिखाई देता है जिससे स्वयं उन्हीं कवियों को खतरा है। इस गम्भीर खतरे से आज के कवि को सचेत रहकर मेहनत से अपना स्वस्थ विकास करना होगा।

इधर के नये कवियों के लिए एक और चेतावनी देना भी हम ज़रूरी समझते हैं। आज इसकी अत्यधिक आवश्यकता है कि नया कवि कुछ ठोस रचना और साहित्यिक निर्माण की ओर ध्यान दे, अपने मत और मान्यताओं का स्पष्टीकरण और पुनर्स्पष्टीकरण ज़रा कम करे। हो सकता है उसके मत और मान्यताएँ अपरिपक्व ही हों, और इसीकी सम्भावना अधिक है। हमारे देश में बात करने और नुक्ताचीनी करने की आदत दूसरों से कुछ ज़्यादा ही है, मेहनत करने और रचनात्मक कार्य करने की कम। पर यदि हम अपने काव्य-साहित्य के भाण्डार-गृह को नई कविता की एक अभूतपूर्व भेंट देना चाहते हैं, तो हमें छोटी-छोटी बातें, अधकचरे सिद्धान्त, तर्क, फलसफ़े का चक्कर अपने विकास के लिए अपने तक ही रखकर देश और विदेश की कुछ बड़ी बातों और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की ओर उन्मुख होना होगा। उन्हें अपने कृतित्व में उतारना होगा। उदासी, पस्ती, अनास्था, कमज़ोरी की भावना को दूर हटाकर कविता में विश्वास का स्वर फूँकना होगा। अपने समाज को कमज़ोरी और निराशा दिलाने के बजाय मज़बूती और हिम्मत दिलानी होगी। देश की युगीन परम्पराओं के अनुकूल मानवता के कल्याण में गहरी आस्था पैदा करनी होगी। हम समझते हैं कि भविष्य ऐसी ही कविता के हाथ में है।

अनुशीलन

डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त

'पद्मावत' का पाठ और 'आईन-ए-अकबरी'

जायसी का 'पद्मावत' सन् ९४७ हि० (१५४० ई०) में लिखा गया था, और अबुलफ़ज़ल ने 'आईन-ए-अकबरी' सन् १००३ हि० (१५९५ ई०) में समाप्त किया था। अतः इधर जब मैंने 'पद्मावत' के लेखन-काल के भारतीय जीवन का परिचय प्राप्त करने के लिए 'आईन-ए-अकबरी' का अवलोकन किया तो उसमें मुझे ऐसे अनेक शब्द मिले जो 'पद्मावत' में भी आये हैं।

अब से चार-पाँच वर्ष पूर्व 'जायसी-ग्रन्थावली' के सम्पादन के समय 'पद्मावत' के पाठ-निर्धारण के प्रसंग में ऐसे अनेक स्थल मेरे सामने आये थे जहाँ पर निर्धारित सम्पादन-सिद्धान्त प्रायः ऐसे पाठ की ओर ले जाते थे जो अपरिचित ही नहीं बहुत-कुछ अर्थहीन भी प्रतीत होता था, जब कि दूसरी ओर केवल हस्त-लिखित प्रतियों में ही नहीं सम्पादित संस्करणों में भी इस प्रकार के पाठान्तर मिलते थे जो अधिक परिचित और अर्थयुक्त प्रतीत होते थे। ऐसे स्थलों पर, कहना नहीं होगा, मैंने प्रथम मार्ग का ही अवलम्बन किया था। मुझे हर्ष है कि ऐसे अनेक स्थलों के पाठ 'आईन-ए-अकबरी' के द्वारा नितान्त सार्थक और जायसी के युग के प्रमाणित हो रहे हैं।

नीचे ये स्थल दिये जा रहे हैं। 'पद्मावत' के उद्धरणों के साथ दी हुई संख्याएँ मेरे 'जायसी-ग्रन्थावली'[1] पाठ की क्रमशः छन्द तथा पंक्ति-संख्याएँ हैं। 'आईन-ए-अकबरी' के स्थल-संकेत ब्लाचमैन के किये हुए उसके प्रसिद्ध अनुवाद के द्वितीय संस्करण[2] के अनुसार हैं। पाठान्तर उद्धरणों के सामने ही चौकोर कोष्ठकों में दे दिये गए हैं, और जिन अंशों के वे पाठान्तर हैं उन्हें उल्टे 'कामों' से इंगित कर दिया गया है। जिन प्रतियों में ये पाठान्तर मिलते हैं, उनका निर्देश प्रस्तुत लेख के लिए अनावश्यक समझकर नहीं किया गया है, जिज्ञासु पाठक उन्हें उपर्युक्त मेरे संस्करण तथा अन्य संस्करणों में देखकर जान सकते हैं।

१. प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, प्रयाग, १९५२ ई०।
२. प्रकाशक—रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल, कलकत्ता, १९३९ ई०।

[१, २] बारह बानि और बनवारी

'पद्मावत' में पहला शब्द अनेक स्थलों पर आया है, यथा :

काह कसौटी कसिए 'कंचन बारह बानि'।[१] [अधिक चढ़ै तेहि बान]

कुन्दन कया दुवादस बानी।[२]

'कनक दुवादस बानि होइ' यह सोहाग वह माँग।[३]

[कनक दुवादस माँगतेहि]

'आईन-ए-अकबरी' में कहा गया है, "भारत में सोने की सर्वोच्च कक्षा की शुद्धता को 'बारह बानि' कहा जाता है, क्योंकि भारतीय शुद्धता की बारह कक्षाएँ मानते हैं।"[४]

दूसरा शब्द यद्यपि एक ही बार आया है किन्तु उसीसे सम्बद्ध है :

दीन्हि कसौटी 'औ बनवारी'।[५] [ओपनवारी]

आ० अ० में कहा गया है, "कुछ लम्बी शलाकाओं के सिरों पर, जो पीतल या वैसी ही किसी धातु की बनी होती हैं, सोने के छोटे-छोटे टुकड़े लगे होते हैं जिन पर उनकी शुद्धता अंकित रहती है। जब कारीगरों को सोने के किसी नवीन टुकड़े की शुद्धता जाँचनी होती है, वे इस नवीन टुकड़े से और फिर उक्त शलाकाओं से कसौटी पर रेखाएँ खींच लेते हैं और दोनों प्रकार की रेखाओं का मिलान करके वे उक्त सोने की शुद्धता जान लेते हैं [इन्हीं शलाकाओं को बनवारी कहा जाता है।]"[६]

[३] सूरजक्रान्त

यह शब्द 'पद्मावत' में दो बार आता है, किन्तु दोनों बार अत्यधिक पाठान्तर-बाहुल्य के साथ :

'सुरुज क्रान्ति करा जसि' निरमल नीर सरीर।[७]

[सुरुज किरिन तें आगरि, सु० क्रान्ति तें आगरि, सू० रानी तसकरा,
सु० करा तेइँ निरमल, सु० करा नित करा जस, सु० कराँ जस निरमल,
सु० क्रान्ति जस निरमल, सु० कीता कातिक जस, सु० करा नित आवै,
सु० करा नित आगरि, सु० किरिन जसि निरमल]

'सूरुज क्रान्तिकरा' निरमली।[८]

[सुरुज क्रान्ति ते सुठि, सु० क्रान्ति दुति गिव, सु० के करा ताहि,
सु० करा नित करा, सु० किरिनि दुतिगियँ, सु० क्रीति करा,
सु० कराँ दुति गियँ]

१. २७३.६।
२. ४६८.१।
३. १००.१।
४. जिल्द १, पृष्ठ १८।
५. ८३.५।
६. जिल्द १, पृष्ठ १६
७. ४६८.८।
८. ४८१.६।

यह 'सूर्यकान्त' है, जिसका विवरण 'सूरजक्रान्त' करके आ० अ० में इस प्रकार दिया गया है, "दोपहर के समय लोग एक गोल टुकड़ा, एक श्वेत और कान्तियुक्त पत्थर का, जिसे हिन्दी में 'सूरजक्रान्त' कहते हैं, धूप में रख देते हैं और तदनन्तर वे एक रुई का टुकड़ा उसके पास रख देते हैं जो कि उक्त पत्थर की आँच से जल उठता है।"[1]

[४-६] अवरंग, ओरँगा और ओरँगाना

पहला शब्द 'पद्मावत' में इस प्रकार आता है :

राघौ चेतनि चेतनि महा। 'आइ ओरँगि' राजा के रहा।[2] [आऊसरि]

आ० अ० में राज-सिंहासन को 'अवरँग' कहा गया है।[3] अतः 'ओरँगि' का अर्थ कदाचित् होगा, 'राज-सिंहासन के निकट'। 'पद्मावत' के उपर्युक्त शेष दो शब्द भी इसी अवरंग' से व्युत्पन्न प्रतीत होते हैं, यद्यपि इनमें से अन्तिम को 'अरकान-ए-दौलत' से व्युत्पन्न माना गया है :

'ओरँगा' केर कठिन है जाना।[4] [ओरिरँग]
सबै छत्रपति 'ओरँगन्ह' राजा।[5] [औगढ़]
छतिस लाख 'ओरँगन्ह' असवारा।[6] [दरिगह, तुरुक]
जाँवत अहै सकल 'ओरँगाना'।[7] [अरकाना]
अष्टौ कुरी नाग 'ओरँगाने'........।[8]
[वै, सब, सब ओरँगे, सब अरुझे, सब ढरिकै, सब वारगे,
ओरंगावन, अरघानी]

[७] बारगाह

'पद्मावत' में आता है :

चितउर सौंह बारिगह तानी।[9]

आ० अ० में खेमों-शामियानों के साथ इसे इस प्रकार वर्णित किया गया है, "बारगाह जब बड़ा होता है, १०,००० से अधिक व्यक्तियों के लिए पर्याप्त होता है। इसके लगाने में एक हज़ार फ़र्राश लगते हैं, जो यन्त्रों की सहायता से इसे एक सप्ताह में लगा पाते हैं।... सादा बारगाह (जिसमें सोने आदि का काम नहीं होता है) बनाने में १०,०००) या अधिक ही रुपये लगते हैं, और यदि वह अलंकृत बनाया जाता है, तो उसका मूल्य अपरिमित होता है।"[10]

१. जिल्द १, पृष्ठ ५०।
२. ४४६.१।
३. जिल्द १, पृष्ठ ५२।
४. ५२४.६।
५. २६.३।
६. ४५७.३।
७. १२८.२।
८. ६६.६।
९. ४६५.५।
१०. जिल्द १, पृष्ठ ५५।

[८-१०] देवजीरा, मधुकर और झिनवाँ

'पद्मावत' में अनेक प्रकार के चावलों के साथ इनका भी उल्लेख हुआ है :

मधुकर ढेला 'जीरा' सारी ।[१] [झीना]
'झिनवा' रौंदा दाउद खानी ।[२] [छेउअन]

आ० अ० में 'देवजीरा' को उत्कृष्ट कोटि के चावलों में बताया गया है, और कहा गया है कि वह राजकीय भोजनालय के लिए ग्वालियर से आता था।[३]

और, अन्यत्र उसमें कहा गया है, "सुखदास, मधुकर और झिनवाँ, जो अपनी सफ़ेदी, कोमलता, सुगन्धि और उत्कृष्टता में प्रायः अतुलनीय होते हैं, अवध में उत्पन्न होते हैं।[४]

[११] चुक

'पद्मावत' में यह इस प्रकार आता है :

चुक्क लाइ कै रींधे भाँटा ।[५]

आ० अ० में राजकीय भोजनालय की सामग्री में इसका भी उल्लेख करते हुए कहा गया है कि "यह एक अम्ल पदार्थ होता है, जो नारंगी और नींबू को इकट्ठा उबालकर बनाया जाता है।"[६]

[१२-१५] पेड़ी, गड़ौता, नौनी और करहँज

'पद्मावत' में पान की पत्तियों के ये नाम इस प्रकार आते हैं :

पेंडी हुत सुनि रास बखानू ।[७]
जोग लीन्ह तन कीन्ह गड़ौना ।[८]
'कर भँज' किंगरी लै बैरागी ।[९] [करहिंजो]
'नेवती भएउँ' बिरह कै आगी ।[१०]

[नौतन होइ, ज्योतिन होइ, नेवती होहिं]

आ० अ० में कहा गया है, "पान की सात प्रकार की पत्तियाँ होती हैं जो नौ नामों से प्रसिद्ध हैं : (१) पेड़ी अर्थात् वह करहँज जो गवे के लिए छोड़ दिया जाता है, (२) नौती, (३) बहुती, (४) छीव, (५) अधिनीड़ा, (६) अगहनिया या लेवार, और (७) करहँज।"[११]

१. ५४४.३ ।
२. ५४४.२ ।
३. जिल्द १, पृष्ठ ६० ।
४. जिल्द २, पृष्ठ १८१ ।
५. ५४८.३ ।
६. जिल्द २, पृष्ठ १८२ ।
७. ३०६.२ ।
८. ३०६.३ ।
९. ३०६.४ ।
१०. वही ।
११. जिल्द १, पृष्ठ ७७ ।

[१६] बाँक

'पद्मावत' में दो स्थलों पर आता है :

बाँका आनि छुवावहिं हेले।[१]

आवहिं डोंब छुवावहिं बाँका।[२]

आ० अ० में इसे शस्त्रों में गिनाया गया है[3] और तत्कालीन शस्त्रों के बनाये गए चित्रों में यह दो बल की खंजर के समान दिखाया गया है। टीकाओं में इसे धरिकारों का एक औज़ार बताया गया है।

[१७] जेबा

'पद्मावत' में आता है :

'जेबा' खोलि राग सो मढ़े।[४] [जीभा]

आ० अ० में इसे कवचों की सूची में गिनाया गया है।[५]

[१८] नारीं

'पद्मावत' में यह शब्द एक से अधिक बार आता है, यथा :

धरीं विषस गोलन्ह की 'नारीं'।[६] [मारा]

कहौं सिंगार सो जैसी नारीं।[७]

आ० अ० में दो सामान्य प्रकार की तोपों का उल्लेख किया गया है, "गजनाल—जो एक हाथी के द्वारा ले जाई जा सकती है, और नरनाल—जो एक मनुष्य के द्वारा ले जाई जा सकती है।"[८] और उसमें यह भी कहा गया है, "आजकल बहुत-सी तोपें इतनी बड़ी बनाई जाती हैं कि उनके गोले १२-१२ मन के होते हैं और उनमें से एक-एक को खींचने के लिए अनेक हाथी और एक हज़ार जानवर चाहिएँ।"[९]

[१९] चौरासी

'पद्मावत' में आता है :

चँवर मेलि चौरासी बाँधे।[१०]

आ० अ० में कहा गया है, "चौरासी बहुत-सी घंटियों का बना होता है जो एक कपड़े पर गुथी रहती हैं।"[११]

१. २८०.४।
२. ६४२.६।
३. जिल्द १, पृष्ठ ११७।
४. ४६६.४।
५. जिल्द १, पृष्ठ ११८।
६. पृष्ठ ५०४.३।
७. पृष्ठ ५०७.१।
८. जिल्द १, पृष्ठ ११६।
९. वही।
१०. ५१३.५।
११. जिल्द १, पृष्ठ १३५।

[२०] टैया

'पद्मावत' में आता है :

टैया चँवर बनाए····।[१] [तैसे, नय्या, तैस]

आ० अ० में कहा गया है, "टैया पाँच लोहे की पट्टियों का बना होता है, जो एक-एक बित्ता लम्बी और चार-चार अंगुल चौड़ी होती हैं।" टैया के बाँधने की विधि भी उसमें दी हुई है।[२]

[२१] पाखर

'पद्मावत' में आता है :

गज मैं मत 'पखरे रजवारा'।[३] [सो राजा वारा, बिखरे रजवारा]

बरन बरन 'पखरे' अति लोने।[४]

आ० अ० में कहा गया है, "पाखर कवच (armour) के समान होता है, और फौलाद का बनाया जाता है; सिर और सूँड के लिए वह अलग-अलग होता है।"[५] टीकाकारों ने 'पाखर' का अर्थ 'झूल' किया है।

[२२] गज झाँप

'पद्मावत' में आता है :

—औ डाले 'गज झाँप'।[६] [गज झाँप, सब झाँप, गल झाँप, जगहस्त]

आ० अ० में कहा गया है, "गज झाँप एक प्रकार के मज़बूत कपड़े का बना होता है जो अलंकरण के लिए पाखर के ऊपर डाला जाता है। यह भव्य प्रतीत होता है।"[७]

[२३, २४] चौगान और हाल

'पद्मावत' में इनके सम्बन्ध की उक्तियाँ दो बार आती हैं :

तब पावौं बा दिल असनाऊँ। जीति मैदान गोइ ले जाऊँ।
आजु खरग चौगान गहि करौं सीस रन गोइ।
खेलौं सौहे साहिसों हाल जगत् महँ होइ॥[८]
होइ मैदान परी अब गोई। खेल हाल दहुँका कर होई।····
हाल सो करै गोइलै बाढ़ा। कूरी दुहूँ बीह कै काढ़ा।····
मुहमद खेल पिरेम का खरी कठिन चौगान।
सीस न दीजै गोइ जौं हाल न होइ मैदान॥[९]

१. ५१२.८।
२. जिल्द १, पृष्ठ १३६।
३. ५१४.१।
४. ५१३.४।
५. जिल्द १, पृष्ठ १३६।
६. ५१२.८।
७. जिल्द १, पृष्ठ १३६।
८. ६२६.७-९।
९. ६२८. १, ४, ८, ९।

आ० अ० में कहा गया है, "चौगान का खेल दो प्रकार से खेला जाता है, जिनमें से एक यह है कि गेंद को चौगान के डण्डे के मुड़े हुए सिरे के द्वारा बढ़ाते हुए (मैदान के) बीच से हाल तक (उन स्तम्भों तक जो मैदान के सिरे पर उसकी सीमा चिह्नित करने के लिए गड़े रहते हैं) ले जाते हैं। इस प्रकार के खेल को रोल कहते हैं।....जब गेंद हाल तक पहुँच जाती है, तब नक्कारा बजाया जाता है, जिससे कि दूर और निकट के सभी सुन लें।....कभी-कभी बाज़ियाँ भी वदी जाती हैं, खिलाड़ी आपस में बाज़ियाँ जीतते हैं, और जो खिलाड़ी गेंद को हाल तक पहुँचा देता है, वह सबसे अधिक बाज़ियाँ जीतता है।"[1]

[२५-२८] अश्वपति, गजपति, नरपति और गढ़पति

'पद्मावत' में ये नाम दो बार आए हैं :

असुपतीक सिर मौर कहावा। गजपतीक आँकुस गजनावा।
नरपतीक कहाव नरिन्दू। भुअपतीक जग दोसर इन्दू।[2]
गढ़ पर बसहिं चारि गढ़पती। असुपति, गजपति 'औ नरपती।'[3]
[भुअनपति औ नरपती, भूनरपती]

आ० अ० में अश्वपति, गजपति, नरपति और गढ़पति—चार प्रकार के राजा बताये गए हैं—यद्यपि ये ताश के खेल के राजों के प्रसंग में बताये गए हैं : "अश्वपति वह कहलाता है जिसकी शक्ति घोड़ों की संख्या में सन्निहित होती है; गजपती वह जिसकी शक्ति हाथियों की संख्या में सन्निहित होती है, और नरपती वह जिसकी शक्ति पैदल सेना में सन्निहित होती है।"[4] यद्यपि 'गढ़पती' का लक्षण उसमें नहीं दिया गया है, किन्तु उपर्युक्त से यह अनुमान किया जा सकता है कि 'गढ़पती' वह कहलाता है जिसकी शक्ति अपने सुदृढ़ गढ़ में सन्निहित होती है।

[२९-३२] आउज, सुरमण्डल, पिनाक और अँबिरती

'पद्मावत' में आता है :

जन्त्र पखाउझ 'आउझ' बाजा।[5] [औजत, आवजो]
'सुरमण्डल' रबाब भल साजा।[6] [सुर मादर]
'बीन पिनाक' कुमाइच कहे।[7] [बीना बेनु]
'बाजि अँबिरती' अति गह गहे।[8] [बाजे अंब्रित]

आ० अ० में ठोंककर बजाए जाने वाले बाजों में 'पखावज' के साथ ही 'आवज' तथा

१. जिल्द १, पृष्ठ ३०९।
२. २६.६, ७।
३. ४४.१।
४. जिल्द १, पृष्ठ ३१८।
५. ५२७.३।
६. ५२७.२।
७. ५२७.३।
८. वही।

तन्त्र-वाद्यों में अन्यों के साथ 'सुरमण्डल', 'पिनाक' तथा 'अंब्रिती' भी हैं।[1]

प्रत्येक प्रयोग में भूलें होने की सम्भावना होती है, और किसी भी विकृत प्राचीन वस्तु को उसके अपने मूल रूप में पुनर्निर्मित करने में तो यह सम्भावना और भी अधिक होती है। अतः 'पद्मावत' के मेरे पाठ-निर्धारण और पाठ-पुनर्निर्माण-सम्बन्धी प्रयोग में भी भूलें हो सकती हैं। ऊपर आये ३२ विशिष्ट शब्दों में से अन्तर केवल (१३) तथा (१५) के सम्बन्ध में है। मेरे संस्करण के 'गड़ौना' के स्थान पर आ० अ० में शब्द 'गड़ौता' है, और मेरे संस्करण के 'करभँज' के स्थान पर आ० अ० में शब्द 'करहँज' है। आ० अ० के 'गड़ौता' पाठ की शुद्धता के सम्बन्ध में तो मैं नहीं कह सकता, किन्तु मेरे संस्करण के 'गड़ौना' पाठ की शुद्धता प्रमाणित है; क्योंकि 'गड़ौता' पाठ से तुक बिगड़ जाता है :

सुनि तुम्हार संसार बड़ौना। जोग लीन्ह तन कीन्ह गड़ौना।

असम्भव नहीं कि आ० अ० में प्रतिलिपि की भूल से 'नूँ' का 'ते' हो गया हो—अन्तर केवल एक और दो बिन्दुओं का है। मेरे 'करहँज' पाठ की शुद्धता इतने स्पष्ट रूप से प्रमाणित नहीं है, फिर भी जहाँ छूटने और बढ़ने का प्रश्न आता है, प्रतिलिपि-क्रिया में छूटने की सम्भावना कहीं अधिक होती है। अतः असम्भव नहीं कि आ० अ० के भी मूल पाठ में 'करभँज' ही रहा हो, और प्रतिलिपि-क्रिया में उसका 'बे' छूट गया हो। किन्तु यदि भूल मेरी ही ओर हो तो भी बत्तीस में से एक के सम्बन्ध में भूल—और वह भी इतनी साधारण भूल—मुझे हर्ष है कि मेरे उन सम्पादन-सिद्धान्तों की यथार्थता ही प्रमाणित करती है जिनके आधार पर मैंने 'जायसी-ग्रन्थावली' के अपने उक्त संस्करण में 'पद्मावत' का पाठ-निर्धारण और पुनर्निर्माण किया है।



अगरचन्द नाहटा

'पृथ्वीराज रासो' का विस्तार

साधारणतया जो वस्तु २५-३० हजार से ऊपर की संख्या में चली जाती है, उसे हम लाख की संख्या में सम्बोधित करते हुए लोगों को पाते हैं। 'महाभारत' और 'सूरसागर' के श्लोकों एवं पदों का परिमाण भी लाख की संख्या में कहा व सुना जाता है। यही बात 'पृथ्वीराज रासो' के सम्बन्ध में भी हुई। वर्तमान शोधक विद्वानों में सर्वप्रथम श्री जेम्स कर्नल टॉड ने अपने 'एनल्स एण्ड एण्टीक्यूटिस ऑफ राजस्थान' में रासो का परिमाण लाख श्लोक परिमाण का बतलाया है। उन्होंने ३० हजार श्लोकों के अनुवाद करने का भी उल्लेख किया है।

पाश्चात्य विद्वानों में रासो पर मुग्ध और उसके मर्मज्ञ सर्वप्रथम विद्वान् टॉड ही थे।

तदनन्तर माननीय गौरीशंकर ओझा ने 'कोशोत्सव-स्मारक संग्रह-ग्रन्थ' में प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो का निर्माण-काल' शीर्षक अपने लेख में एक प्राचीन प्रमाण के आधार पर रासो के एक लाख पाँच हजार श्लोक प्रमाण होने के प्रवाद को दोहराया। वे लिखते हैं—"भाषा-

१. जिल्द ३ पृष्ठ २६६-७०।

साहित्य के आधुनिक इतिहास-लेखक जब 'पृथ्वीराज रासो' की घटनाएँ अशुद्ध बताते हैं तब यह कहते हैं कि मूल 'पृथ्वीराज रासो' छोटा होगा और पीछे लोगों ने उसे बढ़ा दिया हो, यह सम्भव है।" परन्तु यह कथन भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि चन्दबरदाई के वंशधर कवि यदुनाथ ने करौली के यादव राजा गोपाल पाल (गोपालसिंह) के राज्य-समय अर्थात् वि० सं० १८०० के आस-पास 'वृत्त विलास' नामक ग्रन्थ बनाया। उसमें वह अपने वंश का परिचय देते हुए लिखता है कि "चन्द ने एक लाख पाँच हज़ार श्लोक के परिमाण का 'पृथ्वीराज रासो' के चरित्र का रासो बनाया।

एक लाख रासो कियो सहस पंच परिमाण।
पृथ्वीराज नृप को सुजसु जाहर सकल जहान॥

यह कथन नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित रासो के परिमाण से मिल जाता है। यदुनाथ के यहाँ अपने पूर्वज का बनाया हुआ मूल ग्रन्थ अवश्य होगा, जिसके आधार पर ही उसने उक्त ग्रन्थ का परिमाण लिखा होगा। ऐसी स्थिति में 'पृथ्वीराज रासो' के छोटे होने की कल्पना होनी ही निर्मूल है।"

पता नहीं ओझाजी-जैसे संशोधक विद्वान् ने, नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित रासो का परिमाण 'वृत्त विलास' के उल्लेख से मिलान खाता है, यह बिना जाँच के कैसे लिख दिया। सभा के प्रकाशित संस्करण का भी परिमाण उससे आधा भी नहीं है।

मुझे और भी अधिक आश्चर्य होता है जब कि हमारे विद्वान् बिना किसी तरह की जाँच किये रासो के परिमाण के सम्बन्ध में वही बात अब तक दोहराते जाते हैं। उदयपुर के डॉक्टर मोतीलाल मेनारिया की थीसिस 'राजस्थान का पिंगल साहित्य' के नाम से सन् १९५२ में प्रकाशित हुई, उनमें वे लिखते हैं कि जो भी हो 'पृथ्वीराज रासो' से हमारा अभिप्राय यहाँ उस रासो से है जिसमें एक लाख छन्द और ६९ सर्ग हैं, जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा तथा बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की तरफ से प्रकाशित हुआ है।

कर्नल टॉड ने जो ३० हजार श्लोकों का अनुवाद करने की बात लिखी है वह भी कहाँ तक ठीक है, कहा नहीं जा सकता। पर मेनारिया जी ने अपने इस ग्रन्थ के पृष्ठ ३३ में टॉड के कथन का हिन्दी-अनुवाद दिया है, उसमें ३ हजार छन्दों का अंग्रेजी-अनुवाद करने का लिखा है। पता नहीं ३० हजार का ३ हजार उन्होंने अपनी कल्पना से किया है अथवा मूल या किसी आधार से। सन् १९५२ में प्रकाशित पण्डित दुर्गाशंकर मिश्र 'पारिजात' की 'हिन्दी कवियों की काव्य-साधना' पुस्तक के पृष्ठ ११ में ३० हजार पद्यों का अनुवाद करने का उल्लेख किया गया है। जहाँ तक मेरा खयाल है कर्नल टॉड का रासो का परिमाण एक लाख 'छन्द' और अनुवाद ३० हजार पद्यों का करने का अभिप्राय न होकर इतने श्लोक परिमाण का है। ३२ अक्षरों का एक श्लोक अनुष्टुप छन्द का श्लोक माना जाता है। रासो के कई-कई छन्द तो बहुत ही बड़े हैं। उनके एक छन्द या पद्य में अनेक श्लोक माने जायँगे।

अब सर्वप्रथम हम रासो के परिमाण के सम्बन्ध में प्रकाशित संस्करण प्राप्त प्रतियों के आधार से विचार करते हैं। सबसे पहले नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण को ही लें। सभा के संस्करण के कुल २६१५ पृष्ठ हैं। प्रत्येक पृष्ठ में करीब २० से २४ पंक्तियाँ हैं और प्रति पंक्ति में १६ से ४२ तक अक्षर छपे हैं। इसीसे मध्यवर्ती शब्द-संख्या गिनने से रासो का परिमाण ३६००० श्लोक

होने की गणना बैठती है। इसमें से अन्तिम 'महोबा समय' तो वास्तव में रासो से अलग ही है। इसलिए 'महोबा समय' को बाद में दे देने से पृष्ठ-संख्या २५०६ ही रहती है और उसका परिमाण तो ३४००० के करीब ही रहता है। बहुत-से पृष्ठों में पंक्तियों व अक्षरों की संख्या कम है, इसलिए वास्तव में परिमाण ३० से ३२ हजार के बीच में ही समझना चाहिए। बृहद् संस्करण की हस्त-लिखित प्रतियों की जाँच करने से भी यही बात सिद्ध होती है। श्री मोतीलाल मेनारिया यदि अपने 'राजस्थान में हिन्दी के हस्त-लिखित ग्रन्थों की खोज' भाग (एक) में रासो में दिये हुए अपने विवरण पर ही ध्यान देते तो वे रासो का परिमाण १ लाख छन्द बतलाने का कभी भी प्रयत्न नहीं करते। उनकी प्रति नम्बर ४ के विवरण में श्लोक-संख्या २६००० स्पष्ट लिखी हुई है। अन्य प्रतियों की गणना करने से भी इसीके करीब व इससे कम ही परिमाण निकलेगा। उदाहरणार्थ संवत् १७६० वाली जिस प्रति को वे सबसे अधिक महत्त्व की मानते हैं और जिसमें पूरे ६९ समय होने की सूची भी दी गई है, उसकी पृष्ठ-संख्या ८४६ है, प्रति पृष्ठ पंक्ति ११ और प्रति पंक्ति ३३ से ३६ अक्षर होना कहा गया है। इससे तो परिमाण और भी कम बैठता है, यों हमारी गणना से २७॥ हजार श्लोक का ही परिमाण बैठता है।

रासो की हस्त-लिखित प्रतियों का सबसे अधिक विवरण इन पंक्तियों के लेखक ने ही संग्रहीत किया है। उनमें अभी तक ३०००० श्लोक से अधिक परिमाण की कोई भी प्रति कहीं भी जानने में नहीं आई। कई प्रतियों में तो परिमाण प्रति के लेखकों ने भी दे दिया है, अन्य की गणना कर ली गई है।

रासो के परिमाण के सम्बन्ध में दो प्रकार के प्रमाण मिलते हैं। प्रथम तो रासो के अन्दर उल्लिखित है और दूसरा प्रति के लेखकों ने गणना करके लिखा है। जहाँ तक स्वयं रासो के उल्लेखों का सम्बन्ध है उसके लघुतम संस्करण में पाँच हजार मध्यम और बृहद् संस्करण में ७००० श्लोक होने का सूचक पद्य पाया जाता है।[1] पंडित मथुराप्रसाद दीक्षित को रासो का मध्यम संस्करणत्व ही प्राचीन प्रतियों में प्राप्त हुआ था और उसमें 'सत्त सहस रासो' वाला पाठ मिला।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि रासो को लक्षाधिक श्लोक परिमाण बतलाने की परम्परा कितनी प्राचीन है। सं० १८०० के आस-पास के रचित 'वृत्त विलास' का उद्धरण तो ऊपर दिया ही जा चुका है, मुझे इससे भी कुछ प्राचीन उल्लेख प्राप्त हुआ है।

गत वर्ष जैन मुनि विनयसागर जी से मुझे रासो की दो खण्डित प्रतियाँ प्राप्त हुईं। उनमें से 'कणवज खण्ड' वाली प्रति में १३८४ पद्य हैं और इस प्रति के अनुसार इस समय का परिमाण ४०३४ श्लोकों का व इस समय की संख्या ५८वीं है। यह प्रति संवत् १७७७ के माघ कृष्णा ५ शनिवार को सीतामऊ में खरतरगच्छ के उपाध्याय अमरनन्दन के शिष्य घनसुन्दर के द्वारा लिखी हुई है। इसका श्लोक परिमाण ४०३५ लिखने के पश्चात् २ पद्य कुछ पीछे से लिखे हुए इस प्रकार मिलते हैं :

संवत शिव पैंतीस में अष्टम रवि उजियाल।
चन्द विरुदय कवि यणह ग्रन्थ सुरच्यो विसाल। १३८५

---

१. दो प्रतियों में ३२ एवं ४२ हजार परिमाण दिया है पर गणना करने पर वह बैठता नहीं है।

सवा लक्ख संख्या सकल, अधिक अपूरब वत्त।
वेद सुक्त पुराणमय वरणि वार्ता सत्य ॥ १३८७

इनमें से पहले पद्य में रासो का रचना-काल ११३५ बतलाया है, जो अब तक कहीं भी देखने में नहीं आया और दूसरे में उसका परिमाण सवा लाख श्लोक का। कहना नहीं होगा कि ये दोनों ही बातें भ्रान्त एवं कल्पित हैं। वास्तव में रासो की आज तक कहीं भी, कोई भी प्रति लाख श्लोक परिमाण की नहीं मिलती।



डॉक्टर टीकमसिंह तोमर

जटमल और उसकी 'गोरा-बादल की कथा'

जीवन-वृत्त

जटमल ने अपने विषय में लिखा है कि "मोरछड़ो के शासक पठान सरदार, नासिरनन्द अलीखाँ न्याजीखाँ के समय में धर्मसी के पुत्र नाहर खाँ जटमल ने सिंबुला ग्राम के बीच अपने ग्रन्थ की रचना की!" सम्भवतः नाहरखाँ जटमल की उपाधि थी अथवा वह मुसलमान हो गया था। श्री ओझाजी ने कवि जटमल-रचित 'गोरा-बादल की बात' शीर्षक लेख में लिखा है कि ओसवाल महाजनों की जाति में नाहर एक गोत्र है, अतएव सम्भव है कि जटमल जाति का ओसवाल महाजन हो।[1]

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की सन् १९४० की हस्त-लिखित ग्रन्थों की अप्रकाशित खोज-रिपोर्ट में गोरा-बादल की कथा की एक नई प्रति का उल्लेख किया गया है। यह हस्त-लिखित ग्रन्थ पण्डित मदनलाल जी ज्योतिषी मिश्र, लक्ष्मण जी के मन्दिर के पीछे, भरतपुर के पास सुरक्षित है। इस ग्रन्थ में जटमल का यह वृत्त दिया है:

"आणद उछब होत घर-घर देषता नहीं सोक।
राजा तिहा अलीषान नु षानना सुर नन्द ॥
सकल सरदार पाठाण माहे अनु नषत्र मां चन्द।
धरमसीहुँ नन्द नाहर जाट जटमल नाम।
कही कथा वरण्य कें विच साँवेला गाम ॥
कहाँ यकाँ आणंद उपजत सुणत सब सुष होइ।
जटमल हो गुणी अणाँ विघन न लागे कोइ ॥"[2]

इस उद्धरण के अनुसार नासिरखाँ के पुत्र अलीखाँ के समय में धर्मसिंह के आत्मज नाहर जटमल जाट ने साँवेला ग्राम में इस कथा की रचना की। इस विवरण से नाहर जटमल की उपाधि प्रतीत होती है और उनकी जाति जाट ठहरती है।

"संवला (सुवुला, साँवेला) गाँव कहाँ है इसका पता अभी तक नहीं चला, पर

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १३, पृष्ठ ४०२।
२. का० ना० प्र० सभा की अप्रकाशित खोज-रिपोर्ट, १९४०, M. S. ७१/१६६।

इतना तो निश्चित है कि वह (जटमल) मेवाड़-निवासी नहीं था। यदि ऐसा होता तो चित्तौड़ के राजा रत्नसेन को जो गुहिल वंशी था, कदापि वह चौहान-वंशी न लिखता।"[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि श्री ओझाजी का उक्त मत केवल अनुमान पर अवलम्बित है। जटमल की इस ऐतिहासिक भूल का कोई और भी कारण हो सकता है।

जटमल-कृत 'गोरा-बादल की कथा' की प्राप्त हस्त-लिखित प्रतियों में उसके विभिन्न नाम मिलते हैं, यथा 'गोरे-बादल की कथा', 'गोरा-बादल री कथा', 'गोरा-बादल की बाता'।

जटमल ने इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० १६८५ फाल्गुन पूर्णिमा (१६२८ ई०) अथवा १६८० वि० (१६२३ ई०) में की थी।[2]

जटमल ने अपने उक्त ग्रन्थ में अलाउद्दीन के चित्तौड़-दुर्ग के आक्रमण के अवसर पर गोरा-बादल के द्वारा वीरता प्रदर्शित करने का वर्णन किया है।

कथानक

जटमल-कृत 'गोरा-बादल की कथा' का कथानक ऐतिहासिक होते हुए भी उसमें रोचकता लाने के लिए पर्याप्त काल्पनिक अंश वर्तमान है। ग्रन्थ के आरम्भ में राणा रत्नसेन और भाट की वार्ता में नाटकीय त्वरा के दर्शन होते हैं। योगी का आगमन, उसकी सहायता से मृग-चर्म पर उड़कर सिंहल द्वीप पहुँचना तथा रत्नसेन को पद्मावती की प्राप्ति के उपाय, एकदम असम्भव तथा आकस्मिक घटनाएँ हैं, पर इनसे कथानक में विस्मय, चित्ताकर्षकता और रोचकता का समावेश हो गया है। इस प्रकार की घटनाएँ काल्पनिक जगत् में ही होती हैं, व्यावहारिक क्षेत्र में उनका होना सम्भव नहीं। जटमल ने चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी कथानक में परिवर्तन किये हैं। अनेक स्थलों पर कवि अधिक स्वाभाविक कारण उपस्थित करता है।

जटमल ने पात्रों के भावों—कृतज्ञता, वीरता, वात्सल्य आदि—के सफल चित्रण के लिए कथानक का समुचित प्रयोग किया है, पर उसने स्त्री-पुरुष-जाति-वर्णन द्वारा कथानक की शृङ्खला को नष्ट कर दिया है। इससे कथावस्तु को भारी आघात पहुँचा है। जटमल ने कतिपय स्थलों पर कथानक के निर्वाह में भयंकर भूलें भी कर दी हैं।

ऊपर के विवेचन के पश्चात् ज्ञात होता है कि जटमल ने कथानक के प्रयोग में कुछ त्रुटियाँ की हैं, पर उसको अधिक रोचक बनाने के लिए कल्पना-शक्ति की भी पूर्ण सहायता ली है। कथानक-चित्रण में उसे पर्याप्त सफलता मिली है।

जटमल ने 'गोरा-बादल की कथा' में प्रचलित वीर-काव्य-शैली का प्रयोग किया है, पर नाम गिनाने, नादात्मक और द्वित्व-वर्ण वाली पद्धति का नहीं के बराबर प्रयोग किया है। ऐसा करने से ग्रन्थ की रोचकता में वृद्धि हुई है। पर अनुप्रास के फेर में पड़ने के कारण 'गोरा-बादल की कथा' कहीं-कहीं पर नीरस और अरोचक हो गई है। जहाँ पर जटमल ने नाम गिनाने की चेष्टा की है वहाँ पर भी काव्यगत गुणों की हानि हुई है। कहीं-कहीं पर शब्दों की तड़क-भड़क ही के जाल में दृष्टि फँस जाती है।

इस ग्रन्थ में ब्रज भाषा का प्रयोग हुआ है पर उस पर सर्वत्र राजस्थानी का प्रभाव वर्तमान है। यदि यह कहा जाय कि 'गोरा-बादल की कथा' की भाषा कतिपय स्थलों पर राजस्थानी

---

१. का० ना० पत्रिका, भाग १३, पृष्ठ ४०२।

२. 'गोरा-बादल की कथा', छं० १४६ (पाद-टिप्पणी सहित)।

के भार से इतनी दब गई है कि उसके वास्तविक स्वरूप का जानना कठिन हो जाता है, तो अनुचित न होगा। जटमल ने संस्कृत की शब्दावली के अपभ्रंश-रूपों का प्रयोग किया है, जैसे खेत (क्षेत्र), लक्खण (लक्षण), प्रापत (प्राप्त) इत्यादि।

इसके साथ ही फारसी-अरबी आदि के अमली (शासक), हरम, दीदार शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार जटमल की शैली और भाषा कतिपय दोषों और त्रुटियों से युक्त होते हुए भी काव्योचित गुणों से ओत-प्रोत है। वास्तव में जटमल और उसका काव्य 'गोरा-बादल की कथा' हिन्दी-साहित्य में कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।



मूल्यांकन

बच्चनसिंह

संस्कृति और सभ्यता के रूप

स्वातन्त्र्य-संग्राम के जागरण-काल में, जब देश राजनीतिक दृष्टि से ही विदेशियों का दास नहीं था, बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से भी दासता की ओर तेजी से बढ़ रहा था, जयशंकर 'प्रसाद' ने सांस्कृतिक जागरण का तूर्य-नाद किया। उनके कई प्रमुख ऐतिहासिक नाटकों में भारतीय तथा अभारतीय संस्कृतियों का संघर्ष चित्रित हुआ है।

देश की स्वतन्त्रता के बाद-युग की करवट के साथ, हमारी समस्याएँ भी बदलीं। राष्ट्रीयता का जो स्वर 'प्रसाद' के नाटकों में पाया जाता है वह बहुत-कुछ मन्द पड़ गया। उसके स्थान पर देश के सांस्कृतिक गौरव तथा उसके पुनर्मूल्यांकन की ओर लेखकों और विचारकों की दृष्टि गई। अंग्रेजों के डेढ़ सौ वर्षों के शासन में देश को पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क में आना पड़ा। उनके अनेक गुण दोषों का प्रभाव हमारे ऊपर पड़ा। इसके फलस्वरूप कुछ नई समस्याएँ भी उत्पन्न हो गई हैं। यहाँ पर हम जिन नाटकों का मूल्यांकन करने जा रहे हैं वे किसी-न-किसी रूप में पूर्वीय और पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता से सम्बद्ध हैं। 'वितस्ता की लहरें' दो विभिन्न जातीय आदर्शों और संस्कृति के संघर्ष की कहानी है। 'धर्म की धुरी' गांधीवादी आदर्शों पर, जो मूलतः आध्यात्मिक और सांस्कृतिक हैं, टिकी हुई है। 'अपना-पराया' के बीच खींची जाने वाली विभाजक रेखा वंश-परम्परा को अपना आधार न मानकर वातावरण-सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से उन्नत या अनुन्नत समाज को अपना आधार बनाती है। 'पर्दे के पीछे' के अधिकांश एकांकी आधुनिक सभ्यता के विकृत पक्षों तथा भ्रान्तिपूर्ण सांस्कृतिक मूल्यों पर व्यंग्य हैं।

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र मूलतः आदर्शवादी कलाकार हैं। भारतीय संस्कृति में अपनी अटूट आस्था और अडिग विश्वास को उन्होंने 'वितस्ता की लहरें' में व्यक्त किया है। उक्त नाटक के कथा-संकेत में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—"वितस्ता के तट पर दो विभिन्न जातियों और संस्कृतियों की टक्कर हुई थी जो अपने विधि-विधान और जीवन-दर्शन में एक दूसरी के विपरीत थीं। यवन-सैनिकों में विजय का उन्माद था तो पुरु और केकय जनपद के नागरिकों में देश के धर्म और पूर्वजों के आचरण की रक्षा का भार। दोनों ने एक-दूसरी को जाना और समझा और बहुत अंशों में वैर और द्रोह मिटाकर शील और

सहयोग के बढ़ने का अवसर दिया गया....''

अपने उपर्युक्त दृष्टिकोण को मूर्त रूप देने के लिए मिश्रजी ने परम्परा-मुक्त कथा को नया मोड़ दिया है। मिश्रजी की कल्पना के अनुसार पुरु अलिक सुन्दर से हारता नहीं बल्कि परिस्थितियाँ स्वयं विजयी को सम्मानजनक सन्धि करने पर बाध्य करती हैं। यूनानी इतिहास-लेखकों के आधार पर पुरु की पराजय सर्वथा असन्दिग्ध नहीं मानी जा सकती। नाटक के दूसरे अंक में पुरु यूनानी दूत टिथोनस से उसके इतिहास-लेखकों पर सन्देह प्रकट करते हुए कहता है—"कितनी बातें जो इनकी समझ में न आयँगी—नीचे-ऊपर कर लिख दी जायँगी। तुम्हारी स्तुति और दूसरों की निन्दा होगी इनके इतिहास में। आगे आने वाले विचारक इस इतिहास से भ्रम में पड़ेंगे....।'' ऐतिहासिक घटनाओं को नाटकीय रूप देने के लिए उसके कुछ तथ्यों को नया रूप दिया गया है। अलिक सुन्दर की प्रेयसी ताया का अपहरण तथा अभागे दारयहु की कन्या आर्त्तकाया की दो छोटी बहनों का यवन-शिविर से उद्धार ऐसी ही घटनाएँ हैं। पुरु के पुत्र का अन्त तक जीवित रखना ऐतिहासिक प्रमाणों के विरुद्ध है। इसे भारतीय नाट्य-सिद्धान्त की सुखात्मक परिणति का तकाजा समझना चाहिए। काल्पनिक स्वच्छन्दता का यथोचित उपयोग करते हुए भी उन्होंने इतिहास के मूल ढाँचे को बनाए रखा है।

यों भारतीय संस्कृति की भाँति यूनानी संस्कृति भी प्राचीन और महत्त्वपूर्ण स्वीकार की गई है। फिर भी अलिक सुन्दर का ध्वंसमूलक बर्बरतापूर्ण आक्रमण उसे बर्बर और विश्वास-घाती सिद्ध करता है। दारयहु की कन्याओं का अपहरण, अश्मक नेता अश्वकर्ण की पत्नी को छीन लेना, सुन्दरी ताया का पशा पोलस के विशाल भवनों में आग लगाना और स्वयं विजयी का इसकी प्रशंसा करना आदि घटनाएँ उसकी सांस्कृतिक हीनता का परिचय देती है। आयुध-जीवियों को किले के बाहर सुरक्षापूर्वक निकल जाने का वचन देकर भी उन पर विश्वासघाती आक्रमण करना उसके चरित पर अमिट दाग है। यूनानी इतिहासकार प्लूटार्क लिखता है—"यह आचरण उसके सामरिक यश पर काला धब्बा है"[१]—"खेत में काम करते हुए मालवों पर टूट पड़ना सामरिक नीति के विरुद्ध था"[२]—यूनानी संस्कृति का यही इतिहास-सम्मत दृश्य इस नाटक में अंकित हुआ है। यूनानी संस्कृति का यह चित्रांकन मिश्रजी के प्रथम नाटक 'अशोक' की याद दिलाता है। उक्त नाटक में मिश्रजी का दृष्टिकोण इसके ठीक विपरीत था। वहाँ पर ऐतिहासिक तथ्यों के साथ भी खिलवाड़ किया गया था। इस नाटक में उसका पूरा प्रायश्चित्त कर दिया गया है। किन्तु भारतीय संस्कृति का जो उदात्त सांस्कृतिक चित्र खींचा गया है वह कोरा आदर्शात्मक तथा एकांगी हो गया है। चरित्रों की स्वाभाविकता पर भी इसका बहुत अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा है।

'प्रसाद' के नाटक भी मूलतः भारतीय संस्कृति का चित्र उपस्थित करते हैं। किन्तु उनसे हमें सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की प्रेरणा मिलती है। प्राचीन ऐतिहासिक आच्छादन में उन्होंने वर्तमान और भविष्य के संकेत भी दिए हैं। मिश्रजी का दृष्टिकोण इतना व्यापक नहीं है। भारतीय संस्कृति का व्यामोह उन्हें इस प्रकार जकड़े हुए है कि उनकी पुनरुत्थानवादी (revivalist) प्रवृत्ति अपनी सीमाओं के बाहर नहीं झाँक पाती। संस्कृति के गत्यात्मक पक्ष पर ध्यान न देने

१. मैक क्रण्डल, पृष्ठ ३६०।
२. एरियन। ६,६।

से उसका अंकन बहुत-कुछ स्थिर और जड़ हो गया है। भूमर्ष सामन्तीय संस्कृति (बालक ब्राह्मण का वृद्ध क्षत्रिय से श्रेष्ठ मानना 'पुत्रार्थे क्रियते भार्या' मिहर-परम्परा में अटूट आस्था आदि) वीर-पूजा के संकेत हैं। भारतीय संस्कृति के इन महान् आदर्शों के साथ-साथ उन्हें तक्षशिला के बाजारों में निर्धन पिताओं का पशुओं की भाँति अपनी कन्याओं का बेचना भी देखना चाहिए था। वहाँ की बहु-विवाह-प्रथा पर भी दृष्टि डालनी चाहिए थी।

जातीय धर्म और गौरव की रक्षा के लिए पुरु ने जिस अदम्य उत्साह, अभूतपूर्व पौरुष और रण-नीति का परिचय दिया है उसे नाटककार ने पूरी सफलता से अंकित किया है। उसका समर्थ व्यक्तित्व सामाजिकों का आकर्षण-बिन्दु है। उसके व्यक्तित्व की महनीयता नाटकीय वातावरण को गम्भीर बनाती गई है। किन्तु भारतीय संस्कृति के प्रति आग्रह और अतिशय निष्ठा (जिसे मिश्रजी ने कथा-संकेत में अस्वीकार किया है) पुरु को मानवीय दुर्बलता की भूमि पर खड़ा होने भी नहीं देती। जबरदस्त प्रतिद्वन्द्वी के अभाव में उसका चरित्र उतना निखर नहीं पाता। 'प्रसाद' ने 'चन्द्रगुप्त' में पुरु को अपेक्षित महत्त्व नहीं दिया तो मिश्रजी ने अलिक सुन्दर को। अलिक सुन्दर की विजय की पूर्वगाथाएँ मोलियर के चरित्रों की भाँति पुरु को 'लिलीपुट द्वीप' में जाने से बचा लेती हैं, फिर भी एक हद तक अन्य पात्र उसके सामने बौने ही दिखाई पड़ते हैं। विष्णुगुप्त ऐसे नीतिज्ञ और कूट के पंडित से उसका मत-वैभिन्न्य उसको एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करता है। यवन-नीति को आत्मसात् करने वाला विष्णुगुप्त अपनी कूटनीतिज्ञता, संघटना-क्षमता और कार्य-कुशलता में काफी अच्छी तरह अंकित किया गया है।

ताया के शब्दों में लेखक ने मानवता को नया संदेश देते हुए लिखा है—"कुछ ऐसा हो कि मानवता के घाव पर शीतल विलेपन लगे और वितस्ता की लहरों में अनुराग का जल हो।" किन्तु क्या आज के युद्ध-लोलुप स्वार्थी-राष्ट्र अपने उन्माद को भूलकर शत्रु की वीरता, क्षमा, दया को वही मान्यता देंगे? आज की बहुमुखी समस्याएँ पहले की अपेक्षा अधिक उलझी हुई हैं। हृदय-परिवर्तन के सरल ढंग आज की भयग्रस्त और संत्रस्त मानवता की पीड़ा दूर करने में बहुत अधिक समर्थ नहीं हैं। इसके लिए जबरदस्त ऑपरेशन की आवश्यकता है।

'वितस्ता की लहरें' में एक स्थान पर पुरु ने कहा है—"शरण से जो सम्भव नहीं है उससे कहीं अधिक दया और शील से सम्भावित है।"

राजा राधिकारमण प्रसादसिंह की 'धर्म की धुरी' की टेक भी वही है। इस नाटक में विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न साम्प्रदायिक दंगों को क्षमा और शील से शान्त किया जाता है। अहमद गांधीवादी मुसलमान है। वह कहता है—"मुहम्मद साहब अपनी नमाज में बराबर कहा करते थे कि ऐ अल्लाह! मैं गवाही देता हूँ कि सब आदमी भाई-भाई हैं।" सन्तशरण गांधीवादी हिन्दू हैं। वे हिन्दू-धर्म और संस्कृति की व्यापक व्याख्या करते हैं—"एक ईश्वर—राम, अल्लाह या गॉड—जो कहो। हर आदमी उसका बन्दा, और आपस का मेल-जोल-भाई चारा। धर्म का प्राण ही ठहरा प्रेम—विश्व प्रेम।" यह विश्व-प्रेम मानवतावाद की नई पुकार है। अहमद एक हिन्दू की रक्षा करता हुआ साम्प्रदायिकता की अग्नि में जलकर राख हो जाता है। संतशरण उसकी बीबी और बच्चे की रक्षा करते हैं। एक हिन्दू शरणार्थिनी महिला का विवाह कराने में भी वे सफल होते हैं। अन्त में लोगों का साम्प्रदायिक उन्माद शान्त हो जाता है और वे सन्तशरण के मुरीद हो जाते हैं।

एक पूर्वनिश्चित योजना और आदर्शवादी परिणति के कारण कथानक बहुत-कुछ यान्त्रिक और सपाट हो गया है। जीवनगत वक्रता, जो इस योजना का अंग नहीं बन सकती थी, जान-बूझकर बहिष्कृत कर दी गई है। सिद्धान्तों के ऊहापोह में उत्सुकता का पता नहीं चलता। नाटक का परिपाटीग्रस्त अंत (conventional ending) उसी प्रकार का है जिस प्रकार 'एक था राजा' की कहानी के अन्त में कहा जाता है—"जैसा उनका राज-पाट लौटा वैसा सात घर सुदई हों तो उनका भी लौटे।"

नाटक के सभी पात्र किसी-न-किसी सिद्धान्त को ढोते फिरते हैं। उनकी प्रतीकात्मक ठठरियों पर मानवीय मांसलता नहीं दिखाई पड़ती। रक्त-मांसहीन छाया-पुत्तलिकाओं की भाँति वे सूत्रधार के हाथ में नाचते रहते हैं।

राजा साहब का दूसरा नाटक 'अपना-पराया' 'धर्म की धुरी' की अपेक्षा अधिक नाटकीय और कार्यपूर्ण है। इसका कथानक भी अपेक्षाकृत कम पिटा हुआ है। इस नाटक का सम्बन्ध भी हिन्दुओं और मुसलमानों से है, दो भिन्न-भिन्न समाजों से है। आवारागर्द यूसुफ़ का तथा-कथित पुत्र गुलाब सुरेश से निरन्तर आर्थिक सहायता उपलब्ध करके, समय-समय पर उससे उपदेशामृत पान करता हुआ भी यूसुफ के स्तर से आगे नहीं बढ़ता। अन्त में सुरेश की ही लड़की को उड़ा ले जाता है। एक विशेष सामाजिक वातावरण में पलने के कारण उसके संस्कार नहीं बदल पाते। सुरेश का पुत्र, जो वास्तव में यूसुफ के संसर्ग से पैदा हुआ है, एक सुसंस्कृत समाज में रहता है। अपने उच्च संस्कारों के कारण वह प्राणों की बलि देकर अपनी बहन की रक्षा करता है। रानी और सुरेश के अन्तर्द्वन्द्व, रानी की करुण स्थिति, यूसुफ की टिपिकल आवारागर्दी हमें अपने बीच के मनुष्यों में पहुँचा देती है। प्रेमनाथ संतशरण की भाँति आदर्श-वादी सुधारक हैं। ऐसे व्यक्ति समाज में बहुत कम दिखाई पड़ते हैं। प्रेमनाथ को छोड़कर इसके शेष चरित्र मानवीय आशा-निराशा और दुश्चिन्ताओं से नहीं छूट पाते। इस नाटक में भी जो आदर्शवादी हल प्रस्तुत किया गया है वास्तविक जीवन से उसका मेल नहीं बैठता। प्रेमनाथ की तरह आदर्शवादी व्यक्ति हमारे समाज में कितने होंगे? आज की नारी-समस्या कुछ गिने-चुने व्यक्तियों के दाक्षिण्य, दया तथा आदर्शों द्वारा नहीं सुलझाई जा सकती। उसे अपनी रक्षा अपने-आप करनी होगी।

पहले ही कहा जा चुका है कि पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता से भी हमारी संस्कृति और सभ्यता प्रभावित हुई है। देश के स्वतन्त्र हो जाने पर भी हमारा उच्च-मध्यवर्ग पाश्चात्य सभ्यता को छोड़ने को कौन कहे उसे और भी अधिक अपनाता जा रहा है। भट्टजी के 'पर्दे के पीछे' के अधिकांश एकांकी पाश्चात्य सभ्यता पर तीखे व्यंग्य हैं। पाश्चात्य सभ्यता और पूँजीवादी व्यवस्था किस प्रकार हमारी संस्कृति का मूल्यांकन कर रही है इस पर भट्टजी की दृष्टि गई है। भट्टजी न तो सांस्कृतिक पुनरुत्थानवाद में विश्वास करते हैं और न पाश्चात्य सभ्यता की अतियों में। वे नये-पुराने मूल्यों के संतुलन में ही जीवन की वास्तविकता देखते हैं।

व्यंग्य-विधान आज के एकांकी नाटकों का सर्वप्रधान वैशिष्ट्य है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ जीवन की कृत्रिमताएँ बढ़ती जाती हैं। ज्यों-ज्यों सभ्यता के कृत्रिम उपादान बढ़ते जायँगे त्यों-त्यों व्यंग्य-साहित्य का महत्त्व भी बढ़ता जायगा। यह व्यंग्य-विधान अपने सम्पूर्ण तीखेपन में जीवन को अपेक्षित दिशा में मोड़ने का एक जबरदस्त साधन है। कहना न होगा कि इस

संग्रह के अधिकांश एकांकी तथाकथित आधुनिक सभ्यता और विदेशी मूल्यों पर तीव्र व्यंग्य हैं।

'नई बात' इस संग्रह का पहला एकांकी है। आज श्रेष्ठता भी एक-मात्र मापक अर्थ है। इस आर्थिक श्रेष्ठता तथा तज्जन्य सामाजिक मर्यादा ने सांस्कृतिक मूल्यों को इस प्रकार ढँक लिया है कि वे अत्यन्त हीन दृष्टि से देखे जाते हैं। सुनन्दा, कुन्तल और किशोरीलाल कवि का सांस्कृतिक मूल्य नहीं समझ पाते। उसकी महत्ता से अभिभूत होकर एक दिन सुनन्दा उसे सहायतार्थ कुछ नोट भेंट करती है। कवि उन्हें गरीबों में बाँट देता है। इसीको सब लोग 'नई बात' कहते हैं। पूँजीवादी वर्ग के लिए यह नई बात हो सकती है। यह वर्ग उसका त्याग और औदार्य देखकर आश्चर्यचकित हो गया है, जैसा कि नाटककार ने इस एकांकी के अन्त में दिखलाया है। किन्तु यह वर्ग इतना भोला-भाला नहीं है। उस वर्ग के आश्चर्य-चकित होने के मूल में बौद्धिक वर्ग की आत्म-चेतना को दूसरी दिशा में भटका देना है। इस प्रकार का परम्परायुक्त conventional हल जीवन की यथार्थता के विपरीत है। निर्धनता की चक्की में पिसता हुआ कवि-दार्शनिक कितने दिनों तक साधना करता रहेगा? उसके घर और परिवार के लोग तथा स्वयं कवि और विचारक भी प्रशंसा की द्राक्षा में कब तक डुबकी लगाते रहेंगे?

'यह स्वतन्त्रता का युग' पाश्चात्य शिक्षा-संस्कृति में पली हुई नवयुवतियों की काम-मूलक स्वच्छन्द प्रवृत्ति पर गहरा व्यंग्य है। 'मायोपिया' में विवाह न करने वाली उच्च शिक्षा-प्राप्त स्त्रियों की आत्म-प्रवंचना का पर्दाफाश किया गया है। नारी-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण के चिरंतन सत्य को झुठलाकर पुरुष के प्रति क्षोभ और उपेक्षा का भाव उनकी अपनी हीनता का द्योतक है। यह कृत्रिम अहं अपने में कितना खोखला है इसे सुधी के अन्तर्द्वन्द्व में देखा जा सकता है। 'वार्गेन' भोग-वृत्ति पर आधारित वैयक्तिक स्वतन्त्रता का निकृष्ट रूप है।

'पर्दे के पीछे' एक सामाजिक व्यंग्य है। सेठ लोग तो चोरबाजारी, बेईमानी के लिए बदनाम हैं ही। किन्तु जनता के कांग्रेसी सेवक चोरबाजारी न करके भी सेठों से कम पैसे वाले नहीं हैं। गांधीजी का नाम बेचकर स्वार्थ के लिए ये क्या नहीं करते? सेठ के शब्दों में इसका व्यंग्य नग्न हो उठा है—"ये हैं कांग्रेस के लोग। मेरे समान ही स्वार्थी और अर्थ-लोलुप। इनके भी वैसे ही ठाट हैं—मकान, कोठी, मोटर, नौकर-चाकर, फिर मज़ा यह कि काम कुछ नहीं करते। व्यापार कोई नहीं करते.........।" 'बाबूजी' पारिवारिक स्वार्थपरता पर कड़ा व्यंग्य है।

परम्परा-पालन के निमित्त रंगमंच की दृष्टि से भी इन नाटकों पर विचार कर लेना चाहिए। 'परम्परा-पालन के निमित्त' मैंने इसलिए कहा कि हिन्दी का अपना रंगमंच न होने के कारण अभिनेता की दृष्टि से हिन्दी-नाटकों पर विचार करना बहुत-कुछ उपहासास्पद दिखाई पड़ता है। आज हिन्दी के नाटक रंगमंच को दृष्टि में रखकर जरूर लिखे जाते हैं किन्तु कितने नाटकों को रंगमंच पर अभिनीत होने का सुअवसर प्राप्त होता है? हिन्दी-नाटकों की रंगमंचीय कल्पना केवल बौद्धिक होती है। फिर भी लक्ष्मीनारायण मिश्र ने हिन्दी को नई रंगमंचीय टेकनीक दी है। 'वितस्ता की लहरें' के रंग-निर्देश कहीं पर अनावश्यक नहीं हैं। नाटक केवल दो स्थानों पर सिमटा हुआ है। अतः केवल तीन पर्दों से काम चल सकता है। संवाद स्पष्ट, व्यंजनापूर्ण, संक्षिप्त तथा प्रभावोत्पादक हैं। इस नाटक में मिश्रजी के संवादों में और भी निखार आया है।

राजा साहब की संवाद-योजना अपनी रूमानियत के कारण नाटकीय यथार्थता को व्यक्त करने में समर्थ नहीं प्रतीत होती। फिर आज का सामाजिक एक विशेष सैद्धान्तिक पद्धति तथा परम्परायुक्त अन्त को रंगमंच पर नहीं देखना चाहता। नाटकों का रेडीमेड हल वास्तविकता से दूर होने के कारण अपेक्षित प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकता। कार्य-व्यापार की योजना के कारण 'अपना-पराया' अपेक्षाकृत रंगमंच के अधिक अनुकूल है। रंगमंच की दृष्टि से भट्टजी के एकांकी सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं। भाषा का सहज प्रवाह, संवाद की स्वाभाविकता इनमें सर्वत्र पाई जाती है। कुछ एकांकियों की घटनाएँ और कार्य-व्यापार उद्देश्य की एकता में सम्यक् योग नहीं पाते। इसलिए प्रभावान्विति भी त्रुटिरहित नहीं हो सकी है। उदाहरण के लिए 'पर्दे के पीछे' में कांग्रेस-कर्मियों का प्रसंग किरायेदार और इन्कमटैक्स-ऑफिसर के प्रसंग से जुड़ा हुआ नहीं है तथा 'बाबूजी' में भोलानाथ और कान्ता का प्रसंग कथा-प्रवाह में कोई विशेष योग-दान नहीं करता। शेष एकांकी वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टियों से भट्टजी की सजगता, जागरूकता और प्रौढ़ता के द्योतक हैं।

हिन्दी-कथा-साहित्य की दौड़ में हिन्दी का नाट्य-साहित्य सबसे पीछे रह गया है। हाँ, एकांकी नाटक संख्या तथा गुण दोनों दृष्टियों से हिन्दी-साहित्य की श्री-वृद्धि कर रहा है। भट्टजी का नया संग्रह इसी बात का द्योतक है। हिन्दी-एकांकियों की वृद्धि का सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण कारण है रंगमंचों पर उनका खेला जाना। रेडियो-विभाग ने भी इसके विकास में उचित योग दिया है। बड़े नाटकों की ओर से जनता और लेखक दोनों उदासीन दिखाई पड़ते हैं। मिश्रजी-जैसे प्रख्यात नाटककार कई छात्रोपयोगी नाटक लिखने के पश्चात् 'वितस्ता की लहरें'-जैसा महत्त्वपूर्ण नाटक लिख सके हैं। इस उत्साहहीनता के मूल में रंगमंच का अभाव ही मानना होगा। व्यावसायिक तथा अव्यावसायिक दोनों दृष्टियों से हिन्दी का रंगमंच नगण्य-सा है। हिन्दी-रंगमंच की अनुपस्थिति में हिन्दी नाटकों की उन्नति की बहुत आशा नहीं की जा सकती।[1]



---

१. 'वितस्ता की लहरें', लेखक—लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।
'धर्म की धुरी' और 'अपना-पराया', लेखक—राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, प्रकाशक—श्री राजराजेश्वरी साहित्य-मन्दिर, पटना—६।
'पर्दे के पीछे', लेखक—उदयशंकर भट्ट, प्रकाशक—मसिजीवी प्रकाशन, नई दिल्ली।

लक्ष्मीकान्त वर्मा

पलायनवाद : दो स्थितियाँ

किसी भी कला-कृति में वर्तमान सत्य की अभिव्यंजना उतनी ही स्वाभाविक है जितना कि प्रचलित सामाजिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक कुण्ठाओं एवं आस्थाओं द्वारा कलाकार का प्रभावित होना। कभी-कभी इनकी अभिव्यक्ति अपवाद रूप से भी प्रकट होती है। ईपिक्यूरियन्स (epicureans), सिनिक्स (cynics), स्कैपटिक्स (sceptics) के बारे में उनकी असंतुलित और अमर्यादित कृतियाँ केवल एक ही बात बताती हैं कि वे वस्तु-स्थिति के वास्तविक रूप को जानते हुए भी वास्तविकता से जान-बूझकर पलायन करना ही अपनी विशेषता मानते थे। नीत्शे-वादी मान्यताएँ यदि एक ओर वैयक्तिक संकीर्णता और असन्तुलन को जीवन का स्वर्णिम लक्ष्य चित्रित करने की चेष्टा में अतिवादी संकीर्ण दर्शन प्रस्तुत कर सकती हैं, तो साम्यवादी विचार-धारा का तथाकथित बृहत् समाजवादी दर्शन भी आधुनिक युग में अपनी चरम सीमा पर संकीर्ण-ताओं में कुछ कम नहीं है। वस्तुतः मार्क्सवादी सिद्धान्तों की अतिवादी प्रगतिशील परिणति उस व्यापक अनास्था की संकीर्ण मनोवृत्ति की परिचायक है, जो संस्कारगत संक्रमण एवं मूल्यगत भ्रान्तियों के कारण विकसित हुई है। वास्तव में इन अपवादपूर्ण कृत्रिमताओं का न तो कोई स्थायी महत्त्व रहा है और न रहेगा। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है उनके थोथे तर्क-जालों और अस्पष्ट नारों में जीवन को ऊपर से छू लेने की क्षमता चाहे जितनी हो, लेकिन जहाँ तक जीवन के आन्तरिक स्तरों और व्यापक चेतना के सूत्रों को प्रभावित करने का प्रश्न है, मनुष्य और उसकी आन्तरिक अनुभूतियों को नये मूल्यों और नई व्यवस्थाओं से सम्बद्ध करने का प्रश्न है, यह निश्चय है कि अपनी अतिवादी एवं एकांगी मनोवृत्ति के कारण उनको सफलता मिलना कठिन है। जीवन न तो स्थिर रेखाओं में बद्ध केवल वस्तुपरक स्नैप शॉट है और न ही वह एक ऐसा चलचित्र है जिसमें केवल गति-ही-गति हो, और रेखाओं के बीच केवल शून्य हो या शून्य भी न रहकर केवल एकांगी चित्र हो जिसमें देश, काल (time and space) अथवा आयामों (dimensions) का सर्वथा अभाव हो। जीवन में मूलतः एक गहराई (deepness) है। जो कला-कृति केवल लम्बाई-चौड़ाई को लेकर व्यक्त होती है और गहरी अनुभूतियों को उचित स्थान नहीं दे पाती वह केवल सामयिक होती है। उसका समाचारगत मूल्य चाहे जितना हो, विचारशील विकास की वह कृतियाँ मापने में सदैव असफल ही रहती है। वस्तुतः इस प्रकार की कला-कृतियों में केवल उन्मूलित भावनाओं का संशय और उनकी द्विविधा ही अधिक झलकती है और ये द्विविधाएँ, ये संशय उस पलायनवादी प्रवृत्ति की प्रतीक होती हैं जिसमें आस्थाहीन जीवन की झुँझलाहट ही प्रश्रय पाती है। 'फ़िराक़' गोरखपुरी का 'धरती की करवट' नाम का संग्रह इन्हीं अतिवादी संकीर्णताओं एवं अति साहसिकतावादी भ्रान्तियों का प्रतीक है।

शायद इन्हीं मूल्यगत भ्रान्तियों का एक दूसरा रूप हमें वैरागी के काव्य-संग्रह 'बदली की रात' में मिलता है। यह संग्रह आत्मपरक होने के नाते 'फ़िराक़' गोरखपुरी की काव्य-कृति से कई दृष्टियों में ऊपर उठ जाता है। यद्यपि इस संग्रह में संशय है, दुविधा है, पलायन और अनास्था की मार्मिक संवेदना है, दिग्भ्रम है और असन्तुलित संक्रामक हृदय की धड़कनों की

आहटें हैं; लेकिन फिर भी भावनाओं के प्रति ईमानदारी, उनकी आत्मपरक अनुभूति और आत्म-संशय की बेचैनी से भरा हुआ दर्द उसकी कला को अधिक प्रभावपूर्ण बना देता है। कवि का संशय केवल नारों से सन्तोष नहीं पाता। वह किसी पताका के नीचे, चाहे वह जैसी भी हो, मनुष्य को खड़ा करके उसका नीलाम करने को तैयार नहीं है। वह इन पृष्ठभूमियों से मुक्त मनुष्य की आत्मनिष्ठा को देखना चाहता है, उन नये सूत्रों को संग्रहीत करना चाहता है जो स्वयं आस्था के स्वर पर विकसित हो सकें,.... जिनमें केवल अपने स्वर हों, अपनी अनुभूति हो और संशय भी हो तो ऐसा कि जो सामाजिक चेतना को केवल डंके की चोट पर न जगाये, बल्कि उसमें एक ऐसा दर्द पैदा कर दे जो जीवन को सार्थक और गतिशील बनाने में नारों की अपेक्षा आत्मानुभूति की भावना जाग्रत कर सके। और यही कारण है कि उस नये सत्य और उन नये मूल्यों के अभाव में कवि का संशय पलायन के रूप में भी गहराई से व्यक्त हो सका है।

लेकिन इसका यह मतलब कदापि नहीं है कि केवल इस संशय के कारण ही वैरागी की कला-कृति का कोई महत्त्व नहीं है। वस्तुतः संशय ही जिज्ञासा को जन्म देता है और इसीलिए बहुधा इसका भ्रम विचित्र रूप से अभिव्यक्त होता है। जब संशय संकीर्णताओं में विकसित होकर अमर बेल के समान समस्त जीवन पर छा जाता है तो निर्मूल निराधार होने पर भी वह समूचे जीवन के विकास को गतिरुद्ध कर देता है, उसमें कृत्रिमता ला देता है, उसे कुरूप और बेढंगा बना देता है। लेकिन जब यही संशय उस आत्माभिव्यक्ति की गहराई लेकर उभरता है, जो अपने चारों ओर के विश्रृङ्खल जीवन को अर्थ देना चाहती है, तब वह अपने मूल की गहराई में उन तत्त्वों को जानना चाहता है जो संवेदनशील अनुभूतियों के साथ उस दृष्टिकोण की खोज में डूबना चाहते हैं—जो व्यापक हो, सार्वभौम हो, सर्वहितेच्छु हो; और इन सबके अतिरिक्त मानवीय हो ताकि नये मूल्यों और नई मान्यताओं का व्यापक आकार बन सके और नई परम्पराओं को विकास के साथ सम्बद्ध कर सके।

यद्यपि मूलतः उपर्युक्त दोनों स्थितियाँ पलायन की मानी जाएँगी लेकिन इन दोनों में अन्तर होगा, इन दोनों के उद्देश्यों में अन्तर होगा, माध्यम और अभिव्यक्ति में अन्तर होगा।

प्रथम स्थिति वह है जिसमें मिथ्या साइसिकता, आक्रोश, आतंकजन्य शौर्य, बौखलाहट और आवश्यक द्विविधा के स्वर विकसित होते रहते हैं और इस दिग्भ्रम के साथ व्यक्त होते हैं जैसे वे स्वयं युग के मसीहा हों, सृष्टि के संरक्षक हों और मानव-जीवन को ऊपर उठाने के लिए केवल वही रास्ता ठीक समझते हों जिसका कि वे स्वयं अनुसरण करते हों। वे उस पेटेण्ट दवा की तरह कुछ पेटेण्ट नारों तक मानव-बुद्धि को सीमित कर देना चाहते हैं जो सरदी-जुकाम से लेकर थाईसिस तक में काम दे सकती है। लेकिन यह पेटेण्ट दवा अक्सर काम नहीं देती, क्योंकि जो दवा बाँटते हैं उनकी जबान रटी हुई होती है, उनका अभिनय और उनकी भावना उधार ली हुई होती है इसीलिए उसमें 'अपील' भले हो उपचार तो नहीं ही होता और आज के इन्सान को न तो अपील करने वाली वकालत की भाषा चाहिए, न लबादे पहने हुए उपचारक। आज उसे ऐसा साहित्य और ऐसे साहित्यकार-कलाकार की आवश्यकता है जो केवल उसका दर्द एक इन्सान के नाते अनुभव कर सके, और उस अनुभव में न तो सुधारक का वक्तव्य हो और न बाल की खाल निकालने वाला तर्क ही। आज के विक्षिप्त जीवन को केवल एक मानसिक (psychic) संवेदनशील सहानुभूति की आवश्यकता है। लेकिन जो इस स्थिति के वास्तविक रूप की उपेक्षा

करते हैं वे कुछ ऐसे संकुचित नारों को ही साहित्य और दर्शन का सत्य और लक्ष्य मान लेते हैं जिनकी विवेचना में तथ्य कुछ नहीं मिलता, ऐसा लगता है जैसे कोई हिस्टीरिक नृत्यकार ढूर के ढोल की ताल पर अपनी विचित्र-विचित्र मुद्राएँ बना रहा हो, लेकिन वे मुद्राएँ इतनी सन्दर्भहीन हों कि उनका वास्तविक मर्म केवल एक मजाक़ बनकर रह जाय।

किन्तु इस प्रथम स्थिति के अतिरिक्त इस संक्रमण युग में एक दूसरी भी स्थिति है जिसमें अतिवादी संकीर्णताओं के बावजूद कलाकार जीवन के मूल प्रश्नों से विपथ नहीं होता। यद्यपि उसके भीतर भी परम्परागत रूढ़ियों के प्रति खीझ होती है, स्वीकार की हुई सीमाओं से ऊब मालूम होती है, भ्रान्तियों के प्रति विद्रोह की भावना जागरूक होती है। लेकिन यह सब होते हुए भी वह वस्तु-स्थिति से पलायन करता है—नये मूल्यों के लिए, व्यापक मानवीय संवेदनाओं के लिए, उन तथ्यों के लिए जो मात्र अनुसरण न होकर विवेक-प्रधान होते हैं। मनुष्य को केन्द्र मानकर उसकी आत्म-उपलब्धि की जिज्ञासा ही इस पलायन को उन कुण्ठित, संकीर्णतावादी प्रवृत्तियों से अलग करती है जो केवल मन्त्र के रूप में स्वीकार की जाती है। इसकी मूल भावना अपनी श्रेणी में उन सभी को समेट लेती है जिन्होंने 'मत-प्रचार' की अपेक्षा उन जीवन्त सृजनात्मक सृष्टि-चेतना के स्रोतों को ही श्रेयस्कर माना है जो परम्परा को तोड़ते हुए भी उन सूक्ष्म मानवीय संस्कारों को स्वीकार करते हैं जो सदैव जीवन के विकासशील तत्त्वों को प्रोत्साहित करते रहते हैं।

इस पृष्ठभूमि में 'फ़िराक़' गोरखपुरी की नवीनतम पुस्तक 'धरती की करवट' और श्री वैरागी की 'बदली की रात' स्पष्ट रूप से आज की उन्मूलित भावनाओं के अन्तर्गत विस्थापित पलायनवादी प्रवृत्तियों की दो विभिन्न स्थितियों को प्रदर्शित करती हैं। लेकिन दोनों ही में वर्तमान तिक्त परिस्थितियों से ऊबकर किसी नई दिशा की ओर संकेत किया गया है। दोनों ही वस्तु-स्थिति के प्रति विद्रोह करते हैं। लेकिन अन्तर वहाँ पैदा होता है जहाँ एक रूस और चीन तक ही मानव-विकास की कल्पना सीमित कर देता है और दूसरा उनके अतिरिक्त भी मानव-मूल्यों को स्थापित करने की सम्भावना रखता है। वैरागी की निर्वासित भावनाएँ मानव-मूल्यों के बिखरे तत्त्वों को जोड़ने में क्रियाशील होना चाहती हैं, 'फ़िराक़' गोरखपुरी की भावनाएँ रूस और चीन की प्रशस्तियों तक सीमित होने के कारण खोखली और पोली-सी लगती हैं। वैरागी में मानवता के प्रति आस्था है, 'फ़िराक़' की सारी आस्था साम्यवाद और प्रगतिशील संकीर्णताओं तक ही सीमित है। 'फ़िराक़' की आस्था है :

"हमारे देश में इसकी भारी आवश्यकता है कि हमारी जातीय चेतना बीसवीं सदी के सबसे बड़े सन्देश को ग्रहण कर ले—यह सन्देश है रूस और चीन की क्रान्ति का··· मेरी कविताओं के इस संग्रह में कई कविताएँ अनेक शीर्षकों से मिलेंगी जिनमें मैंने भारतीय चेतना को उकसाकर यह अनुभव कराना चाहा है कि ये क्रान्तियाँ इस सदी की सबसे महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं···अब हम आपको चीन ले चलते हैं·······"

चीन और रूस की क्रान्ति का समर्थन या उनको अस्वीकार करने की अपेक्षा यदि 'फ़िराक़' साहब ने आज की संक्रान्ति-ग्रस्त और विस्थापित आस्थाओं के सामने उन सूक्ष्म मूल्यों की अपील की होती, जो मानवता के निकट हैं, तो शायद वह उस चेतना को ज्यादा सही रास्ते की ओर उकसा पाते। रूस और चीन को मानवता के विकास की चरम सीमा मानने में सन्देह होना

तर्क-संगत भी है......इसलिए अपनी आस्था की घोषणा के बजाय यदि उनकी प्रतिभा रूसी साम्यवाद और अमरीकी डालर के आगे भी मनुष्य की कल्पना और आस्था पर विश्वास करती तो निश्चय ही उससे हमारी जातीय चेतना को ज्यादा बल मिलता।

"हथौड़े में हसिये में इर्क़ानियत है, वहाँ हर अमल ऐन रूहानियत है।
है चीन की जीत हर तमन्ना की जीत, है चीन की जीत सारी दुनिया की जीत।"

स्पष्ट है कि 'फ़िराक़' साहब ने अपने और अपने साथ तमाम इन्सानियत की तमन्ना को चीन की क्रान्ति और रूस के हँसिये-हथौड़े तक ही सीमित कर रखा है। चीन की क्रान्ति इतिहास की एक घटना है और कोई भी घटना जीवन के सशक्त तत्त्वों से बड़ी होती है, यह स्वीकार करना ग़लत है। हँसिया-हथौड़ा केवल एक प्रतीक है, और प्रत्येक प्रतीक की अपनी एक सीमा होती है। इसलिए यह कहना कि संसार की और मनुष्य की सीमा केवल एक घटना और एक प्रतीक में ही सम्पूर्ण है, सर्वथा ग़लत है। जिन्दगी इन सीमाओं के आगे भी पनपती और बढ़ती है इसलिए कला, साहित्य और दर्शन को केवल इन्हीं सीमाओं में बाँधकर रखना मानवीय विकास की भर्त्सना करना है।

"जब रूस के मतलअ से हुआ नूर का तड़का, सरमाया परस्ती का चिराग़ और भी भड़का।
हिटलर का गर्जना है कि बिजली का है कड़का, सुनकर बरे आज़म भी जिसे काँप उठेंगे।
हम ज़िन्दा थे, हम ज़िन्दा हैं, हम ज़िंदा रहेंगे।"

प्रथम पंक्ति की आत्महीनता अन्तिम पंक्ति के आत्मविश्वास को नपुंसक बनाकर छोड़ देती है। विस्थापित भावनाओं के संघर्ष में अपने ऊपर विश्वास की कमी की ही प्रतिक्रिया रूस की रोशनी में विकसित होती है। 'फ़िराक़' साहब की यह दिमाग़ी दासता इस बात को पुनः पुष्ट करती है कि वह स्वतन्त्र रूप से कुछ भी सोचने में असमर्थ हैं। समस्त मानवता का संशय रूस और चीन के 'निर्णय-सिन्धु' में ही है और उसके अतिरिक्त उनकी आस्था किसी भी दूसरी चीज पर नहीं है; यहाँ तक कि अपने पर भी नहीं है।

इस सम्बन्ध में बर्नर्ड शॉ की एक पंक्ति का उल्लेख कर देना आवश्यक है। उसका कहना था कि "Decadence can find agents only when it wears the mask of progress"[1] और इस कथन का एक-मात्र कारण यह है कि विस्थापित भावनाओं की संकीर्णता समस्त चेतना को इतनी नृशंसता से जकड़ लेती है कि हर वह नारा, हर वह ध्वनि, जो केवल गूँज पैदा करके इन्सान के दिमाग़ को छोड़ देती है, वही सत्य मालूम पड़ने लगती है। कहना न होगा कि 'फ़िराक़' साहब अपनी भावनाओं को इस स्वाभाविक असंगति से बचाने में असफल ही रहे।

इसके विपरीत इन्हीं स्थितियों की प्रतिक्रिया दक्षिण के कवि वैरागी में दूसरे प्रकार से व्यक्त हुई है। न तो वैरागी संशय और दुविधा की स्थिति में संकीर्णता ही स्वीकार करते हैं और न अपनी जिज्ञासा के कौतूहल को नये मानव-मूल्यों के अनुसंधान से ही पृथक् करते हैं। उनकी स्थिति है कि :

१. In moments of progress the noble succeed because things are going their way: in moments of decadence the base succeed for the same reason: hence the world is never without the exhilaration of contemporary success." —Bernard Shaw.

"आज खड़ा तू चौराहे पर
संगी-साथी गये बिछुड़कर
प्रात गगन हँसता है सिर पर।"

लेकिन उनकी व्यापक चेतना यह है कि :

"चारों ओर अनन्त दिशाएँ—आगे जीवन का पथ फैला।"

और तब सन्देश यह है कि—

"चल रे मानव आज अकेला।"

वाद और विवादों की इस भ्रान्तिजनक स्थिति में आज मनुष्य को केवल उसका ही आत्मविश्वास ऊपर उठा सकता है। जिस अपवाद के बीच संतप्त जीवन की आस्थाएँ चूर-चूर हुई जा रही हैं, उस स्थिति में शायद वैरागी जी की यह वाणी उनको शक्ति और सम्बल प्रदान करने में सफल होगी, जो इन दोनों अतिवादी विचारधाराओं के अतिरिक्त केवल मानवीय चेतना पर विश्वास करके आगे बढ़ना चाहते हैं। जहाँ 'फ़िराक़' साहब केवल एक वर्ग-विशेष यानी अमरीका को ही दोषी ठहराकर मानवता की बात न करके रूस की प्रशस्ति लिखते हैं, वहीं निरपेक्ष कलाकार के स्वत्व को सुरक्षित रखते हुए वैरागी का कथन है कि :

"खून और आँसू के कीचड़ बीच खिला जीवन जल जाता।"

और

"मानव रत विनाश लीला में, पर मानवता सृजनशील है।"

लेकिन आज वह मानवता ही जैसे भेदों के आडम्बर में खो गई है और वैरागी को सारा संसार और सारा समाज ही ऐसा लगता है जैसे :

"मानवता है कहाँ अरे यह गूँगों-पशुओं की जमात है।"

वैरागी की इन पंक्तियों में युग के मसीहों को चौंका देने की क्षमता है। वस्तुतः उनकी यह आवाज आज उस चेतन और सजीव आत्मा की सप्राण आवाज है जिसने दो महायुद्धों के बीच उन समस्त प्रचारकों का असली रूप देख लिया है। कभी इसी आवाज ने कोरिया से लेकर क्रेमलिन और वाशिंगटन तक की प्रस्तर-मूर्तियों को पूजा था, उनको अपनी श्रद्धा और स्नेह अर्पित किया था, लेकिन आज के मनुष्य के सामने आज वे मूर्तियाँ मूक और बधिर-सी प्रतीत होती हैं। आज उनके स्थापित मूल्य नष्ट हो चुके हैं और यही कारण है कि सचेत आत्मनिष्ठ मानव आज इन्सान के लिए कुछ नये मूल्यों और नई मर्यादाओं को स्थापित करने में जिज्ञासु और जागरूक है।

और जहाँ इन नये मूल्यों को स्थापित करने की भावना है, वहीं आज मनुष्य इस बात को भी ध्यान में रखना चाहता है कि ये मूल्य मनुष्य को लक्षित करके बनाये जायँ, उसकी आस्था पर बनें, क्योंकि यह निश्चय है कि किसी अतिवादी विचारधारा के अनुसार किसी भी प्रकार के आरोपित मूल्य आज के मनुष्य को ऊपर उठाने में असफल होंगे। आज के लिए यह आवश्यक है कि इस समूचे जीवन को सर्वथा मनुष्य की दृष्टि से देखें और उन समस्त संदर्भों से अलग मानव-मूल्यों का मूल्यांकन करें, जिन्होंने आज उसे उस आत्महीन, निरीह यन्त्र के समान बना दिया है जो खोखला, रोग-ग्रस्त, घावों से भरा हुआ, निर्जीव हाथों को उठा-उठाकर केवल जय-जय की ध्वनि गुँजाना जानता है—जिसके पास अपना कुछ नहीं है, यहाँ तक कि उसकी अपनी

चमड़ी भी नहीं है।

'फ़िराक़' साहब और वैरागी में यही मौलिक अन्तर है। 'फ़िराक़' शायरी की मजज़ूबियत की अपेक्षा विषय की मजज़ूबियत में अधिक विश्वास करते हुए मालूम पड़ते हैं। उनका विषय विशुद्ध मानव नहीं है, उनका स्वर उस मनुष्य के लिए है जो आदमी से ज़्यादा और आदमी से कहीं बड़ा उन मान्यताओं को मानता है जो रूस और चीन में प्रचलित हैं।

यह तो रही वैरागी और 'फ़िराक़' गोरखपुरी के जीवनगत मान्यताओं में अन्तर और उसकी प्रतिक्रिया की बात। 'फ़िराक़' गोरखपुरी की कला की विज्ञप्ति के सामने 'धरती की करवट' एक छोटी कला-कृति है। वैरागी को अभी हिन्दी-संसार शायद ही जानता हो। इस बात को स्वीकार करने में हमें हर्ष होता है कि उर्दू के विद्वान् और विख्यात शायर ने हिन्दी में भी लिखना प्रारम्भ किया है। वैसे 'फ़िराक़' की ग़ज़लों और रुबाइयों ने उर्दू-शायरी में एक विशेष क्रान्ति पैदा की थी। ग़ज़ल के क्षेत्र में उनके प्रयोग अद्वितीय माने जाते हैं। शैली, भाषा, भाव और अभिव्यक्ति के साथ-साथ बौद्धिक जागरूकता 'फ़िराक़' की उर्दू-शायरी की जान है, लेकिन अपने उस्तादाना अन्दाज़ में जब 'फ़िराक़' साहब उर्दू के वज़न पर हिन्दी में लिखने का प्रयास करते हैं तो उनकी काव्य-रचना शिथिल पड़ जाती है। कहीं-कहीं अटपटेपन के साथ-साथ असंस्कारी प्रयोग बड़े ऊबड़खाबड़ लगते हैं। काव्य की कोमल अभिव्यक्ति के अनुकूल भाषा की स्वाभाविकता नहीं निभ पाती। मुहावरे इतने अधिक हो जाते हैं कि भावनाएँ चुटीली होने की अपेक्षा अधिक बाज़ारू हो जाती हैं और इन सबका एक-मात्र कारण यह है कि हिन्दी की अपनी एक शैली ढल चुकी है। कम-से-कम काव्य के क्षेत्र में वह शैली काफ़ी आगे बढ़ चुकी है। हो सकता है किन्हीं कारणों से 'प्रसाद' जी की 'कामायनी' या 'अज्ञेय' की भाषा-शैली, या जैनेन्द्र का गद्य 'फ़िराक़' साहब को नापसन्द हो, लेकिन हिन्दी ने उन्हें स्वीकार कर लिया है और आज अधिकांश लेखक उन्हींके आधार पर लिख भी रहे हैं। काफ़ी साहित्य लिखा भी जा चुका है; इसलिए उर्दू का अच्छे-से-अच्छा अन्दाज़े-बयान भी आज की शैली में खप नहीं पाता। 'धरती की करवट' की अधिकांश कविताओं की शैली अपरिचित और भौंडी मालूम पड़ती है।

आत्मपरकता (subjectivity) काव्य की आत्मा है। 'फ़िराक़' साहब की अधिकांश कविताएँ इतनी राजनीतिक हैं कि उनका काव्यगत सौन्दर्य नष्ट हो गया है। 'धरती की करवट' की अधिकांश कविताएँ सूचनाएँ अधिक देती हैं, भावना कम। 'फ़िराक़' साहब से हम यह आशा करते थे कि इस रचना-संग्रह में उनकी अधिकांश पंक्तियाँ निम्नलिखित स्तर की होंगी। जैसे :

"इक हल्क़ए ज़ंजीर तो ज़ंजीर नहीं है
इक नुक़्तए तस्वीर तो तस्वीर नहीं है
तक़दीर तो क़ौमों की हुआ करती है
इक फ़र्द की क़िस्मत कोई तक़दीर नहीं है।"

यद्यपि हम व्यक्ति को इतना गण्य नहीं मानते फिर भी यदि इसी विश्वास और गहराई के साथ 'फ़िराक़' साहब ने अपनी भावनाएँ प्रस्तुत की होतीं तो शायद यह पुस्तक अधिक प्रिय होती। लेकिन अफ़सोस तो यह है कि अधिकांश रचनाओं में 'इस दुनिया की ऐसी-तैसी' ही बहुत है, अपनी अनुभूतियों के बारे में कहीं कुछ नहीं। लगता है जैसे पूरी किताब एक

ग्रामोफ़ोन-रिकार्ड हो, जिसमें तवे में जकड़ी हुई आवाज-ही-आवाज़ है, व्यक्तित्व की छाया कहीं भी नहीं है।

भाषा और लिपि के बारे में केवल इतना ही कहना है कि पुस्तक के आरम्भ में 'ये कविताएँ कैसे पढ़ी जायँ' शीर्षक से जो-कुछ 'फ़िराक़' साहब ने लिखा है वह एकांगी है। प्रमाण के लिए हिन्दी में 'फ़', 'ज़' इत्यादि के नीचे से बिन्दी हटाने की बात बहुत पहले उठाई गई थी जिसको 'फ़िराक़' साहब ने स्वीकार करने से शायद कोई हानि समझी है लेकिन 'ऋ' को 'रि' लिखने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं हुई। अगर 'फ़िराक़' लिखकर बिन्दी मिटा दी जाय तो वही उतना ही अनुपयुक्त होगा जितना कि ऋषि को 'रिशि' कर देना। लिपि के विषय में व्यावहारिक रूप से इन मान्यताओं को स्वीकार कर लेना भिन्न बात है।

जैसा कि कहा जा चुका है ग़ज़ल के 'तख़ैयुल', 'तग़ज़्ज़ुल' और उसके शिल्प-विधान में नये प्रयोग करने वालों में 'फ़िराक़' साहब का विशेष स्थान है। लेकिन नई शक्तियों के प्रतीक के रूप में उर्दू-शायरी के इन्क़लाबी शायर का यह मत है :

"आजकल प्रयोगवाद की एक फुलझड़ी हिन्दी-कविता में कुछ लोगों ने छोड़ रखी है.... इन लोगों ने प्रयोगवाद की जैसी मिसालें पेश की हैं उसे मैं झखमारवाद कहता हूँ।"

जहाँ तक 'फ़िराक़' साहब का यह वक्तव्य है वह इतना खोखला है कि कम-से-कम उर्दू के प्रतिष्ठित शायर की कलम से यह शब्द शोभा नहीं देता। पता नहीं प्रयोगवादी रचनाएँ 'फ़िराक़' साहब ने कहाँ तक पढ़ी हैं, लेकिन 'प्रयोगवादी' जिसे हम नई कविता भी कहते हैं, उसमें हिन्दी-प्रतिभा की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों का सशक्त और स्वस्थ परिचय मिलता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। वैसे बिना पढ़े राय क़ायम कर लेना बात दूसरी है।

'धरती की करवट' के विषय में अन्तिम वाक्य कहने की अपेक्षा, 'फ़िराक़' साहब की यह रुबाई ही काफ़ी है :

"लफ़्ज़ों की दुकाँ को अब बढ़ाना होगा
कुछ करके मुअल्लिम को दिखाना होगा।
तालीम को ख़ल्लाके अमल होना है
पंजों में दिमाग़ अब बसाना होगा।"

ताकि पंजों में सृजन-पिण्ड का आकार बन पाए न कि वह केवल एक सलाम का प्रतीक बनकर भूल जाय।

'बदली की रात' के लेखक वैरागी दक्षिण भारत के हैं। हिन्दी का उनके लिए 'फ़िराक़' साहब से ज़्यादा कठिन प्रतीत होना स्वाभाविक है। फिर भी जिस शिल्प-निपुणता और शैली का सफल प्रयोग 'बदली की रात' में मिलता है वह इस बात का सन्देश देता है कि हिन्दी भाषा का संस्कार समस्त भारत में आत्मानुभूति के साथ ग्रहण किया जा रहा है।

'बदली की रात' मूलतः आज के संक्रमण का प्रतीक है। यद्यपि उसमें 'संशय' और 'पलायन' की संदिग्ध वाणी पर्याप्त है, लेकिन वह संशय व्यक्ति का संशय ही नहीं वरन् इस युग के संशय के साथ सम्बद्ध है। जहाँ एक ओर वैरागी टूटती हुई मान्यताओं के बीच घुटन अनुभव करते हैं वहीं वह नई मान्यताओं के प्रति जिज्ञासु भी हैं। उनकी टूटी हुई आस्था नई आस्था की याचक अवश्य है, लेकिन नई आस्था के प्रति जागरूक होने के कारण उनकी वाणी

में नास्तिकता अथवा आस्थाहीनता नहीं है।

समस्त काव्य-संग्रह में चार प्रकार की कविताएँ हैं। पहली तो वह जो कवि की आत्म-चिन्तना को प्रदर्शित करती हैं। इन कविताओं में वैरागी की जीवन के प्रति दृष्टि अधिक साफ़ और स्पष्ट रूप से उभरी है। सामूहिक चेतना को स्वीकार करते हुए वह व्यक्ति की मर्यादा को भी सुरक्षित रखना चाहते हैं। शायद उनकी भावना आजकल की दलगत समूहवाद की विषमताओं से अछूती नहीं है। तभी उनके स्वरों में सहसा ही पलायन की भावना जाग्रत होती है; लेकिन यह पलायन कायरता का पलायन नहीं है और न ही इसमें अतिरंजित करने वाली बन्धनहीन नृशंसता है।

दूसरी प्रकार की कविताएँ भावना-प्रधान आत्म-उद्बोधन से सम्बद्ध हैं। इस वर्ग में कवि की आत्मपरक भावनाएँ सृष्टि और व्यक्ति की समस्याओं को लेकर चलती हैं। इनमें मनुष्य का खोखलापन भी मिलता है; उसके आडम्बर और बहुरंगी कलेवर के साथ उस दर्द की अनुभूति है जो सृजन को शक्ति प्रदान करती है।

तीसरी प्रकार की कविताएँ गीत-शैली के अन्तर्गत आती हैं। यद्यपि इन गीतों में काफ़ी शिथिलता है और इनके शिल्प-निर्वाह में कहीं-कहीं शिथिलता भी दिखाई पड़ती है लेकिन यह सब होते हुए भी इनकी प्रेक्षणीयता मार्मिक है। ऐसा लगता है जैसे कवि जीवन को एकांगी न बनाकर समस्त तथ्यों और सत्यों को अपनी रागात्मिक शक्ति के साथ समेटता चलता है। गीतों में निराशावादी प्रवृत्तियों का प्राचुर्य है। सूक्तियों की शैली में भी कुछ गीत हैं, जो एकात्मानुभूति के महत्त्व को शिथिल कर देते हैं।

चौथी प्रकार की कविताएँ 'आधुनिका' के अन्तर्गत आजकल की नई कविता की विषय-वस्तु और शिल्प-निर्माण से प्रभावित हैं। इस शीर्षक के अन्तर्गत 'पलायन' कविता महत्त्वपूर्ण है। इसमें वह सभी नये तत्त्व हैं जो आधुनिक हिन्दी-कविता की नवीनतम शैली के अन्तर्गत आते हैं। कहीं-कहीं बिम्बों और प्रतीकों का बड़ा सफल चित्रण मिलता है। मानवीय संवेदनाओं के साथ जहाँ कहीं भी कवि की जागरूक अन्तर्वेदना व्यक्त हुई है वह स्थल बड़े मार्मिक और हृदय-ग्राह्य हैं।

लेकिन जहाँ हमें वैरागी में प्रतिभा के सूत्र स्पष्ट दिखलाई देते हैं वहीं ऐसा लगता है जैसे उनके चिन्तन में बहुत-कुछ कच्चापन और अर्ध सत्य है जो उनकी चेतना को भ्रमित करने में अधिक सफल हुआ है। इस भ्रम और भ्रान्तिजनक (confused) स्थिति में से जो आस्था और विश्वास के सूत्र यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं, उनको एकत्र करके एकरूपता देने का दायित्व वैरागी जी का है। कला न तो केवल भाव है, न केवल चिन्तन है, वह भाव और चिन्तन के साथ-साथ कुछ चिह्न अंकित करती चलती है जिसमें भविष्य की सम्भावनाएँ प्रश्रय पाती हैं और विकसित होती हैं। वैरागी जी में जहाँ दृष्टि है, भाव है, चिन्तन है और शिल्प है वहाँ उनके थिराये हुए विचारों को और अधिक उभार से व्यक्त होना चाहिए, उनकी निखरी हुई सद्भावना और अधिक आस्थावान होनी चाहिए और उनका संशय आज की सीमाओं को लाँघकर समाप्त होना चाहिए। मानव-अनुभूतियों से द्रवित उनका भावना-प्रधान व्यक्तित्व यदि अधिक संतुलित रूप से व्यक्त होता तो थोड़ी-बहुत आतंकजन्य विस्थापित प्रवृत्तियाँ, जो सहज ही उभर आई हैं, न होतीं और कवि अपनी कला को केवल—

"कैसे भाग जाएँ हम ?
कैसे जाग जाएँ हम ?
काल की मुट्ठी से बालू बन
कैसे खिसक पाएँ हम ?"

की भावना तक सीमित रखने की अपेक्षा, उसे मुट्ठी में पिण्ड रूप देकर उस प्राण-प्रतिष्ठा के मन्त्र का आह्वान करता जिसमें धीरता और सहनशीलता ही जीवन के नये मूल्यों को विकसित और प्रस्तुत करती हैं।[1]



रामखेलावन पाण्डेय

प्रेतों की शव-परीक्षा

इस उपन्यास में निम्न-मध्यवर्ग और उसके रूढ़िबद्ध संस्कारों की कथा है जिनकी संस्कृति समझने की भूल की जाती रही है। इन संस्कारों के प्रेत ही यहाँ बोलते हैं, इनकी आत्माएँ हमारी आत्माएँ हैं। अतः 'प्रेत बोलते हैं' में उनकी साँसों का स्पंदन है, जो साँस लेते हैं पर जीवित नहीं; जिनमें गति है किन्तु जीवन की स्फूर्ति और प्रेरणा नहीं। निम्न-मध्यवर्ग आज संस्कारों का खण्डहर है जिसमें उल्लू बसते हैं और प्रेत बोलते हैं। मृतप्राय निम्न-मध्यवर्ग का प्रतिनिधि और प्रतीक है 'समर'—समाज-भीरु, स्वप्निल, आदर्शात्मक एवं काल्पनिक महत्त्वाकांक्षी, किन्तु दब्बू और ऐसा दब्बू जो कायरता की सीमा का स्पर्श कर ले। इसकी कथा संयुक्त हिन्दू-परिवार की दयनीयता के परिपार्श्व में विकसित होती है जिसके मरणशील-ह्रासोन्मुख संस्कार व्यक्ति को आकुञ्चित कर रहे हैं। वस्तुतः अतीत का मोह, जिसे हम अखण्ड भारतीय संस्कृति की संज्ञा देते रहे हैं, प्रेत और भूत बनकर मानवीय चेतना को कुण्ठित कर रहा है और अतीत-मोही पुनरावर्तनवादी इन्हें आदर्श का महत्त्व देकर नई समस्याएँ खड़ी कर रहे हैं। इसमें प्रेतात्माएँ नहीं बल्कि जीवित प्रेत साँस ले रहे हैं, वे निम्न-मध्यवर्ग के प्रेत हैं। नवीन मानवता के उन्मेष के लिए इन वास्तविक प्रेतों से मुक्ति चाहिए, इन सांस्कारिक भूतों से मुक्ति। लेखक इस मुक्ति के मसीहा के रूप में 'प्रगतिशील मानवता' की अवतारणा करता है जो कम्युनिस्ट मानवतावाद ही है और कुछ नहीं। लेखक के इन विचारों से सहमत नहीं होना दूसरी चीज है, और आलोचक इस समाधान से सहमत भी नहीं है, किन्तु लेखक अपने विचारों के कारण अपराधी नहीं ठहराया जा सकता। फिर भी इस धारणा में संगति नहीं कि अगली व्यवस्था की चिन्ता किये बिना ही आज की स्थिति त्याज्य है। इसे प्रगतिमूलक भी नहीं माना जा सकता। लेखक कुछ ऐसा मानता हुआ दीख पड़ता है कि अभाव स्वयं अपनी पूर्ति का अन्वेषण कर लेगा, क्योंकि उसके प्रतिरूप शिरीष का कथन है : "···कुछ भी सही पहले एक

१. 'धरती की करवट', लेखक—'फ़िराक़' गोरखपुरी, प्रकाशक—इलाहाबाद लॉ जरनल प्रेस, इलाहाबाद। 'बदली की रात', लेखक—वैरागी, प्रकाशक—नीलाभ प्रकाशन, प्रयाग।

अवस्था को तो छोड़िए तभी तो दूसरी में आ पाएँगे। साफ बात तो यह है कि अगली अवस्था चाहे जो हो, न तो इन परिवर्तन-विरोधियों द्वारा दी गई होगी, न कोई पुरानी होगी—वह बिलकुल नई होगी, बिलकुल नई होगी।"[1]

वस्तुतः 'समर' का अतीताविष्ट धूमिल आदर्शवाद शिरीष के 'प्रगतिशील मानवतावाद' के साथ टकराता नहीं, उसे लेखक ने इतना कमजोर समझा कि प्रथम संसर्ग में ही चकनाचूर हो जाता है, अतः संस्कार सांस्कारिक बन्धन प्राप्त करने में अक्षम ही रह गए। 'समर' धूमिल आदर्श के सपनों को जीवन में उतार नहीं सका, उसमें क्षमता का अभाव है और अपनी अक्षमता के लिए नारी को बन्धन मानने की मध्यवर्गीय धारणा से वह जड़ीभूत भी है। 'समर' के प्रेत का आत्म-विश्लेषण वस्तुतः लेखक द्वारा निम्न-मध्यवर्गीय समाज का विश्लेषण है: "मेरी भावनात्मकता कभी भी मुझे विश्लेषणात्मक दृष्टि से न देखने को मजबूर करती रही। मैं जानता था यह मुसीबत है, यह कीचड़ है, दलदल है, जो मुझे बाँधे हुए है।....न जाने कैसा एक भावात्मक सम्बन्ध था जो मुझे उससे बाँधे था—मैं तड़फड़ाता, चीखता, चिल्लाता और ठिठुरते पक्षी की तरह अपने-आपमें मुँह छिपाकर पड़ रहता।" और प्रेतों का समवेत विश्लेषण है: "एक लम्बे अर्से से, एक अनादि युग से हमें इन कब्रों और समाधियों में बन्द कर दिया गया था—इन्हें हमारा शरीर बना दिया गया था—और यह सड़ा-गला शरीर हमें घोंटे हुए था, हमें दबोचे हुए था! हमारी सिसकियाँ बाहर नहीं आ पाती थीं।"

'प्रेत बोलते हैं' मूल रूप में कथा है यद्यपि इसमें सिद्धान्तों की सघनता और समाधान का निर्देश है जो मौलिक नहीं, उनके प्रकाशन के माध्यम में नवीनता अवश्य है। इस कथा में कथानक बन पाने की क्षमता भी है और गति की क्षिप्रता भी तथा प्रारम्भिक अंशों में कथा-रस का भी संयोग है। समाधान-रूप प्रगतिशील मानवता, साम्यवादी समाज-दर्शन-मात्र है उससे भिन्न नहीं, क्योंकि 'समर' को यह भर्त्सना खाए जा रही थी कि उसके "जैसे हजारों प्राणी इस दलदल में धँसे गल रहे हैं, सड़ रहे हैं" और उसने "उन्हें जानने की कोशिश नहीं की। कभी उनका साथ प्राप्त करने को हाथ नहीं बढ़ाया।" सर्वहारा का उल्लेख नहीं करते हुए भी उनकी ओर से लेखक दावा पेश करता है: "समाज की अवस्था या व्यवस्था को बदलने की सबसे अधिक आवश्यकता, अधिक दबाव वाला हिस्सा ही महसूस करता है, जैसे मैंने बताया—क्योंकि वह विकासशील है।" प्रभा का प्रेत ठीक ही कहता है कि "अपनी इस जीवनी-शक्ति को मैंने सदैव ही मौन के बन्धनों में बाँधकर रखा" अतः शिक्षिता होने पर भी प्रभा में प्रेरणा की स्फूर्ति बन सकने की क्षमता नहीं आ पाई। शिरीष समाज-शास्त्रीय दार्शनिक है—लेखक का मुख्य प्रवक्ता, किन्तु अपनी 'प्रगतिशील मानवता' के बावजूद और कारण भी शिरीष भाई उपन्यास के मौलिक अंग नहीं बन पाए और लेखक के व्यक्तित्व और मन्तव्य उनसे उलझ गए। उनके सम्पर्क में 'समर' का परिवर्तन केवल आकस्मिक ही नहीं बल्कि अमनोवैज्ञानिक भी है। उपन्यास चरित्र-प्रधान नहीं बल्कि विचार-प्रधान और समस्यामूलक है, अतः विविधता के दर्शन नहीं, साम्य और वैषम्य के आधार पर चारित्रिक स्पष्टता भी नहीं। पात्र व्यक्ति और व्यक्तित्वमूलक न होकर प्रतिनिधि, प्रतीक और 'टाइप' ही रह गए। लगता है कि अन्तिम पृष्ठों तक आते-आते लेखक अपना धैर्य खो बैठता है और इस हड़बड़ी में अपने

१. पृष्ठ २७३।

सारे सिद्धान्तों का भार शिरीष भाई के दुर्बल कन्धों पर डाल कर सन्तोष की साँस लेता है। अतः शिरीष 'प्लेटफार्म-स्पीकर' बन जाता है, यद्यपि उसके श्रोताओं की संख्या अधिक कभी नहीं रही। इस कारण सैद्धान्तिक आग्रह आरोप बन गए, कथा के अन्तराल से उभरने वाले मार्मिक सत्य और जीवन्त स्फूर्ति नहीं बन पाए और यहीं पर कलात्मकता की न्यूनता है, अन्यथा लेखक के पास समस्याओं को उपस्थित करने की अपनी टेकनीक है, उपमाओं में नवीनता और वैज्ञानिक संस्कार भी। उसमें व्यङ्गयपूर्ण हास्य भी है : "मैं लिखने-पढ़ने बैठा हूँ कि उस्ताद बन्नेखाँ ठुमरी के गरम पानी से वह गरारे कर रहे हैं कि न सिर्फ मैं झुँझलाकर भन्ना जाता हूँ, मुझे खुद क़ै होते-होते रह जाती है। अब हालत मेरी यह हो गई कि मैं सोता तो आज़ाद काश्मीर या कराची से आते शमशाद के गीतों की गोद में और जागता तो गोआ और सीलोन से गूँजते लतामंगेशकर के स्वरों की प्रभाती में, भोजन की जगह मुकेश के गाने और तल्हत महमूद के टैंटुए की तरकारी।"

केवल कथा-रसाग्रही को अनुपलब्धि का जो क्षोभ हो, लेखक की भाषा और शैली में ताजगी, सरसता और स्फूर्ति है यद्यपि आलोचक की आकांक्षा सदा जगती रही कि काश लेखक अपने को व्याकरण और मुहावरों के गड्ढों से बचा पाता, बच जाता। सिद्धान्त और विचार-पद्धति में नवीनता नहीं रहने पर भी लेखक में उद्वेलित करने की शक्ति है और यौनवाद के नग्न प्रदर्शन द्वारा सुलभ और सस्ती लोकप्रियता का मोह भी उसे नहीं, जैसा कि आज के अधिकांश हिन्दी-उपन्यासों में पाया जाता है। 'प्रेत बोलते हैं' की अनुपलब्धियाँ श्री राजेन्द्र यादव के भावी विकास की सूचना को आकुञ्चित करती दीख पड़ती हैं।[1]



अजितकुमार

व्यक्ति, परिवार और समाज

हिन्दी-कहानी का प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले एक डॉक्टर की धारणा है कि "कहानियाँ अपने दृष्टिकोण और चरम परिणति में अस्पष्ट और रहस्यात्मक होती जा रही हैं।"[2] किन्तु इस बात से सब लोग सहमत न होंगे। यों आज के युग में किसी भी बात पर सब लोगों का एक मत हो सकता है—ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, लेकिन इस प्रश्न पर तो बिलकुल ही नहीं; क्योंकि हिन्दी-कहानी की यह प्रवृत्ति जैनेन्द्र, 'अज्ञेय' और जोशी के प्रथम चरण की तथा उनका अनुकरण करने वाले अन्य लेखकों की है। इसका पूर्व रूप हैं : प्रसाद तथा 'हृदयेश' की वे कहानियाँ, जो भावना तथा कल्पना पर आधारित हैं। स्वयं जैनेन्द्र आदि की अपेक्षाकृत

१. 'प्रेत बोलते हैं', लेखक—श्री राजेन्द्र यादव, प्रकाशक—प्रगति प्रकाशन, दिल्ली।
२. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल : 'हिन्दी-कथा-शिल्प में कथानक का ह्रास'—'आलोचना' अंक ७।

अस्पष्ट और रहस्यात्मक कहानियों के मूल में वह विद्रोह था, जो इन लेखकों ने प्रेमचन्द-युग की इतिवृत्तात्मकता और सादगी के विरुद्ध किया। ऐसी कहानियों का बहुत-कुछ कारण मनोविज्ञान की नई दृष्टि और सांकेतिकता तथा प्रतीकात्मकता की आवश्यकता का अनुभव भी था। अस्तु, यह बीच का दौर था, जब हिन्दी-कहानी नये पैटर्न खोजने में यत्नशील थी।

इधर के लेखकों ने जैनेन्द्र, 'अज्ञेय' आदि के शिल्प, मनोविश्लेषण तथा सूक्ष्म सांकेतिकता को ग्रहण करते हुए भी हिन्दी-कहानी को अधिक स्पष्ट, सुबोध तथा सुगम बनाया है—इसका प्रमाण वे अगणित कहानियाँ हैं जो पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रही हैं। (अपितु उपर्युक्त कहानीकारों की परिवर्ती रचनाएँ भी हैं), साथ ही ये चार कहानी-संग्रह भी हैं जो इस समय मेरे सम्मुख हैं।

'अपना राज : अपने आदमी' के लेखक रामकृष्ण बक़ौल खुद पिछले दस वर्षों से दूसरे नाम से 'चलतू क़िस्म' की रचनाएँ लिख रहे हैं। रामकृष्ण नाम से वे 'स्थायी महत्त्व' की रचनाएँ लिखते हैं। उनकी ईमानदारी के हम क़ायल हैं कि चलतू क़िस्म की रचनाएँ लिखकर भी वे स्वीकार कर लेते हैं, वरना ऐसे लेखकों की कमी नहीं है जो चलतू चीज़ें लिखते रहकर भी जीवन-भर इसी भ्रम में पड़े रहते हैं कि उन्होंने स्थायी साहित्य की रचना की है। इस नाते रामकृष्ण जागरूक कलाकार और सजग आत्म-आलोचक हैं। उन्होंने 'सुन्दर की अपेक्षा सत्य का सहारा अधिक' लिया है। 'आज के जीवन का सही ख़ाका पेश करते हुए' यदि कहीं 'कटुता' आ गई है तो लेखक ने सहर्ष उसे आने दिया है।

पुस्तक तथा लेखक के विषय में ये अच्छी-अच्छी बातें पढ़कर जब हम कहानियाँ पढ़ना आरम्भ करते हैं तो बहुत संतोष नहीं होता। लेखक ने मोटी-सी यह बात भुला दी है कि कहानी 'इतिहास' नहीं है, कुछ और भी है। बस, इसीलिए उसने हर कहानी में इतिहास को बताया है, दुहराया-तिहराया है, और वह भी अकुशल ढंग से। इतिहास ही हो तो उतना न भी खले, अकुशलता खल जाती है।

प्रस्तुत संग्रह की अधिकांश कहानियाँ कांग्रेस द्वारा प्रेरित विविध राष्ट्रीय आन्दोलनों की पृष्ठभूमि लेकर लिखी गई हैं। पहली कहानी 'अपना राज : अपने आदमी' दो मित्रों—राजू तथा दीनू—की कहानी है। पीछे मुड़कर घटनाओं को देखने वाली 'रिट्रास्पेक्ट' शैली की उपर्युक्त कहानी प्रलापात्मक भावावेग के साथ प्रारम्भ होती है। कहानी में विक्षिप्त मन का सफल अंकन है। यों ढाँचा दुरुस्त है, लेकिन चोट ठीक जगह नहीं पड़ती। कुल मिलाकर गरीब दीनू के प्रति बहुत सहानुभूति उपजती हो, ऐसा भी नहीं है। मन्त्री राजेन्द्रनाथ का चरित्र पाठक के मन में असन्तोष तथा ग्लानि भरता है। उनके पक्ष में एक ही बात कही जा सकती है कि उन्होंने आयोग्य तथा अशिक्षित 'दीनू' को किसी उत्तरदायित्वपूर्ण स्थान पर नौकरी नहीं दिलाई। किन्तु लेखक तो इसी बात को लेकर क्रुद्ध है। अतः आक्रोश तथा व्यंग्य यदि इस बात पर है कि 'अपना आदमी' होकर भी 'अपने राज' में राजेन्द्रनाथ ने दीनू को बढ़िया नौकरी नहीं दिलाई, तो सरासर ग़लत व्यंग्य है।

अन्य कहानियों में पात्रों की यानी लेखक की स्मृति 'सिनेमा की रील' अथवा 'मेल ट्रेन' की गति से दौड़ती है। स्मृति की यह क्षिप्र गति ही रामकृष्ण की कहानियों में अक्सर व्यतिक्रम उत्पन्न कर देती है। कहानियाँ घटनाबहुल हो जाती हैं, क्रमबद्धता और योजना पीछे छूट

जाती है। संग्रह की पहली-दूसरी तीसरी-चौथी तथा अन्य कहानियाँ भी इसका शिकार हुई हैं। अत्यधिक घटनाओं के समावेश और कथा की परिधि के सीमित न रहने के कारण मूल संवेदना का सूत्र छूट-छूट जाता है।

'कहानी जिन वाक्यों से प्रारम्भ होती हो, उन्हींसे समाप्त भी हो, एक विशेष प्रकार की पूर्णता तथा समग्रता की ओर इंगित करने वाली यह एक आकर्षक विधि है। किन्तु आरम्भ के डेढ़ पृष्ठों को अन्त में भी वैसे-का-वैसा ही रख देना भोंडी बात है। पहली कहानी में ऐसा ही हुआ है। इससे वे बाद के डेढ़ पृष्ठ पाठक के लिए बेकार हो जाते हैं, वह उन्हें पहले ही पढ़ चुका है। इसी प्रकार, 'रूप और ऋतु' की कहानी जिस घटना से आरम्भ होती है, उसी से अन्त भी करती है—यह दिखाकर लेखक ने अच्छे शिल्प का परिचय दिया है, यद्यपि अच्छी अन्तर्दृष्टि का नहीं।

अन्तर्दृष्टि का अभाव इनमें से अधिकांश कहानियों की सबसे बड़ी दुर्बलता है और घटना-बाहुल्य सबसे बड़ी विशेषता, सबलता निश्चय ही नहीं। इतिहास—चाहे वह पात्र के जीवन का हो अथवा राष्ट्रीय आन्दोलन का—लेखक को प्रिय है। किन्तु यह इतिहास-वर्णन प्रायः इतिहासात्मक, रूखा और ऊबाने वाला हो जाता है। यों वर्णन की सादगी बड़ा गुण है, पर उसने श्री रामकृष्ण के हाथों पकड़कर अपना प्रभाव खो दिया है। थोड़े अधिक शिल्प-नैपुण्य के साथ ये कहानियाँ प्रथम श्रेणी की बन सकती थीं, अन्यथा कला के नितान्त अभाव में निम्न द्वितीय श्रेणी की रह गई हैं। प्रत्येक कहानी के अन्त में लेखक ने कोई-न-कोई 'स्पर्श' करने का यत्न किया है, किन्तु वह 'स्पर्श' अक्सर ऊपर-ही-ऊपर निकल जाता है, छूता नहीं। 'दाँत' और 'चुनाव' इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ हैं, पर दुर्भाग्यवश 'चुनाव' एक विदेशी कहानी की हू-ब-हू नकल है।

एक नियन्त्रित ढाँचे पर गढ़ी हुई कहानियों का संग्रह होते हुए भी समग्र रूप से समाज की विषमताओं, रूढ़ियों, अन्यायों तथा ढकोसलों पर यह पुस्तक एक गहरा और सशक्त प्रहार है।

इसके विपरीत 'जिन्दगी के अनुभव' में श्रीमती नमिता लुम्बा जीवन की एक दूसरी ही झाँकी उपस्थित करती हैं। इन कहानियों के संसार में राजनीतिक दाँवपेंच नहीं हैं, सामाजिक अव्यवस्था के प्रति वैसा आक्रोश भी नहीं है, 'घूसखोरी, चोरबाजारी, जनता की बेहाली, भूख-शोषण' के हृदय-विदारक चित्र भी नहीं हैं क्योंकि ये घर के भीतर की कहानियाँ हैं—परिवार और प्रेम की कहानियाँ हैं। साथ ही ये श्रीमती नमिता की कहानियाँ हैं इसलिए इनमें सर्वत्र एक नारी का दृष्टिकोण व्याप्त है। यह स्वाभाविक है। नारी के मनोभाव, उसके मनोविज्ञान तथा प्रतिक्रियाओं के भीतर श्रीमती लुम्बा की प्रत्यक्ष गति है—फ़र्स्ट हैण्ड। इसीलिए ये कहानियाँ सजीव तथा यथार्थ लगती हैं।

जीवन के खण्ड हैं, जो अचानक प्रारम्भ होकर अचानक समाप्त हो जाते हैं। यही शैली श्रीमती नमिता की भी है। अनायास उनकी कहानियाँ प्रारम्भ हो जाती हैं और परिणति भी सहज रूप में हो पाती है। 'पूर्ण' वे उतने के लिए ही हैं जितना उन्हें 'कहानियाँ' बनाने के लिए आवश्यक है, अन्यथा जीवन उन कहानियों के पहले भी है और बाद भी। श्रीमती लुम्बा को भूमिका बाँधने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि जिस जीवन का अंकन वे कर रही

हैं, वह सबको परिचित है। वे कथा में सीधा प्रवेश करती हैं।

संग्रह की प्रत्येक कहानी में शिल्प-विधान की एकरूपता दिखती है, फिर भी यह हमें उबाती नहीं, वरन् अपनी अकृत्रिमता तथा स्वाभाविकता के कारण मोह लेती है। कहानी की प्रथम पंक्ति ही पाठक का कुतूहल जाग्रत करती है—"यह सन्ध्या आखिर सो क्यों नहीं पा रही है? ओह! न्यायालय और जज! कहानी रोचक जान पड़ती है। नाम भी तो खूनी है।" आदि!

ऐसे ही सहज रूप में ये कहानियाँ समाप्त भी होती हैं। कहीं 'मातृहीना' बालिका को पिता की झिड़की खाकर मलिन होते दिखाया है तो कहीं 'जनवरी की एक रात' में अकेले घर में डरी हुई पत्नी और बहन का मज़ाक़ उड़ाते हुए मदन को। इसी प्रकार के स्थलों पर ये कहानियाँ समाप्त हो जाती हैं और हम आनन्द के प्रसंग पर अकुण्ठित होकर हँसने लगते हैं तथा अन्याय अथवा अव्यवस्था की बात पढ़कर व्यथित होते हैं।

इस संग्रह की कुछ कहानियाँ हैं जो केवल परिस्थिति को व्यक्त करती हैं। 'प्रतिदान' में एक युवती, यह जानकर कि उसका प्रेमी विवाहित है और केवल उसके प्रेम के कारण अपनी विवाहिता पत्नी से विमुख है, आत्महत्या कर लेती है। समस्या का सुलझाव स्पष्ट न होने के कारण यहाँ 'घटना' का वर्णन-मात्र हुआ है। दूसरे प्रकार की कहानियों में समस्या का विवरण और उसके प्रति असन्तोष का भाव मिलता है, जैसे 'जिन्दगी का अनुभव'। इसमें एक टाइपिस्ट लड़की अपने अफ़सर की काम-वासना का शिकार होकर गर्भवती हो जाती है और अफ़सर दूसरी लड़की से विवाह करके विदेश जाने की योजनाएँ बनाते हैं। "न जाने कितनी भोली लड़कियाँ इस दफ़्तर के पैसे के बदले अपनी अनमोल इज़्ज़त खोकर उसीकी तरह रो रही होंगी।" लेकिन इसका हल आखिर क्या है? यह हल श्रीमती नमिता लुम्बा 'अपराजिता'-जैसी कहानियों में देती हैं जहाँ समाज के बन्धनों को तोड़कर प्रेमिका अपने प्रेमी के साथ विवाह कर सकने में सफल होती है।

साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण न होने पर भी 'सरिता' और 'धर्मयुग' के ढंग की ये पारिवारिक कहानियाँ सामान्य पाठकों को पसन्द आयँगी, इसकी आशा की जा सकती है।

'संघर्ष के बाद' में श्री विष्णु प्रभाकर ने 'मेरी क़ैफ़ियत' के अन्तर्गत इतना कुछ कह दिया है कि इस संग्रह की कहानियों के सम्बन्ध में कुछ अधिक जानना-कहना शेष नहीं रहता। विष्णु प्रभाकर पुराने लेखक हैं, पिछले बीस वर्षों से तो लगातार लिख रहे हैं। उनकी कहानियाँ इस बीच पुरस्कृत और सम्मानित भी हुई हैं। जैसा उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है—प्रारम्भ में उन पर आर्यसमाज का प्रभाव रहा है और आज भी जैसे वह प्रभाव छूटा नहीं है तभी तो एक विशेष प्रकार की आदर्शवादिता का मोह उन्हें बाँधे हुए है। वे उन कहानीकारों में नहीं हैं, जो समाज के समूचे खोखले ढाँचे का पर्दाफ़ाश करके रख देते हैं और कहते हैं—देखो, यह तुम हो! तुम कितने घृणित हो!

इसके विपरीत, विष्णु प्रभाकर का ढंग दूसरा है। समस्या का विश्लेषण तथा प्रस्तावना वे पहले ही ढंग से करते हैं। स्थिति की भयंकरता को दिखाने में वे किसी से कम नहीं हैं, किन्तु उसे प्रायः एक ऐसा मोड़ दे देते हैं कि वह सारी विषमता एक मनोहर स्वप्न में परिणत हो जाती है। विष्णु प्रभाकर निर्मम नहीं हो पाते, उनमें एक विचित्र-सी नैतिक सहानुभूति है और

नैतिक सहानुभूति को एक लेखक ने अक्षम्य रूढ़ि कहा है। अक्षम्य वह न भी हो, रूढ़ि तो है ही। जो भी हो, इस संग्रह की बहुत-सी कहानियों को पढ़ने पर पाठक के मन में अन्याय के विरोध में आवाज बुलन्द करने की प्रवृत्ति नहीं उठती। पाठक भी पात्रों के साथ-साथ विश्वास करने लगता है कि 'सुधार तो होगा ही' और प्रायः तो भ्रमवश यह भी सोचने लगता है कि 'परिस्थिति तो सुधर चुकी है, अब उसके लिए चिन्तित होने की क्या आवश्यकता?' लेखक द्वारा प्रस्तुत आदर्श, यथार्थ-जैसा दिखकर हमें भुलावा देता, दे सकता है—और यह बात ठीक नहीं है।

'स्वप्नमयी' में प्रसिद्ध कहानीकार अजित की बहन अमला भाई को दो पत्र भेजती है। वह स्वयं कहानी-लेखिका बनना चाहती है, इसलिए लिखती है—"कभी-कभी तो मैं आपकी कहानी सामने रख लेती हूँ। आपका प्लाट तो नहीं चुराती पर शैली ज़रूर चुराती हूँ।" पढ़कर लगता है कि स्वयं लेखक यह पत्र लिख रहा है, क्योंकि प्रारम्भ के विष्णु प्रभाकर पर प्रेमचन्द और शरत्-जैसे लेखकों का प्रभाव बिलकुल स्पष्ट है। '३४ की लिखी कहानी 'स्नेह', शरच्चन्द्र की 'मँझली बहन' से बुरी तरह प्रभावित है और '३६ की 'संघर्ष के बाद' तो 'बिन्दो का लल्ला' का छायानुवाद-भर लगती है। 'जीवन-दीप', 'गृहस्थी', 'दूसरा वर' आदि कहानियाँ मौलिक होते हुए भी प्रेमचन्द-प्रसाद की याद दिलाती हैं। इसी प्रकार 'पतिव्रता' शीर्षक कहानी एक विदेशी कहानी का उत्कृष्ट भारतीयकरण ज्ञात होती है।

'अभाव' प्रस्तुत संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में है। मनोविज्ञान के भीतर इस कहानी की इतनी गहरी पैठ है कि सहसा इसकी मौलिकता पर विश्वास नहीं होता। ऐसी साँचे में ढली कहानी लिख पाने के लिए विष्णु प्रभाकर बधाई के पात्र हैं। फिर भी कहानी के अन्त में प्रोफ़ेसर के चरित्र को दिये गए मोड़ से हम सहमत नहीं हैं। आदर्श होते हुए भी वह अस्वाभाविक है। सच तो यह है कि लेखक की अधिकांश कहानियाँ एक ही जगह टूटती जान पड़ती हैं। वह जगह है—आस्थावादिता, उद्देश्यवादिता, आदर्शवादिता। आस्था आवश्यक है, वाद का आग्रह अनावश्यक। इस आग्रह के वशीभूत होकर ही विष्णु की कुशल लेखनी भी कहानियों को ऐसे स्थल पर परिणति देती है जहाँ अन्त—विशिष्ट, अलग और ऊपर से थोपा हुआ जान पड़ता है।

यों विष्णु प्रभाकर का अपना रंग उन कहानियों में सबसे अधिक उभरा है जो उन्होंने पंजाब के जीवन को या साम्प्रदायिक दंगों को लेकर लिखी हैं। वह सब लेखक का 'आँखों देखा'-जैसा है। दंगों पर लिखी गई 'मैं जिन्दा रहूँगा', 'मार्ग में', 'ताँगे वाला' आदि कहानियाँ हृदय-द्रावक हैं। विष्णु प्रभाकर जीवन के गहरे, अनुभूतिपूर्ण और आवेगात्मक पलों को बड़ी सरलता से पकड़ लेते हैं और कहानी के विधान में भली प्रकार निभाते हैं। अक्सर ये 'मूड्स' इतने सूक्ष्म और संवेदनपूर्ण होते हैं कि कविता के 'मूड्स' जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए 'अगम-अथाह' को लें। अपने मूल रूप में इस कहानी का भाव भी एक करुण कविता का भाव है जिसने अपने रंग-रूप-आकार के कारण एक सफल कहानी का रूप धारण किया है।

'स्वप्नमयी' में ही अमला लिखती है : "जीतने के लिए प्रयत्न करना ही सबसे बड़ी सफलता है। तब मैं फिर उत्साह से भरकर पन्ने रँगने लगती हूँ। पन्ने रँग-रँगकर ही तो आज आप एक महान् कथाकार बन गए हैं। मैं भी बनूँगी।" विष्णु प्रभाकर ने भी जीतने के लिए ही पिछले बीस वर्षों से निरन्तर प्रयत्न किया है। पुराने प्रभावों को हटाया है और कला

तथा शिल्प में परिष्कार लाए हैं। आज वे जीत भी गए हैं और यही कारण है कि प्रस्तुत संग्रह में संकलित १९५०-५३ के बीच लिखी गईं—'गृहस्थी', 'जज का फ़ैसला', 'सम्बल' और 'डायन' आदि—उनकी ऐसी कहानियाँ हैं जिन पर कोई भी साहित्य गौरवान्वित हो सकता है।

श्री कमल जोशी के संग्रह 'चार के चार' की कहानियाँ सब एक-सी अच्छी हैं। स्तर में विशेष अन्तर नहीं मिलता। सधी क़लम से वे लिखी गई हैं, इसीलिए यदि कहीं ऐसा जान भी पड़ता है कि कहानी बन नहीं पा रही है तो यह संशय अन्ततः भ्रम ही सिद्ध होता है। कहानी कैसी भी क्यों न हो, अन्त में कमल जोशी उसे सँभाल ही लेते हैं। इससे ज्ञात होता है कि दृष्टि उन्होंने कहानीकार की पाई है।

बिना भूमिका के कहानी में सीधा प्रवेश—यही कमल जोशी की शैली है। कथा का सूत्र बीच में से पकड़कर ही वे प्रारम्भ कर देते हैं और कुछ इस तरह बढ़ते हैं कि पहले की कथा दुहराने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसीलिए इन कहानियों में उत्तर-घटना को बताकर पूर्व-घटना का परिचय देने की विधि बिलकुल छोड़ दी गई है। कई कहानियाँ, भूत तथा भविष्य-काल की क्रियाओं में लिखी होने पर भी, प्रत्यक्ष वर्तमान में घटती हैं। सम्पूर्ण इतिवृत्त को न लेकर ये अपने आकार में उतनी ही घटना लेती हैं जितनी कथा-मात्र के लिए आवश्यक है। इनके प्रारम्भ में देखिए :

"सिगरेट समाप्त कर सतीश ऑफ़िस जाने के लिए तैयार होगा।"....[1]

"हजारीलाल ने आत्म-हत्या कर ली....।"[2]

"काफ़ी खोज-तलाश के बाद अब मैंने एक नया पार्क ढूँढ़ लिया है...."[3] आदि

'कन्हैया की माँ' शीर्षक कहानी नारी-मनोविज्ञान के रोचक पहलुओं पर प्रकाश डालती है। कन्हैया की माँ-जैसी स्त्रियाँ पराधीन रहना पसन्द नहीं करतीं, घर बसाने की कल्पना उन्हें असह्य है, बाजारू औरतों का जीवन ही उनका जीवन है—सच है। लेकिन हर सहारे को ठुकराने के प्रयास में एक पागल व्यक्ति के प्रति करुणा से भरकर—स्वयं उसे सहारा देकर—अन्ततः खुद उस पर मन, प्राण से आश्रित हो जाना—नारी का स्वभाव ही कुछ ऐसा विचित्र है। इससे मिलते-जुलते वातावरण का अंकन करने वाली दूसरी कहानी 'चार के चार' है। 'चार के चार' एक पुरानी बात को नये परिवेश में प्रस्तुत करती है। भिखारियों के ऐसे सहकार जीवन-यापन की सुविधा के लिए आम तौर पर बन जाते हैं जहाँ एक माँगता-कमाता है, दूसरा खाना बनाता है। इस कहानी का पुरानापन समस्त प्रेम-कहानियों का ही पुरानापन है। अनुराग, अवैध सम्बन्ध, प्रतिहिंसा—सारी बातें हमारी जानी-पहचानी हैं, पर 'वेन्यू' बिलकुल नया है, और इसीलिए कहानी के अन्तिम वाक्य हमारे कानों में देर तक गूँजते रहते हैं। लँगड़े भिखारी के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण कपासी गर्भवती हो जाती है। इस सूचना को पाने पर उसके अन्य दोनों साथी लँगड़े को मार-पीटकर भगा देते हैं। लँगड़े के चले जाने के बाद—

"निर्विकार पत्थर की तरह कपासी बैठी रही। कुछ वक्त कटा। काने ने एक बार रसिकता की कोशिश की—'ख़ैर, हमारे दल में चार थे, चार जने फिर हो जायँगे, हा, हा

१. स्वप्न के आखिर में।
२. लाश।
३. कामरेड।

हा....' लूले की फटकार सुनकर वह चुप हो गया।"

रसिकता एवं परिहास की इस रुचि का परिचय पाकर हम स्तब्ध रह जाते हैं।

कमल जोशी की अधिकांश कहानियाँ 'चरित्रों' पर आधारित हैं। ये चरित्र मूलतः व्यक्ति के चरित्र हैं जो कहीं-कहीं अपने वर्ग के चरित्र का भी परिचय देते हैं। उनके पात्रों की प्रकृति तथा स्वभाव सामान्य से कुछ अधिक विशिष्ट है। उनमें परिवर्तन भी होते हैं। कमल जोशी की कला की सफलता का रहस्य यही है कि इस चरित्र-परिवर्तन का आधार वे गहरी मनोवैज्ञानिकता को बनाते हैं और यहीं वे हिन्दी के पहले खेवे के कहानीकारों से भिन्न हैं। वे 'चरित्र-चित्रण' के आधारों की पूर्ण व्याख्या तथा विश्लेषण करते हैं। इन्सान को सतही तौर पर पेश करने वाली 'हृदय-परिवर्तनवादी' कलाकारिता से जोशी की कला भिन्न है।

इस प्रकार कहानी की घटनाओं को भी इन्होंने कुशलता के साथ क्रमबद्ध किया है। इसीलिए उनकी कहानियाँ पूर्व-निर्धारित क्रम के अनुसार परिचालित होती नहीं जान पड़तीं। एक घटना से दूसरी घटना और एक क्रिया से दूसरी प्रतिक्रिया विकसित होती दिखती है।

कहानियों में दोष खोजना आवश्यक नहीं है। बहुत-सी दृष्टियों से कमल जोशी की कहानियाँ निर्दोष हैं, पर एक बात अवश्य है कि आदमी के बहुत अच्छे स्वभाव का, बहुत स्वस्थ मनोविज्ञान का अथवा बहुत अनुकरणीय चरित्र का अंकन ये कहानियाँ नहीं करतीं। इसके विरुद्ध इन कहानियों के पात्र अधिकांशतः विकृत, छली, कुण्ठित तथा कलुषित ढंग के लोग हैं। अस्तु, मानव-चरित्र के जिस पहलू पर विष्णु प्रभाकर आवश्यकता से अधिक बल देते जान पड़ते हैं, उसका अभाव इन कहानियों में खलता है। मानव के प्रति सही दृष्टिकोण कदाचित् इन दोनों के बीच कहीं है।

इन पुस्तकों में संग्रहीत कहानियाँ एक विस्तृत जीवन-भूमि का परिचय देती हैं। इन सभी लेखकों ने अपना-अपना ढंग विकसित कर लिया है। यदि इन पुस्तकों में उनकी प्रतिनिधि कहानियाँ संग्रहीत हैं (जो शायद हैं) तो हम पाते हैं कि इन लेखकों को जो-कुछ भी कहानी के माध्यम से कहना है—वह सब धीरे-धीरे उनके सम्मुख निश्चित और स्पष्ट होता गया है। कुल मिलाकर अपनी कहानियों में यदि विष्णु प्रभाकर एक भावुक और आदर्शवादी स्वप्नद्रष्टा हैं तो रामकृष्ण अन्यायी तथा अक्षम शासन के प्रति विद्रोह करने वाले एक सैनिक। कमल जोशी यदि विभिन्न चरित्रों तथा परिस्थितियों के कुशल-निर्मम चित्रकार हैं तो नमिता लुम्बा प्रेम तथा परिवार की मधुर-तिक्त अनुभूतियों को कथा-सूत्र में पिरोती हैं।

अस्तु, इसमें सन्देह नहीं कि इन संग्रहों में हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ हैं। सेक्स, प्रेम, परिवार, राजनीति, क्षुधा, साम्प्रदायिकता, व्यक्ति, समाज, सार्वदेशिकता और तत्कालीनता—सभी का 'दर्शन-दिग्दर्शन' इनमें मिलता है। इस दृष्टि से ये किसी भी साहित्य की प्रतिनिधि कहानियाँ हैं। उत्कर्ष-अपकर्ष को देखें तो कलात्मक प्रतिभा और शिल्प-नैपुण्य कमल जोशी में सबसे अधिक है, रामकृष्ण में यह सबसे कम पर आग तथा विद्रोह सबसे अधिक। अन्तर्दृष्टि विष्णु प्रभाकर में उच्चकोटि की है और मनमोहकता श्रीमती नमिता लुम्बा में बहुत-कुछ।

इस सबसे बढ़कर उपर्युक्त लेखकों की विशेषता यह है कि उन्होंने कहानियाँ किसी विशेष वर्ग के लिए नहीं लिखीं। इनके अभिप्रेत पाठक समूचे हिन्दुस्तान की जनता में फैले हैं। वे कहानियाँ अगम, दुर्बोध तथा अस्पष्ट नहीं हैं। मनोविज्ञान, प्रतीक-पद्धति, सांकेतिकता आदि

विधियों को अपनाकर भी इनमें 'निश्चित इतिवृत्त तथा स्पष्ट सहानुभूति का ह्रास'[1] नहीं हुआ है। ये तत्त्व इनमें प्रचुरता के साथ हैं और इसलिए इस भय का कारण नहीं है कि ये तथा इनकी-सी आजकल की असंख्य कहानियाँ पाठकों की समझ में नहीं आ रही हैं।[2]

गंगाप्रसाद मिश्र

चाँद-सूरज के बीरन

'चाँद-सूरज के बीरन' श्री देवेन्द्र सत्यार्थी की आत्म-कथा का प्रथम भाग है। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी को किशोरावस्था से ही लोक-गीतों के भाव-माधुर्य ने मोह लिया था और लोक-गीतों के इस आकर्षण ने ही उन्हें एक परिवार और एक ग्राम की सीमाओं में बँधकर न रहने दिया। उनके इस आकर्षण की विशेषता यह थी कि उन्हें किसी एक ही बोली के गीतों का आकर्षण न मोहित करता था, जहाँ पंजाबी के गीत उन्हें अच्छे लगते थे वहीं अपने स्कूल के चपरासी वंशी के पूर्वी और अपने सहपाठी वजीरखान के लाउई के गीत भी। गीतों के इस व्यापक आकर्षण ने सत्यार्थी के पैरों में वह चक्कर उत्पन्न किया जिसके विषय में गाँव के ज्योतिषी ने पहले ही आशंका प्रकट कर दी थी।

पुस्तक का नाम 'चाँद-सूरज के बीरन' जैसा रोमाण्टिक है वैसा ही सार्थक भी। चाँद और सूरज नित्य-प्रति पृथ्वी की परिक्रमा करते-करते कभी नहीं थकते, वैसी ही प्रकृति तो देवेन्द्र सत्यार्थी ने भी पाई है।

प्रस्तुत पुस्तक में श्री देवेन्द्र सत्यार्थी के बचपन से लेकर युवावस्था के पदार्पण तक का चित्र है। लेखक ने उन सब प्रभावों को बड़ी सुन्दरता से सँवारा है, जो उसके व्यक्तित्व को बनाने में सहायक हुए हैं। अपने परिवार और ग्राम भदौड़ का बड़ा ही स्वाभाविक चित्र उसने खींचा है। जिन व्यक्तियों ने उसके जीवन को अधिक प्रभावित किया है उनमें मौसी भागवन्ती, भाभी धनदेवी, माँ, माजी, ताई गंगी, फतू, बाबा और उसका सहपाठी तथा मित्र आसासिंह हैं। इन सबके स्नेह से देव का व्यक्तित्व जिस प्रकार माखन की पुतली की भाँति कोमल, भावुक और सरस बनता है, उस पूरे कार्य-कलाप के शब्द-चित्र देने में लेखक को बड़ी सफलता प्राप्त हुई है। इस आत्म-कथा को पढ़ते समय एक बात सदैव मेरे मन में आती रही है कि नगर और ग्राम के बालकों में एक सबसे बड़ा अन्तर यह होता है कि किराये के मकानों में रहने वाले, आज यहाँ कल

१. 'हिन्दी कथाशिल्प में कथानक का ह्रास'—'आलोचना' अंक ७।
२. 'अपना राज : अपने आदमी', लेखक—रामकृष्ण, प्रकाशक—ऋता प्रकाशन, पोस्ट बाक्स १२, लखनऊ।
'जिन्दगी के अनुभव', लेखिका—नमिता लुम्बा, प्रकाशक—सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
'संघर्ष के बाद', लेखक—विष्णु प्रभाकर, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
'चार के चार', लेखक—कमल जोशी, प्रकाशक—शुभ्रा प्रकाशन, २६ कण्ट्राक्टर्स (वेस्ट) जमशेदपुर।

वहाँ स्थानान्तरित हो जाने वाले परिवारों में पलने वाले बच्चों का प्रकृति से उतना नैकट्य कभी नहीं स्थापित हो सकता जितना ग्रामीण बच्चों का; जो घर की गाय, भैंसों, बैलों और बकरियों से ही एक अविच्छिन्न सम्बन्ध नहीं पाते बल्कि जिन्हें घर के सामने के पीपल और बरगद पुरानी कहानियाँ सुनाते प्रतीत होते हैं और खेत के नन्हे-नन्हे पौधों की पत्तियाँ जीवन का नया सन्देश देती प्रतीत होती हैं। बचपन से ही देव के स्वभाव में एक स्वच्छन्दता है, व्यर्थ के बन्धनों के प्रति उसके मन में एक प्रकार का आक्रोश और विद्रोह है। भय से कोई काम उससे नहीं करवाया जा सकता, प्रेरणा और आदर्श उससे चाहे जो करवा लें। गीत, लोक-गीत, ग्राम-गीतों की, चाहे वह किसी प्रदेश या बोली के हों, भाव-सुकुमारता तथा आडम्बरहीनता-जैसे बचपन से ही उसका जीवन-संगीत बन गई थी। उसके सहपाठी आसासिंह ने उसके इस शौक को और खराद चढ़ाई, राधाराम ने भी इसमें सहायता दी और नागरिकता के कायल लोगों का यह कथन कि जो बात उर्दू की शायरी में है वह गँवारू गीतों में कहाँ आ सकती है उसके मन को न डिगा सका। लोक-गीतों के प्रति प्रेम उसके मन में गहरे-से-गहरा उतरता चला गया और एक दिन उसने अपना यह रंग दिखलाया कि उन्हींके चक्कर में वह अपने परिवार और माता-पिता को छोड़कर निरवलम्ब चल दिया। ग्राम-गीतों के इस प्रेम की तुलना किसी संसारी प्रेम या लगन से न करके किसी आस्तिक के अपने इष्टदेव के प्रति प्रेम से ही की जा सकती है। 'चाँद-सूरज के बीरन' को पढ़कर यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि लोक-गीत ही देवेन्द्र सत्यार्थी का जीवन है, यदि इन्हें उनके जीवन से निकाल दिया जाय तो जैसे जीवन का सार ही निकल जाय।

देवेन्द्र सत्यार्थी अपनी आत्म-कथा से स्पष्ट ही आदर्शवादी दिखलाई देते हैं। इस आत्म-कथा में यदि मुझे कोई कमी दिखलाई दी तो वह मानसिक दुर्बलताओं के चित्रण की कमी—आत्मघात वाली घटना ही एक दिखलाई दी।

'चाँद-सूरज के बीरन' में कहीं-कहीं बड़े ही हृदयग्राही और मार्मिक गीत लेखक ने दिये हैं, जिनके भावों की सुकुमारता, आडम्बरहीनता, विचारों का अछूतापन तथा कौमार्य मन को बिद्ध कर देता है। कुछ उदाहरण देने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता। पंजाबी और उनका आशय देने के बदले केवल आशय ही दिये देता हूँ :

"कब्रें इन्तजार करती हैं, जैसे माताएँ बेटों का इन्तजार करती हैं।"

कब्र और माँ की यह तुलना निश्चय ही अद्भुत है।

"ओ चाँद, तेरी और मेरी चाँदनी; ओ तारे, तेरी और मेरी धमक, ओ री ओ! चाँद रोटियाँ पका रहा है, तारा रसोई कर रहा है, ओ री ओ! चाँद की पकाई हुई रोटियाँ मैंने खा लीं, तारे की रोटियों में से भी दो ही बची रह गईं, ओ री ओ! सास ने मुझसे कहा, 'घी में मैदा गूँधो।' ओ री ओ! घी में मैंदा कम पड़ा, सास मुझे गालियाँ दे रही है, ओ री ओ! ओ सास, मुझे गालियाँ मत दे, यहाँ हमारा कौन सुनेगा, ओ री ओ! महलों के नीचे खड़ा है मेरा बाप, तुम्हारी गालियाँ सुन-सुनकर उसकी आँखों में आँसू भर आते हैं, ओ री ओ! न रो बाबुल, न रो, बेटियों के दुःख बहुत बुरे होते हैं, ओ री ओ! चाचे का बेटा भाई लगता है, वह मेरे पास से गुजर गया। मेरा अपना वीरन होता तो नदियों को चीरता हुआ मुझे आ मिलता। ओ री ओ!"

इस गीत की मार्मिकता की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है, बात चाहे कितनी ही

पुरानी हो परन्तु हृदय को झकझोर देती है।

ये वह कोमल गीत हैं जो देवेन्द्र सत्यार्थी को जैसे घुट्टी में ही मिल गए थे, इन्होंने उनके जीवन को बनाया, सँवारा और प्रेरणा दी है। इन्हें जाने बिना देव के व्यक्तित्व के विकास को नहीं समझा जा सकता।

देवेन्द्र सत्यार्थी की गद्य-शैली बड़ी स्वाभाविक, शब्दाडम्बरहीन, पर सशक्त है। भावों को प्रकट करने की प्रचुर क्षमता उसमें है। दृश्यों का चित्रण करने में और कल्पना की ऊँची उड़ानें भरने में हमें सत्यार्थी के कवि के दर्शन होते हैं, पर उनकी काव्यात्मकता न तो उनकी शैली को बोझिल ही बनाती है न गद्य-काव्य के निकट ही पहुँचा देती है; जैसा अक्सर कवियों के गद्य में हो जाता है।

मुझे यह पूर्ण विश्वास है कि देवेन्द्र सत्यार्थी की इस आत्म-कथा के प्रथम भाग का हिन्दी-जगत् में खूब ही स्वागत होगा और पाठक आगामी तीन भागों की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करेंगे, जो निश्चय ही अधिक रोचक होंगे, क्योंकि उनमें सत्यार्थी जी के पर्यटन की कथा होगी।[1]



ति० शेषाद्रि

भारतीय साहित्य का परिचय (तमिल)

इस पुस्तक का गेट-अप, छपाई आदि सुन्दर है। छपाई की भूलें नहीं के बराबर हैं; और जो दो-चार-भूलें यत्र-तत्र दिखाई देती हैं वे भी शायद तमिष् के अक्षरों की अनभिज्ञता के कारण हुई हैं। उदाहरण के लिए उयिरेछुतु[2] शब्द को लें, छु की जगह लु या षु होना चाहिए। 'कुरिंजि-वकली'[3] शब्द अवश्य ग़लत छपा है।

तमिष् की एक विशेष ध्वनि ष़ है उसका संकेत सर्वत्र एक समान नहीं किया गया है। यह बात अवश्य खटकती है। मेरी राय में इस ध्वनि का 'ष' के नीचे बिन्दी लगाकर संकेत देना उचित होगा; क्योंकि यह ध्वनि 'ल' या ळ की अपेक्षा ष के अधिक समीप है। इस पुस्तक में इस अक्षर के लिए कहीं ल का व्यवहार हुआ है तो कहीं ळ का, यह अवश्य भ्रम में डाल सकता है।

तमिष् की और एक विशिष्ट ध्वनि है जिसका र के नीचे बिन्दी देकर संकेत किया जा सकता है। वह ध्वनि आर. रि. वु[4] या आर ऱूंप्पढे में पाई जाती है।

अगर लेखक शुरू में इन ध्वनियों का परिचय दे देते और पुस्तक में सर्वत्र उसके अनुकूल सावधानी दिखाते तो अच्छा होता।

१. 'चाँद सूरज के बीरन', लेखक—देवेन्द्र सत्यार्थी, प्रकाशक—एशिया प्रकाशन, नई दिल्ली।
२. पृष्ठ १६।
३. पृष्ठ २१।
४. पृष्ठ १७।

तमिल भाषा और साहित्य के परिचयात्मक ज्ञान की दृष्टि से यह पुस्तक पर्याप्त ही नहीं, बल्कि सुरुचिपूर्ण तथा सुन्दर है। लेखक तमिल-भाषी हैं और दिल्ली में रहते हैं अतः इस काम के लिए बिलकुल उपयुक्त व्यक्ति हैं। तमिल-साहित्य के विशाल कानन का इतना अच्छा तथा सुन्दर परिचय देना अवश्य कठिन काम है, पर लेखक ने अपना उत्तरदायित्व खूब निबाहा है। एतदर्थ वे बधाई के पात्र हैं।

फिर भी जो तमिष़ और तमिष़ साहित्य के ज्ञाता हैं वे एक बार पुस्तक पढ़कर यही समझेंगे कि लेखक ने ऊपर-ऊपर की सुनी या पढ़ी बातों का आधार लेकर यह पुस्तक तैयार की है। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) कवि-परिषद्[1] का जो नाम इस पुस्तक में आया है उसका तमिष़ मूल 'पुलवर-संघ' है। 'पुलवर' कवि का समानार्थी नहीं है, यद्यपि कवि पुलवर भी हो सकता है, अतः 'पुलवर' को पण्डित के अर्थ में अनूदित करना अधिक युक्त होगा।

(२) इसी प्रकार 'आररिकुयिर' को छः बुद्धि वाले कहकर समझाने का प्रयास किया गया है। पता नहीं, हिन्दी-भाषा-भाषी उसे ठीक तरह से समझ सकेंगे? पाँच इन्द्रिय-ज्ञान के अतिरिक्त विवेकयुक्त मनुष्य को 'आररिवुच्चिर' कहा जाता है। मेरी सम्मति में इस बात को समझाकर कहना आवश्यक था।

(३) 'आष़्वार'[2] का अर्थ 'रक्षक' दिया गया है। लेकिन तमिल में 'आष़्वार' शब्द भी है और एक 'आलवार' शब्द भी है। 'आलवार' का अर्थ रक्षक है और 'आष़्वार' का अर्थ है 'जो डूबे रहते हैं'। वे सदा भगवद्गुणार्णव में डूबे या मग्न रहते थे, अतः उनकी उपाधि आष़्वार पड़ी।

अब कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं, जिनमें पद्यों के अर्थ करने में असावधानी बरती गई है, जिससे उनका अर्थ-गौरव घट गया है या भाव विपरीत हो गया है अथवा समझने में भ्रम हो सकता है—

(१) 'विशालकाय हाथी जब जलाशय में पड़ा रहता है'[3] आदि का मूल इस प्रकार है—

इक्कुरु माक्कळ वेण् गोडु कषा अलिन्
नीतुरै पडियु पेरु गलिरु पोल्—

इसमें 'वेण्गोडु कषाअलिन्' का अर्थ है 'सफ़ेद दाँत साफ़ करें, इस उद्देश्य से' लेखक के अर्थ से ऐसा लगता है मानो हाथी पहले ही पानी में हो, बालक नटखटपन कर रहे हों और हाथी उसे सह रहा हो। असल बात यह है कि हाथी सफ़ेद दाँतों का मैल दूर करना चाहता है। इसी कारण वह जलाशय में पड़ा रहता है। अगर यहाँ अर्थ 'जलाशय' का विद्वानों की संगति से, 'बालक' का पण्डित कवि से और 'साफ़ करने' का सदुपदेश देने से लगाया जायगा तो इस पद्य का अर्थ-गौरव तथा सौन्दर्य नष्ट हो जायगा।

(२) 'पारि'[4] सम्बन्धी पद्य का भावार्थ साफ़ नहीं हुआ है।

१. पृष्ठ १४।
२. पृष्ठ ५६।
३. पृष्ठ २८।
४. पृष्ठ ३०।

(३) 'तिरुवल्लुवर'[१] के सम्बन्ध में लिखा गया है। 'तिरुक्कुरल' से काफ़ी भावार्थ भी दिये गए हैं। लेकिन यह पता नहीं लगता कि लेखक ने निश्चित पद्यों को लेकर, उनके अनुवाद दिये हैं या समूने ग्रन्थ के अध्ययन से निष्कर्ष निकालकर भावार्थ प्रस्तुत किया है। अगर अनुवाद ही हों, तो पद्य-संख्या देने से यह भ्रम दूर हो जाता।

एक वाक्य है: 'स्त्री से महान् और कौन है यदि वह शील रूपी सुदृढ़ शक्ति से युक्त हो तो....'[२]

अगर यह व्याख्या लेखक की अपनी शैली में है तो कहना पड़ेगा कि भाव में गम्भीरता नहीं है, और 'तिरुवल्लुवर' के अर्थ-गौरव को स्पष्ट नहीं करती है। अगर किसी पद्य का अनुवाद है तो अनुवाद जल्दी में असावधानी से किया गया है।

शायद यह इस कुरळ का अनुवाद है:

पेण्णिर् पेरुन्दक्क, याकुळ कर्पेन्नुन्
तिण्मैयुण्डाहप् पेरिन्

[जो सतीत्व की दृढ़ता रखने वाली हो ऐसी स्त्री से बढ़कर श्रेष्ठ सम्पत्ति क्या है—कुछ नहीं है।]

(४) इसी तरह 'रूठना'-सम्बन्धी जो नमक वाली उपमा दी गई है उसके लिए 'कुरळ' में आधार नहीं मिलता।

विषय के ज्ञान के सम्बन्ध में भी कुछ भ्रम के उदाहरण हैं—

(१) कहा गया है कि 'शिलप्पधिकारम्'[३] नाटकीय शैली में रचित सर्वांग-सुन्दर काव्य है। तमिष के साहित्यज्ञ जानते हैं कि यह ठीक नहीं है।

(२) आण्डाल के बारे में बात करने वाला कोई 'तिरूप्पावई' का नाम तक लेना भूल जाय, यह समझना कठिन है। यह किसी भी तमिष् देशवासी के मन में एक खीझ पैदा करेगा। शायद लेखक को पता नहीं है कि 'तिरूप्पावई' 'नाच्चियार तिरुमोषि' के अन्तर्गत नहीं आया है यद्यपि तिरुमोषि का अर्थ 'श्रीसूक्तियाँ' है। 'पावै व्रत' 'काम व्रत' से अधिक प्रसिद्ध है और 'तिरुप्पावई' का ही अधिक महत्त्व है।

(३) लेखक ने भारतीदासन् की प्रशंसा खूब की है। एक कलाकार के रूप में इनको इतनी प्रशंसा मिलनी भी चाहिए थी। लेकिन नामक्कल रामलिंगम् पिल्लै का परिचय अधूरा है। लेखक यह मानेंगे कि कला उस समय हेय हो जाती है जब वह हेय भावों का प्रचार करने लग जाती है।

भारती दासन् के घातक प्रचार का कोई सबल प्रतिद्वन्द्वी है तो वह नामक्कल रामलिंगम् पिल्लै हैं। कविता के ही क्षेत्र में वे उसका यथायोग्य जवाब देकर राष्ट्रीय एकता, भक्ति की दृढ़ आस्था, गांधीवादी सिद्धान्तों के आधार पर सामाजिक उन्नति तथा आर्थिक उत्थान आदि का प्रचार तथा प्रसार कर रहे हैं। उनके मूल्यांकन में लेखक अवश्य चूक गए हैं। भारती दासन् को पढ़ने वाले तमिष-संस्कृति का अच्छा परिचय प्राप्त नहीं कर सकते।

१. पृष्ठ ३२।
२. पृष्ठ ३४।
३. पृष्ठ ३८।

लेखक ने 'नेड्डुन्तोगै' का नाम दिया है, और बाद में वे अहनानूरू[1] की चर्चा करते हैं। दोनों एक ही चीज के नाम हैं, लेखक यह कहना भूल गए हैं।

लेखक यदि 'आररूप्पडै' का शाब्दिक अर्थ भी दे देते तो समझना सरल हो जाता।

आधुनिक काल के साहित्यिकों में लेखक कुछ मान्य व्यक्तियों के नाम छोड़ गए हैं; जैसे औवै दोरैसामी पिल्लै, डॉ० मा० राजमाणिक्कम् पिल्लै आदि हैं। शायद ऐसा इसलिए हुआ कि पुस्तक छोटी है और स्थान का अभाव था।

एक बात का मैं स्पष्टीकरण करना चाहता हूँ। लिखा गया है—"बी० एस० रामैया इधर कुछ वर्षों से साहित्य-जगत् से दूर हट गए हैं यह खेद की बात है।"[2]

उनके आश्वासनार्थ मैं यह कहना चाहूँगा कि बी० एस० रामैया की कहानियाँ अब सभी पत्र-पत्रिकाओं को सजाने लगी हैं। परन्तु प्रश्न है एक व्यक्ति-विशेष के प्रति इतना पक्षपात क्यों? उनके समकक्ष लेखकों के बारे में तो लेखक भूल ही गए।

'चन्दा मामा' के तमिल रूप का नाम 'अंबुली मामा' है।

इन साधारण भूलों के बावजूद प्रस्तुत पुस्तक सुरुचिपूर्ण है। इसका विषय-संकलन बहुत उत्तम रीति से किया गया है।

अगले संस्करण में यदि इन त्रुटियों को दूर किया जायगा तो पुस्तक और भी उपादेय हो सकेगी।[3]



राजेन्द्रप्रसादसिंह

प्रगतिशील चिन्तन और साहित्य

'प्रगति' एक सापेक्ष अर्थ रखने वाला शब्द है। किसी युग, राष्ट्र, समाज या व्यक्ति के सम्बन्ध में जब इस शब्द का प्रयोग होता है, तो एक अवस्था, क्रिया या विचार का दूसरे इन तत्त्वों से बढ़ जाना ही सामान्य अभिप्राय रहता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि समय के व्यतीत हो जाने से ही 'प्रगति' की संज्ञा सार्थक हो जाती है, प्रत्युत एक स्थिति के कुछ प्रमुख तत्त्वों का दूसरी में विकास हो जाने से होती है। परिवर्तन ही प्रगति नहीं है; प्रगति की प्रक्रिया में परिवर्तन, विकास या क्रान्ति घटित हो सकती है।

इस सम्बन्ध में डॉ० रांगेय राघव की नवप्रकाशित पुस्तक 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' की कुछ पंक्तियों पर ध्यान जाता है: "प्रगति जन-कल्याण है, कितनी अधिक, कितनी कम, इसका निर्धारण प्रगतिशीलता के मानदण्ड कर सकते हैं। प्रगति संसार में

१. पृष्ठ २२।
२. पृष्ठ ११७।
३. 'तमिल और उसका साहित्य', लेखक—पूर्ण सोमसुन्दरम्, सम्पादक—क्षेमचन्द्र 'सुमन', प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली : बम्बई।

सदैव रही है—जीवन में भी, साहित्य में भी, किन्तु अब हम जिसे प्रगतिशीलता कहते हैं, वह सामाजिक तथा राजनीतिक विश्लेषण के आधार पर स्थित है और उसीके आधार पर हम किसी कवि को तत्कालीन समाज और तत्कालीन राजनीति में सापेक्ष्य रूप से रखकर उसकी आलोचना करते हैं।" प्रगति के सम्बन्ध में हमारी यह 'अब' की धारणा निश्चय ही प्रगति के क्षेत्र को 'विचार' की स्वतन्त्र विकास-परिधि से हटाकर 'व्यवस्था' के सक्रिय वृत्त में ला देती है और मात्र-व्यवस्था के आधार पर विचार को अवलम्बित सिद्ध कर, 'प्रगति' के अर्थ को सीमित कर, 'प्रगतिशीलता' बना देती है। उपर्युक्त धारणा में 'विश्लेषण' को ही आधार माना गया है, जो सामाजिक और राजनीतिक होने के कारण मनोगत मूल्यों के प्रति पूर्ण न्याय की शक्ति नहीं रखता, यह प्रायः सिद्ध ही है। मनोगत मूल्यों की स्थिति व्यक्ति की विशिष्टताओं पर भी बहुत-कुछ निर्भर रहती है, यद्यपि सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव, उसकी व्यावहारिक गति-विधि के माध्यम से, उस स्थिति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भाग लेता है। किन्तु उक्त पुस्तक के लेखक ने स्पष्ट ही लिखा है : "समाज में ही मनुष्य का इति-अथ है। अतः प्रगतिशील विचारक उन सब विचार-धाराओं को गलत मानता है, जो सामाजिकता का विरोध करके व्यक्ति को एकांगी बनाने का प्रयत्न करती हैं।" व्यक्ति की उन विचार-धाराओं को वह ठीक नहीं समझता जो समाज में शोषण को प्रश्रय देती हैं और मनुष्य को मनुष्य से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से घृणा करना सिखाती हैं। अवश्य ही ऐसी विचार-धाराओं का खण्डन होना चाहिए, यदि उनके पीछे सामाजिकता, सर्वांगीणता, बन्धुत्व और साम्य के विरुद्ध षड्यन्त्र कर स्वार्थ-पोषण का लक्ष्य छिपा रखा गया हो और उनकी सैद्धान्तिक स्थापनाओं में आत्मानुभूति के बदले मात्र विडम्बना भरी हो, साथ ही उनके द्वारा निर्दिष्ट आचार-विधान से सिद्ध होता हो कि समकालीन युग-चेतना के विकास की सीमा को वर्ग-स्वार्थ के लिए ही संकीर्ण कर लिया गया। ऐसा इसलिए कि युग-चेतना की विकास-सीमा के कारण, सामाजिक वर्ग-स्वार्थ के पोषण की प्रवृत्ति सुप्त रहने पर, जो विचार-धाराएँ व्यक्तियों की आत्मानुभूति से सहज ही फूटकर समाज में स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होती हैं; उन पर आधुनिक वर्ग-विश्लेषण की दृष्टि से वर्ग-स्वार्थ के लिए षड्यन्त्र का आरोप करना सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है। रांगेय राघव ने भी स्वीकार किया है : "प्राचीनों की सीमाएँ थीं। वे जिस युग में रहते थे, उसकी वैज्ञानिक व्याख्या नहीं कर पाते थे। कार्लमार्क्स के पहले यह ज्ञान समाज को नहीं था।" तब ऐसे आरोपों पर भी पुनर्विचार होना चाहिए। विचार-धाराओं के एकांगी होने की बाबत भी कुछ ऐसी ही बात है। जिसे हम आज एकांगिता समझते हैं, वह कभी मूल रहस्य या अनिवार्यता के रूप में भी मानी गई हो सकती है। ऐसी विचार-धाराएँ अपने युग-परिवेश में अपेक्षाकृत प्रगतिशील भी सिद्ध हो सकती हैं, जिसे स्वीकार करने के लिए व्यापक सामाजिक मानदण्ड आवश्यक है। रांगेय राघव बहुत दूर तक उस उदार मानदण्ड के समर्थक और प्रयोक्ता हैं, किन्तु सहज आत्म-चिन्तन के द्वारा उद्गत प्राचीन व्यक्तिवादी विचार-सरणियों की मूलगत निर्लेपता पर वे विश्वास-पूर्वक जोर नहीं देते—मात्र इसलिए कि इतिहास की दृष्टि से समाज-व्यवस्था पर उनके फल शोषण-प्रधान हुए। किसी समाज-व्यवस्था को जब तक उसके लोग वर्ग-संघर्ष की दृष्टि से निर्मित और स्वीकृत नहीं करते, तब तक उस पर शोषण-प्रधान होने का आरोप ठीक नहीं, वह समकालीन युग-चेतना की विकास-सीमा के अनुसार आदर्श व्यवस्था के रूप में भी स्वीकृत हुई हो सकती

है। तब तत्कालीन शोषक-शोषित-सम्बन्ध में भी घृणा और विवशता के बदले औचित्य और सन्तोष का शान्तिमय वातावरण मान लिया जायगा। ऐसी स्थिति में, एक काल-खण्ड में मानी गई प्रगति को उसके लिए ही, भविष्य में प्रतिक्रिया नहीं माना जायगा। शायद इसी दृष्टि से रांगेय राघव ने भारतीय साहित्य-परम्परा के सम्बन्ध में स्वीकार किया है: "हमारा साहित्य प्रारम्भ से ही जन-कल्याण की भावना से अनुप्राणित है। उसमें अपने-अपने युग के बन्धनों के अनुरूप शोषित वर्गों की हिमायत की गई है।" फिर भी, न जाने क्यों, आत्मानुभूति के सम्बन्ध में वे लिखते हैं: "अभी तक जिसे आत्मानुभूति कहते रहे हैं, वह व्यक्तिगत वस्तु है, और उच्च वर्गों ने उसकी आड़ लेकर जन-समाज का शोषण किया है।" इस विचार में आत्मानुभूति की मूलगत दिव्यता और निरपेक्षता का अनुपात स्वीकार नहीं किया गया। इसी प्रकार ब्राह्मणत्व के प्रभाव और शास्त्र-रचना की विवेचना करते हुए वे लिखते हैं: "इन तीन अवस्थाओं में (बर्बर, सामन्त और इस्लाम के युग) क्रम से शास्त्रों ने जो मर्यादा नियत की, वह उच्चवर्गीय लोगों और ब्राह्मणों के स्वार्थ की सिद्धि करती थी।" इस निष्कर्ष में जनता के द्वारा ब्राह्मणों के धार्मिक महत्त्व की स्वाभाविक स्वीकृति और शास्त्रीय नियमों के प्रति एक आत्मीयता के मूल में बसी हुई परम्परागत व्यापक श्रद्धा और हार्दिक सचाई का स्थान नहीं है। लेखक ने श्रद्धा और हार्दिक विश्वास की सहजता कहीं नहीं मानी है; पर ये तत्त्व व्यक्ति की स्वतन्त्र विशिष्टता के द्वारा मनोगत मूल्यों की रचना में गहरा योग देते हैं।

श्रद्धा और आस्था वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के अविनाशी और व्यापक तत्त्व हैं। उनकी स्वीकृति बुद्धि और व्यवस्था की दृष्टि से न की जाय पर भावना और चरित्र की दृष्टि से अवश्य होती है। सभी देशों के जन-जीवन के लिए यह एक संस्कृति-संगत सत्य है। भारतीय जन-जीवन के अध्ययन से तो सिद्ध होता है कि मानव-प्रगति की सूक्ष्मतामूलक दिशाओं का निर्देशन श्रद्धा और आस्था ने ही किया है; जो तर्क-विरचित नहीं, सहज हार्दिक तत्त्व हैं।

मस्तिष्क की यह यान्त्रिक व्याख्या शरीर-विज्ञान का एक यथार्थ हो सकती है, जीवन की प्राणवत्ता का सत्य नहीं, क्योंकि जीवन की दृष्टि से न मस्तिष्क एक यन्त्र-मात्र है और न हृदय। जीवन में तो मस्तिष्क उस परिधि का बोधक है, जिसमें उचित-अनुचित और लाभ-हानि की व्यावहारिक और तर्कबद्ध स्थिति रहती है, और हृदय उस घेरे की व्याप्ति का बोधक, जिसमें मानवीय और व्यक्तिगत संस्कार के तत्त्व, अतीन्द्रिय अनुभूतियों की शक्ति और आत्मा की सहज द्रवणशीलता प्रतिष्ठित होती है। रांगेय राघव हृदय और बुद्धि की यह विशिष्ट भिन्नता नहीं मानते; जिनमें सामंजस्य न होने पर ही अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था आती है जो बाहरी संघर्षों का भी सूत्रपात करती है।

मानव-विकास के इतिहास में श्रद्धा और आत्मानुभूति पर आधारित कला और धर्म के विकास का मार्क्सवादी अध्ययन करने वाले मानते हैं कि वर्ग-स्वार्थ और वर्ग-संघर्ष ही उसकी मूल प्रेरणा है; शोषण ही उसकी कारणभूत शक्ति सिद्ध है। डॉ० रांगेय राघव भी लिखते हैं: "मनुष्य का इतिहास प्रमाणित करता है, आज तक शोषण किसी-न-किसी रूप में जीवित रहा है। समाज की व्यवस्था बदली है, वर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध बदले हैं, किन्तु पूँजीवाद तक शोषण जारी रहा है, उसके रूप सदैव ही बदलते रहे हैं।" "शोषण किसी भी रूप में हो, प्रगतिशील साहित्य उसका प्रत्येक युग में विरोध करता है। आज ही नहीं, वह कालिदास

के युग में भी यही देखता है कि उस समय कौन शोषक-वर्ग का हिमायती था और कौन नहीं था।" "जैसे-जैसे सामन्तीय समाज-व्यवस्था विषयशील होती गई, वेदान्त का प्रचार उच्च वर्गों में अधिक बढ़ चला और उसने जन-समाज को फिर भाग्यवाद आदि में जकड़ा और शोषण-पद्धति का न्याय देने का प्रयत्न किया। उस वेदान्त का समाज-पक्ष सामन्तवाद था। संसार-भर में धर्म ने जन-समाज को दबाये रखने का काम किया है।" इन धारणाओं से कला, धर्म और दर्शन के सम्बन्ध में उनकी विषयगत सदाशयता सन्देहजनक जान पड़ती है; किन्तु श्रद्धा, आत्मानुभूति और ज्ञान-सम्बन्धी दृष्टिकोण से मूलतः प्रेरित और नियन्त्रित होने के कारण उनके विकास का प्रच्छन्न अभिप्राय वर्ग-स्वार्थ को प्रश्रय देना नहीं माना जा सकता; आधुनिक अर्थशास्त्रीय दृष्टि से उस विकास का व्यवस्थात्मक फल भले ही वैसा मान लिया जाय। धर्म और कला के विकास में कारणभूत तत्त्व तो शुद्ध रूप से आत्मानुभूति, आत्मबोध और श्रद्धा रही है, उसका ही फल शोषण का प्रसार हो चला हो—ऐसा विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता, जब तक सिद्ध न हो जाय कि धर्म और कला से ही आर्थिक सम्बन्धों का संगठन होता रहा है। धर्मशास्त्र की मान्यताओं ने जिस अनुपात में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन में भाग लिया है, उस अनुपात में उच्च शासक-वर्गों का प्रभाव उन पर है; पर जिस अनुपात में आत्म-चिन्तन और जीवन-दर्शन की उपलब्धियों को प्रसारित किया है, उस अनुपात में वे व्यवस्था-निरपेक्ष और स्वतन्त्र हैं।

पर डॉ० रांगेय राघव व्यक्तिगत उपासना के विरोधी नहीं हैं और न प्रगतिशीलता को उसका विरोधी मानते हैं। वे लिखते हैं: "प्रगतिशील साहित्य उस शाश्वतवाद का विरोधी नहीं है जो समाज और राजनीति को 'माया' समझकर दूर रहता है और इस प्रकार शोषण को सहायता नहीं देता। वह शाश्वतवाद व्यक्ति का अपना विश्वास है। यदि वह राज-नीति और समाज पर अपना बुरा प्रभाव डालता है, तो वह विरोध का पात्र है, अन्यथा व्यक्ति के मन का वह उपासना-क्षेत्र है; जिसकी कोई सामाजिक जिम्मेदारी नहीं है तो प्रगतिशील साहित्य उसका विरोध नहीं करता।" तब व्यक्ति के आत्म-दर्शन के सम्बन्ध में कोई निश्चित दृष्टिकोण न देकर उसके व्यक्तित्व का मूल्यांकन नहीं करने वाली प्रगतिशीलता, मात्र समाज-सम्बद्ध मानी जायगी। तब वह भी एकांगी और व्यक्ति के 'स्व' को उपेक्षित रखने के कारण एक पूर्ण जीवन-दर्शन नहीं कही जा सकती। तब एक विरोधाभास भी स्पष्ट है कि एक स्थान पर लेखक का मत उद्धृत करना पड़ा है: "प्रगतिशील विचारक उन सब विचार-धाराओं को ग़लत मानता है, जो सामाजिकता का विरोध करके व्यक्ति को एकांगी बनाने का प्रयत्न करती हैं।" फिर व्यक्ति को एकांगी होने की स्वतन्त्रता कहाँ रही? किन्तु व्यक्ति के लिए किसी निश्चित जीवन-दर्शन का भी संकेत कहाँ हुआ? एक अन्य प्रसंग में रांगेय राघव ने लिखा है: "मनुष्य का असली काम है ज्ञान प्राप्त करना और सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं का निर्माण करना, प्रकृति पर विजय प्राप्त करके सृष्टि के रहस्यों को खोजना।" किसी भी प्रगतिशील चिन्तक का यह सबसे उदार स्वर माना जायगा; पर मनुष्य के द्वारा अधिकाधिक इन सारे कार्यों का सम्पादन आधुनिक युग में हो रहा है; फिर भी शोषण और स्वार्थ के विरुद्ध उसकी मानवता और नैतिकता नहीं बढ़ रही, जो इन असली कामों को नकली साबित होने से बचा ले। इसका कारण उसके स्वभाव में श्रद्धा और हार्दिक सहानुभूति का ही 'अभाव' है, जो वर्ग-घृणा और आर्थिक तनाव की

भित्ति पर निर्भर है।

मनुष्य का अभ्युदय अनेक प्रकार से रुका हुआ है। उसके जीवन की सारी सम्भावनाएँ विफल होती जा रही हैं। उसकी निर्माण-शक्ति जितनी ही उन्नति करती जाती है वह उतना ही नैतिक ह्रास के गर्त्त में अनिश्चित भविष्य की ओर लुढ़कता जाता है। ऐसी स्थिति में जहाँ शोषण की शृङ्खलाएँ छिन्न कर दी जाती हैं, वहाँ भी व्यक्तियों की अधिकार-लिप्सा और अधिकारियों के सशक्त संकीर्ण स्वार्थ का प्रसार व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और जन-प्रगति के लिए जहर बन जाता है।

गोर्की के सम्बन्ध में लिखते हुए डॉ० रांगेय राघव रूस की प्रगति पर भी विचार व्यक्त कर चुके हैं: "मैक्सिम गोर्की रूस में उस समय हुए, जब वहाँ एक अभूतपूर्व परिवर्तन हो रहा था। उन्हें इतिहास के तीन दौर देखने पड़े, उनमें से गुजरना पड़ा और वे प्रत्येक युग के प्रति सचेत रहे। पहला युग था ज़ार का समय, दूसरा युग था क्रान्ति-युग और तीसरा युग था क्रान्ति के बाद का निर्माण-काल। पहले युग में दरिद्रता, दुःख और अन्याय था। दूसरा युग शोषित-वर्ग का वह प्रचण्ड और विराट् संघर्ष था, जिसने तीसरे युग को ला खड़ा किया। तीसरे युग में मनुष्य को इतिहास में पहली बार स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। मनुष्य की यह स्वतन्त्रता अराजकतावादियों और आतंकवादियों की स्वतन्त्रता नहीं थी। यह सामाजिक स्वतन्त्रता थी जिसमें व्यक्ति के अधिक-से-अधिक विकास की सम्भावना सरल हो गई थी।" किन्तु यह प्रश्न सहज ही उठ आता है कि क्या वह सम्भावना सफल भी हुई या हो रही है अथवा कभी भविष्य में हो सकने की आशा से अनुप्राणित है? रांगेय राघव का इस सम्बन्ध में कुछ भी स्पष्ट विचार नहीं मिलता। किन्तु 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' के प्रकाशन से पूर्व ही, १९४९ में प्रकाशित पुस्तक 'प्रगतिवाद : एक समीक्षा' में प्रथमतः उदार और निष्पक्ष दृष्टि से मार्क्सवाद और साहित्य की विवेचना प्रस्तुत करते हुए धर्मवीर भारती ने रूस के सम्बन्ध में उल्लेख किया था: "ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, रोलाँ ने अनुभव किया कि रूस के क्रान्तिकारी धीरे-धीरे सैद्धान्तिक संकीर्णता में उलझते जा रहे हैं। वे विचार-स्वाधीनता की अवहेलना कर रहे हैं और धीरे-धीरे स्वयं रूसी क्रान्ति एक प्रतिक्रियावाद का संकीर्ण पथ ग्रहण करती जा रही है। रोलाँ ने अनुभव किया कि इस समय विचार-स्वातन्त्र्य का नारा बुलन्द करने की ज़रूरत है और मानवता का तक़ाज़ा है कि इस तरह की बौद्धिक तानाशाही की पूरी खिलाफ़त की जाय।" स्वयं रोलाँ के शब्दों में—"१९२१-२२ में इस महान् हिंसात्मक मानसिक ग़ुलामी के विरुद्ध मैंने एक अथक लड़ाई छेड़ रखी थी।"

दरअसल क्रान्ति के पश्चात् की कठोर शासन-नीति के फलस्वरूप ही १९२९ में आर० ए० पी० पी० के अध्यक्ष के रूप में आवरबाख ने साहित्य में संकीर्ण सामयिकता और तानाशाही की नीति चलाई और कलाकारों पर दबाव की हद रखकर मनमानी रचनाओं से सांस्कृतिक स्वतन्त्रता छीन ली। पर, इसके फलस्वरूप येसेनिन-जैसे सुकुमार जनप्रिय और मायकावस्की-जैसे राष्ट्रवादी कवियों को भी आत्महत्या कर लेनी पड़ी। येसेनिन तो अवरबाख की संकीर्णता के सूत्रपात-काल में ही १९२५ में हुतात्मा हो गया और मायकावस्की भी पाँच वर्षों के भीतर ही कलाकार की स्वतन्त्रता, प्रेम और हृदय की उन्मुक्तता पर जैसे शहीद हो गया। आर० ए० पी० पी० को भंग कर दिया गया और उदार 'सामाजिक यथार्थवाद' के सिद्धान्त के द्वारा व्यक्ति के

अन्तःकरण की मुक्ति को भी प्रश्रय देने वाला सिद्धान्त रूस में प्रतिष्ठित हुआ। धर्मवीर भारती ने लिखा है : "संकीर्ण मार्क्सवाद तो क्रान्ति के बाद स्वयं रूस में ही दो कदम भी नहीं चल पाया। सोवियत रूस की संस्कृति आज मार्क्सवाद की सीमाएँ पार कर गई है। वह एक व्यापक भूमि पर खड़ी है। उसने मार्क्सवाद की नई व्याख्या की है।" किन्तु, 'आलोचना' के 'आलोचना-विशेषांक' में अपने एक लेख में विजयदेव नारायण साही ने १६५० में लिखी, कमिसार जोजेफरेवाई की जो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, उनसे स्पष्ट जान पड़ता है कि व्यक्ति और लेखक के प्रति रूस की उदारता सारी आशाओं पर पानी फेरकर अटूट तानाशाही बन गई है। पंक्तियाँ हैं : "पार्टी के नेतृत्व के द्वारा ही यह सम्भव है कि जनता की माँगें, आवश्यकताएँ और आलोचनाएँ लेखकों के पास पहुँचाई जायँ; श्रमिक जनता के जीवन के अनुसार साहित्य को सज्जित कर दिया जाय, जिससे वह शताब्दियों के प्रवाह में अलग हो गया था, और साहित्य को समाजवादी निर्माण और सामाजिक दीक्षा का सेवक बना दिया जाय।"—प्रस्तुत उद्धरण से इतना तो स्पष्ट है कि कम्युनिस्ट पार्टी की नीति की प्रतिध्वनि ही रूसी साहित्य की कसौटी बन गई है और वे सुनहले सपने बरबाद हो गए हैं जिनमें मानवतावादी निर्माण और वैयक्तिक स्वतन्त्रता के दिव्य कँगूरे जीवन की नई उषा के उल्लास को दूने-चौगुने कर देते। अब प्रश्न यह नहीं है कि रूस की नीति क्यों संकीर्णतर होती गई है, बल्कि सवाल है कि शोषण की पूँजीवादी परम्परा जिस देश में छिन्न कर दी गई, उसमें भी उदार मानवतावाद का प्रसार क्यों नहीं हुआ? इसके जवाब में शायद कहना पड़ेगा कि शोषण के उस रूप का क्षय ही असली मानवीय समस्या नहीं है। समस्या है मानवता के सर्वांगीण अभ्युदय की; जिसके लिए मात्र आर्थिक परिवर्तन या क्रान्ति अपेक्षित नहीं। संसार का इतिहास एक सर्वतोमुखी क्रान्ति चाहता है; जिसका आधार आदमी के प्रतिगामी संस्कारों का विसर्जन होगा, जो नैतिक और बौद्धिक परिवर्तन से सम्भव है; जिसके बिना आर्थिक क्रान्ति अधूरी और विफल है, भले ही वह प्राथमिक औचित्य की अधिकारिणी हो।

भारत के सम्बन्ध में और हिन्दी-साहित्य के प्रति अपना प्रगतिशील चिन्तन लागू करते हुए रांगेय राघव ने जिस यथार्थवादी व्यापक दृष्टि से सामाजिक विकास को हृदयंगम किया है, उसके अनुकूल आधुनिक भारतीय स्थिति का निष्कर्ष भी उचित है : "आज मज़दूर-क्रान्ति का दौर नहीं है, साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चे को दृढ़ करने का भारत में प्रयत्न है। यही प्रगतिशील साहित्य का राजनीतिक और वर्तमान पक्ष है।" अपना यह निश्चय प्रकट करके रांगेय राघव ने अतिक्रान्तिवादी कुत्सित समाज-शास्त्रियों को राजनीतिक प्रगतिशीलता की भारतीय सीमा का औचित्य भी समझाया है और इस क्रम में मार्क्सवादी खेमे के संकीर्णतावादी आलोचकों की दृष्टि और पिछले दिनों में हुई प्रगति का विस्तृत समालोचन करके साहित्य और प्रगतिशील चिन्तन की उदात्तता का परिचय दिया है। मूलतः उनके दृष्टिकोण में इस केन्द्रीय प्रश्न की स्थिति है : "अध्यात्मवाद के समर्थकों का कहना है कि जब आप हर चीज़ को बदलती हुई मानते हैं तो फिर वह क्या चीज़ रहेगी जो आगे के युग में भी साहित्य में स्थायी बनकर रह सकेगी?" प्रकारान्तर से, यही प्रश्न मार्क्स के मन में भी उठा था : "उस बात को समझ लेना ज़्यादा कठिन नहीं है कि ग्रीक तथा अन्य शाश्वत साहित्य सामाजिक प्रगति के बन्धनों से बद्ध था, पर यह समझना कठिन-सा है कि कितने ही समय बाद आज भी उनसे उतना ही रस मिलता

है, आनन्द मिलता है और कला की उच्चता उन्हें अब तक ऐसा आदर्श बनाए है कि उनकी-सी पूर्णता मिलनी कठिन दीखती है।" डॉ० रांगेय राघव इस प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करते हैं : "तब बदलते हुए जीवन में शाश्वत क्या है ? मनुष्य की सामाजिकता, मनुष्य के प्रति मनुष्य की प्रीति यानी मानवतावाद अर्थात् समाज के लिए जन-कल्याण की भावना का विकास, यह अभी तक चलता चला आया है और चलता चला जायगा।" साहित्य के सम्बन्ध में इसी मानवतावादी भाव से वे लिखते हैं : "प्रगतिशील साहित्य और उसके मानदण्ड केवल राजनीति में समाप्त नहीं हो जाते वरन् मनुष्य-जीवन की व्यापकता का स्पर्श करते हैं।"

किन्तु मार्क्स ने भी जिसे रसानुभूति-सा समझा है और भारतीय साहित्य का जो अभिन्न 'रस' तत्त्व है, उसके प्रति रांगेय राघव की दृष्टि उलझी-सी है। वे लिखते हैं : "रस-प्रक्रिया में उदात्तीकरण की जो भावना सर्वयुगीन साहित्य को मापने का मानदण्ड बनाना चाहती है, वह केवल एक संकुचित दृष्टिकोण है। क्योंकि 'उदात्त' की भावना युगानुरूप होती है। एक युग का 'उदात्त' दूसरे युग का नहीं होता।"—अवश्य ही रांगेय राघव समझते होंगे कि 'उदात्त' के उपकरण युगानुरूप होते हैं और 'उदात्त' बनाने की भावना चिरन्तन प्रेरणा है और उदात्त की अनुभूति के जिस युग की भूमि पर चेतना पा सके; चेतना में मूर्त आनन्द भी चिरन्तन है। तब 'उदात्त' की प्रेरणा युगानुरूप उपकरणों को माध्यम स्वीकार करके जब 'उदात्त' की अनुभूति का आनन्द ले लेती है, तो माध्यम के व्यवधान चेतना से ओझल हो जाते हैं और 'रस' की अवस्था आ जाती है, जो युगानुरूप उपकरणों से परे है। वही शाश्वत है; जिसके तत्त्वों की झलक मार्क्स ने भी पाई थी। इस ओर ध्यान न देकर लेखक ने 'मानवीयतावाद' का एक विवादास्पद रूप भी समाधान की जगह पर रखा है।

भारतीय इतिहास और हिन्दी-साहित्य के पहले की भारतीय अवस्था के विवेचन में पुस्तक के अत्यधिक पृष्ठ अनावश्यक सामग्रियों से भी भर गए हैं; पर सबसे दिलचस्प हिस्सा वह है जिसमें कुत्सित समाज-शास्त्रियों के नाम पर डॉ० रामविलास शर्मा की आलोचना-परम्परा की धज्जियाँ उड़ाई गई हैं। कम्युनिस्ट पार्टी के लिए कुछ tactful कही जाने वाली दृष्टि से सुझाव भी दिये गए हैं, जो बड़े दिलचस्प हैं। गांधी-नीति की भी यथेष्ट व्याख्या करके लेखक ने गांधीजी को पूँजीवाद का सन्त-परम्परागत समर्थक माना है, जिनके समन्वयवाद की अब आवश्यकता नहीं। जो सबसे स्पष्ट निर्णय है, बधाई के योग्य है, कि 'प्रगति' मात्र बाह्य नहीं, पूर्ण मानवीय होती है।[1]

---

१. 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड', लेखक–रांगेय राघव, प्रकाशक–सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा।

भारतभूषण अग्रवाल

काव्य और जीवन पर श्री सुमित्रानन्दन पन्त के विचार

'काव्य ही कवि का परम वक्तव्य है'[1] पर कभी-कभी परिस्थितिवश कवि को अपनी बात अन्य माध्यम से भी कहनी पड़ जाती है। विशेषतः प्रथम महायुद्ध और उसके बाद से भारत की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक परिस्थितियों में जो संक्रान्ति उपस्थित हुई, और जो आज तक उत्तरोत्तर गहन गम्भीर रूप ग्रहण करती रही है, उसने कवि को बाध्य कर दिया कि वह काव्य और जीवन-सम्बन्धी अपनी मान्यताएँ पाठकों तक पहुँचाए, और जीवन की गतिविधि के अनुरूप काव्यगत वस्तु और शिल्प में निरन्तर प्रतिफलित परिवर्तन की ओर उसके विवेक को जाग्रत करे। इसी कारण आज के कवि को स्वयं अपना व्याख्याता भी बनना पड़ा है, और जो मूल्यांकन उसे अपने आलोचकों से सहज ही मिल जाना चाहिए था, उसकी ओर भी ध्यान दिलाना पड़ा है। यह चाहे कवि का धर्म न हो, आपद्धर्म ही हो, पर यह आवश्यक है, और कविता में जो विकास और संक्रान्ति उपस्थित हुई है, उसका आग्रह है।

इसलिए अपने प्रथम प्रकाशित काव्य-संग्रह 'पल्लव' के साथ नवयुग-वाहक कवि पन्त को एक विशद भूमिका जोड़ देनी पड़ी थी, जिसमें उन्होंने तत्कालीन काव्य-परिस्थितियों का विवेचन करके अपनी काव्य-शैली और रूप-प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की थी। 'पल्लव' की वह भूमिका युगान्तरकारी थी, और अपनी ओजस्विता और नवीन दृष्टि के लिए ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त कर चुकी है। तब से लेकर अब तक युग-शिल्पी पन्त के काव्य ने जीवन और समय की प्रगति के साथ-साथ चलते हुए अनेक मोड़ पार किये हैं, और प्रायः प्रत्येक मोड़ पर उनको अपनी नई प्रगति का महत्त्व उद्घाटित करने के उद्देश्य से गद्य की पगडंडियों का सहारा लेना पड़ा है। इन्हीं पगडंडियों का संग्रह अब 'गद्य पथ' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

गद्य का यह पथ कवि पन्त ने अवश्य ही आपद्धर्म से निःसृत सामयिक आवश्यकता के रूप में ही अपनाया, पर उनके इन निबन्धों को एकत्र देखकर हमें इस आकस्मिक संयोग से आन्तरिक सुख भी मिलता है क्योंकि इन निबन्धों में पिछले तीस वर्षों की कविता के उत्थान, विकास और विस्तार का जो आकलन है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। पन्त की कोटि के कवि-साधक में अपने युग की समस्याओं का विश्लेषण करने और उनसे उद्भूत काव्य-प्रभावों का उपयुक्त मूल्यांकन करने की ऐसी असाधारण क्षमता विश्व-साहित्य में विरल ही है, और हमारे लिए तो वह अकेली घटना है।

'पल्लव' का काल कवि पन्त की कला का उदय-काल है, इसलिए उसकी भूमिका में जो प्रखर आत्मविश्वास और अपनी बात को बेहिचके कह सकनेका खुलापन है वह तत्काल मन पर प्रभाव डालता है। 'पल्लव' के साथ पन्त ने जिस क्षेत्र में पदार्पण किया था, उसमें यद्यपि खड़ी बोली निर्विवाद रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थी, पर अभी ब्रजभाषा और उसके काव्य के प्रति लोभ-भरी दृष्टि बराबर जाती थी और ऐसा भी माना जाता था कि खड़ी बोली गद्य के लिए तो

१. स० ही० वात्स्यायन।

ठीक है पर पद्य-रचना ब्रजभाषा में ही मधुर हो सकती है। अपनी इस भूमिका में इसीलिए पन्त को एक प्रकार से हिन्दी के समस्त पूर्ववर्ती काव्य पर दृष्टि-निक्षेप करना पड़ा, और प्राचीन महारथियों के प्रति यथायोग्य श्रद्धा प्रकट कर चुकने के बाद ब्रजभाषा-काव्य और ब्रजभाषा-माध्यम की सीमाएँ दिखानी पड़ीं। उनकी वाणी में युग की पुकार थी और तरुण कवि-हृदय का ओज था, इसीलिए उनकी शैली और दीर्घ वाक्य-विन्यास में असाधारण प्रवाह और गहरी प्रभावोत्पादकता है। "पर उस ब्रज के बन में झाड़-झंखाड़, करील-बबूल भी बहुत हैं। उसके स्वर में दादुरों का बेसुरा आलाप, उसके कृमिल-पंकिल गर्भ में जीर्ण अस्थिपंजर, रोड़े, सिवार और घोंघों की भी कमी नहीं। उसके बीचों-बीच बहती हुई अमृत-जाह्नवी के चारों ओर जो शुष्क कर्दममय बालुका-तट है, उसमें विलास की मृगतृष्णा के पीछे भटके हुए अनेक कवियों के अस्पष्ट पद-चिह्न कालानिल के झोंके से बचे हुए, यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उस ब्रज की उर्वशी के दाहिने हाथ में अमृत का पात्र और बाएँ में विष से परिपूर्ण कटोरा है, जो उस युग के नैतिक पतन से भरा छलछला रहा है। ओह, उस पुरानी गूदड़ी में असंख्य छिद्र, अपार संकीर्णताएँ हैं।"

उद्दाम निर्झर की-सी वेगवती शैली में मन के उत्साह को नाना रूपक-प्रतीकों के माध्यम से चित्रित कर पन्त ने इस भूमिका में ब्रजभाषा-युग की परिसमाप्ति और नवीन सांस्कृतिक जागरण शंखध्वनित किया था। पन्त कवि के रूप में अपने कर्तव्य और धर्म के प्रति सदैव सचेत रहे हैं। इस भूमिका से भी स्पष्ट है कि वे काव्य के इतिहास में किस मोड़ पर हैं, यह स्पष्टतः चीह्नते थे। और भूमिका के पहले भाग का अन्त जिन वाक्यों से होता है वे ऐसी भविष्यवाणी-जैसे लगते हैं, जो आज सच हो चुकी है।

'पल्लव' की इस भूमिका के उत्तरार्द्ध में कवि ने अपनी कविता के शिल्प-विधान और रूप-प्रकार की विवेचना उपस्थित की है, विशेष रूप से अपनी शब्द-योजना और छन्द-संगीत पर दृष्टि डाली है। उन दिनों छायावाद के विरोध में सबसे प्रबल तर्क उसके रूप और शिल्प को लेकर ही दिये जाते थे, इसलिए यह व्याख्या आवश्यक और समयानुकूल ही थी। इस अंश को पढ़ने से हम अचानक कवि के अनुभवों के साझीदार हो जाते हैं। एक-एक शब्द कवि के मन में कौन-सी झंकारें जगाता है, शब्दों से भावों और व्यापारों की चित्र-योजना किस प्रकार की जाती है, यह पन्त ने मनोरम और उल्लासपूर्ण ढंग से इस भूमिका में स्पष्ट कर अपने सूक्ष्म संवेदनशील मन की एक झाँकी दी है। यह ठीक है कि सारी भूमिका में छायावाद के भाव-जगत् का कोई निरूपण नहीं है, निरूपण तो क्या उल्लेख तक नहीं है, पर कवि यह जानता न हो, सो नहीं। शिल्प और रूप-विधान पर उसने यह जोर जान-बूझकर उसकी अनिवार्य आवश्यकता का अनुभव करके दिया है, और आज तो यह बात हम निश्चय रूप से जानते हैं कि हिन्दी-कविता में छायावाद की प्रतिष्ठा और सम्मान में 'पल्लव' की इस ऐतिहासिक भूमिका का अत्यन्त मूल्यवान योग रहा।

अपने प्रथम काव्य-संग्रह और 'पल्लव' के उपरान्त प्रकाशित 'वीणा' के लिए पन्त ने जो भूमिका लिखी थी, और जो बाद में संक्षिप्त और संशोधित रूप में ही प्रकाशित हुई, वह अपने मूल रूप में पहली बार 'गद्य-पथ' में संग्रहीत हुई है। तीन पृष्ठों की छोटी-सी इस भूमिका में कवि पन्त के एक ऐसे व्यक्तित्व की झलक है जो अन्यत्र नहीं मिलती। इसमें उनके स्वर में

व्यंग की किंचित् परुषता भी है और आत्मरति भी, जो निश्चित रूप से तत्कालीन हिन्दी-काव्य-मठाधीशों की समयान्धता की ही प्रतिक्रिया है। इन स्वनामधन्य आलोचकों ने छायावादी काव्य-कृतित्व को समझने और परखने के स्थान पर उसकी जैसी बेहिसाब खिल्ली उड़ाई उससे पन्त-जैसे कोमल-स्वभाव प्राणी को भी यदि यह स्वर अपनाना पड़ा तो क्या आश्चर्य ? यही नहीं, इस छोटी-सी भूमिका में छायावाद के विरुद्ध दिये गए तर्कों की जो एक झलक है वह बरबस हमें आज दिन प्रयोगशील काव्य के विरुद्ध तर्कों का स्मरण करा देती है, और यह कहने पर विवश करती है कि अपनी सहज संवेदन शक्ति के सहारे हिन्दी के कवि ने समय-समय पर जो युगानुरूप मार्ग ग्रहण किया है उसका सच्चा आशय समझने में हिन्दी के तत्कालीन सत्ताधारी आलोचक असमर्थ रहे हैं। यह तो ठीक है कि आलोचना सदैव आलोच्य की अनुगामिनी होती है, पर हिन्दी-साहित्य में छायावाद-काल के प्रारम्भ से प्रयोगवाद-काल तक के इस दीर्घ समय में आलोचना ने पहले अपने आलोच्य का तिरस्कार कर बाद में ही उसका मूल्य पहचाना है।

'वीणा', 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' के बाद 'गुञ्जन', 'युगान्त', 'युगवाणी', और 'ग्राम्या' कवि पन्त की काव्य-चेतना के ये विकास-चरण हैं। इन सारी काव्य-कृतियों में 'गुञ्जन' एक प्रकार से बीच की कड़ी है और उसमें प्रौढ़तर भाव-मन्थन ध्वनित है। 'गुञ्जन' तक आते-आते हिन्दी में छायावाद समादृत और प्रतिष्ठित हो चुका था, उसके उद्घोषक कवियों की रचनाओं का मूल्यांकन प्रारम्भ हो गया था, वैसे भी वह काव्य-चेतना के एक चरण की परिणति व्यक्त करता है। इसीलिए 'गुञ्जन' में कवि ने गद्य-पथ का सहारा नहीं लिया और बाद में 'युगान्त', 'युगवाणी' एवं 'ग्राम्या' के प्रकाशन तक उसको इस पथ की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी क्योंकि इनमें अभिव्यक्त भाव और अनुभूतियाँ युग-जनित भावनाएँ थीं, और यह हिन्दी के लिए शुभ-योग था कि उन्हें परखने वाले आलोचक उस समय उपस्थित थे। सच तो यह है कि छायावाद के उपरान्त जो सशक्त सामाजिक भाव-धारा हिन्दी में प्रवाहित हुई उसने, कम-से-कम प्रारम्भ में, कवि और आलोचक की दूरी घटा दी। पन्त के काव्य में जो मोड़ इस समय उपस्थित हुआ उसका सहज अपनाव आलोचकों में मिला और छायावाद का यह अग्रदूत अनायास नई सामाजिक चेतना का भी अग्रदूत बना। निरन्तर विकास करते रहने वाले कवि पन्त की यह सिद्धि साधारण नहीं है, क्योंकि ऐसा बहुत ही कम होता है कि अपने ही द्वारा प्रतिपादित भाव और सिद्धान्त को छोड़कर कलाकार आगे बढ़ सके। पर पन्त के लिए यह अत्यन्त सहज था, क्योंकि वे जीवन-द्रष्टा हैं और अपने कवि-कर्म को जीवन से सम्बद्ध करके ही देखते रहे हैं। छायावाद का कार्य समाप्त हो चुका है, यह उन्होंने स्वयम् ही पहचाना, स्वयम् ही नया पथ ग्रहण किया और हिन्दी-काव्य को नई गति और प्रेरणा दी। उन्होंने 'आधुनिक कवि : भाग २' की बृहत् भूमिका में स्पष्ट लिखा : "छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध, और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।" छायावाद के समर्थ कवियों में पन्त के अतिरिक्त केवल 'निराला' की रचनाओं में ही यह चेतना और मिलती है। अन्य अनेक कवि आज तक उस 'अलंकृत संगीत' से ही अपना काम चलाते रहे हैं।

'पर्यालोचन' नामक 'आधुनिक कवि : भाग२' की यह भूमिका कवि पन्त ने सन् १९४१

में लिखी थी जब 'ग्राम्या' के प्रकाशन के साथ उनके काव्य-विकास का द्वितीय याम पूर्ण हो चुका था, और वे युग-कवि के रूप में प्रतिष्ठा पा चुके थे। इसीलिए इस भूमिका में पहली बार उन्होंने अपने भाव-जगत् और काव्य-सिद्धान्तों पर अपने विचार व्यक्त किये, एवं अपने विभिन्न काव्य-संग्रहों के सम्बन्ध में अपना मत प्रकाशित किया। इस भूमिका का अध्ययन साहित्य के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त उपयोगी है क्योंकि वह पन्त के काव्य के व्यक्तिगत पक्ष और सामाजिक पक्ष दोनों पर भरपूर प्रकाश डालता है, और ऐसा करने में पन्त ने जिस तटस्थता एवं वस्तु-परक दृष्टि का प्रमाण दिया है वह उनकी गम्भीरता और मानसिक संतुलन का परिचय देती है।

अपनी प्रारम्भिक काव्य-प्रेरणा के सम्बन्ध में पन्त ने लिखा है : "कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्म-भूमि कूर्माचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकान्त में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था, और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।" लेकिन बाद में चलकर पन्त ने इस प्राकृतिक दर्शन की सीमाएँ पहचानीं। उन्होंने लिखा है : "अब मैं सोचता हूँ कि प्राकृतिक दर्शन, जो एक निष्क्रियता की सीमा तक सहिष्णुता प्रदान करता है, और एक प्रकार से प्रकृति को सर्वशक्तिमयी मानकर उसके प्रति आत्मसमर्पण सिखलाता है, वह सामाजिक जीवन के लिए स्वास्थ्यकर नहीं है।" छायावाद में बहुल-व्याप्त जीवन की क्षणभंगुरता अस्वास्थ्यकर है, यह पहचानकर ही कवि पन्त उसके शैलोद्यान से उतरकर सामाजिक जीवन की कुरूपता मिटाने की ओर उन्मुक्त हुए थे, और तब उनकी वाणी में हमारी धरती का जीवन और उसका संघर्ष ध्वनित हुआ। लेकिन इस वाणी में एक समन्वय का स्तर भी था। जिस प्रकार 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की अपनी अनेक रचनाओं में उन्होंने मार्क्सवाद का स्वागत करते हुए उसका गांधीवाद से समन्वय करने की आवश्यकता बताई थी, उसी प्रकार इस भूमिका में भी उन्होंने साफ लिखा था कि वे ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त को उपयोगी मानते हुए भी अपूर्ण मानते हैं, और विराट् लोक-कल्याण के उद्देश्य से यह आवश्यक समझते हैं कि उसका भारतीय अध्यात्म के साथ समन्वय किया जाय। उनकी घोषणा है : "ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्म-दर्शन में मुझे किसी प्रकार का विरोध नहीं जान पड़ा, क्योंकि मैंने दोनों का लोकोत्तर कल्याणकारी सांस्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है। मार्क्सवाद के अन्दर श्रमजीवियों के संगठन, वर्ग-संघर्ष आदि से सम्बन्ध रखने वाले वाह्य दृश्य को, जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनीतिक क्रान्तियाँ ही कर सकती हैं, मैंने अपनी कल्पना का अंग नहीं बनने दिया है। इस दृष्टि से मानवता एवं सर्वभूतहित की जितनी विशद भावना मुझे वेदांत में मिली उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन में भी। भारतीय दार्शनिक जहाँ सत्य की खोज सापेक्ष के उस पार, 'अवांग-मनस-गोचर' की ओर चले गए हैं वहाँ पाश्चात्य दार्शनिकों ने सापेक्ष के अंतस्तल तक डुबकी लगाकर, उसके आलोक में जन-समाज के सांस्कृतिक विकास के उपयुक्त राजनीतिक विधान देने का प्रयत्न किया है। पश्चिम में वैधानिक संघर्ष अधिक रहने के कारण नवीनतम समाजवादी विधान का विकास नहीं हो सका है।" लेकिन इस समन्वय की आवश्यकता पर जोर देते हुए भी पन्त की दृष्टि भविष्य पर ही टिकी थी, सामाजिक

कर्तव्य से बचने या भाग जाने की किसी ओछी प्रवृत्ति की आड़ के लिए उन्होंने समन्वय का यह नारा नहीं दिया था, वरन् वे आध्यात्मिक विकास पर निरन्तर ध्यान इसी कारण रखते थे कि वे वर्तमान के मृतप्राय समाज के संस्कारों के भूतों की घृणास्पद वस्तु-स्थिति से अत्यन्त विकल थे, प्रगति के लिए आकुल थे। उन्होंने लिखा : "सच तो यह है कि हमें अपने देश के युगव्यापी अंधकार में फैले इस मध्यकालीन संस्कृति के तथाकथित ऊर्ध्व-मूल अश्वत्थ को जड़ और शाखासहित उखाड़कर फेंक देना होगा और उस सांस्कृतिक चेतना के विकास के लिए देशव्यापी प्रयत्न करना होगा जिसके मूल हमारे युग की प्रगतिशील वस्तु-स्थितियों में हों।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मार्क्सवाद से आध्यात्मिक दर्शन के समन्वय की बात कहकर पन्त ने सामाजिक प्रगति की आवश्यकता से मुँह नहीं मोड़ा था, वरन् वे सामाजिक जीवन के उच्चतर सांस्कृतिक विकास के लिए ही निरन्तर आध्यात्मिक विकास पर जोर देते रहे हैं। निरे जड़वाद और यन्त्रवाद को ही कहीं हम जीवन की इतिश्री न समझ बैठें, भौतिक सुख और वैभव में मानवीय सम्बन्धों और भावनाओं के सौन्दर्य से कहीं दृष्टि न फेर लें, यही सोचकर उन्होंने आध्यात्मिक पक्ष पर बल दिया है। यही नहीं, भारतीय दर्शन के नाम पर वे अंधविश्वासों के पक्षपाती नहीं हैं, यह उन्होंने निःसंकोच घोषित किया : "भारतीय दर्शन की दृष्टि से भी मुझे अपने देश की संस्कृति के मूल उस दर्शन में नहीं मिलते जिसका चरम विकास अद्वैत-वाद में हुआ है। यह मध्यकालीन आकाश-लता शताब्दियों के अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, प्रथाओं और मतमतान्तरों की शाखा-प्रशाखाओं में पुन्जीभूत और विच्छिन्न होकर एवं हमारे जातीय जीवन के वृक्ष को जकड़कर उसकी वृद्धि रोके हुए है। इस जातीय रक्त को शोषण करने वाली व्याधि से मुक्त हुए बिना और नवीन वास्तविकता के आधारों और सिद्धान्तों को ग्रहण किये विना, हममें वह मानवीय एकता, जातीय संगठन, सक्रिय चैतन्यता, सामूहिक उत्तर-दायित्व और विपत्तियों का निर्भीक साहस के साथ सामना करने की शक्ति और क्षमता नहीं आ सकती जिसकी कि हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में महाप्राणता भरने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है।"

'ग्राम्या' के बाद एक दीर्घकालीन मौन के उपरान्त पन्त के कई नये काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। भारत की स्वतन्त्रता से लेकर अब तक 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि', 'उत्तरा', 'युगपथ', 'रजतशिखर' और 'शिल्पी' उनके काव्य-ग्रन्थ हैं। इनमें से पहले दो ग्रन्थों में पन्त का आध्यात्मिक चिन्तन मुख्य रूप से व्यक्त हुआ है और वह चिन्तन श्री अरविन्द के दर्शन से गहरे ढंग पर प्रभावित चिन्तन है। इस प्रभाव की विशेष रूप से, और उनके इस आध्यात्मिक सम्मान की साधारण रूप से, कुछ आलोचकों ने काफी चर्चा की है, और उसमें प्रतिगामी तत्त्वों की ओर झुकाव पाया है। इसलिए 'उत्तरा' की भूमिका के रूप में पन्त को अपना मत और जीवन-दर्शन स्पष्ट करना पड़ा है। 'उत्तरा' की यह भूमिका पन्त के प्रौढ़ मानस का गम्भीर उद्‌गार है जिसमें आवश्यक विशालता और उदारता तो है ही, समसामयिक जीवन को उसके सर्वांग और समस्त रूप में देखने का भी उज्ज्वल प्रयत्न है। यही कारण है कि इस भूमिका के स्वर में मन्यु होते हुए भी क्षोभ का अभाव है, अपने सिद्धान्त पर अविचल आस्था होते हुए भी मतभेद के प्रति संयम और सन्तुलन का प्रदर्शन है। इस भूमिका में उन्होंने एक बार फिर भौतिक दर्शन के साथ आध्यात्मिक विकास के समन्वय की ओर हम सबका ध्यान आकृष्ट किया है। पर सबसे अधिक

ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने सामाजिक प्रगति की ओर कम बल नहीं दिया है, जैसा कि भ्रमवश कुछ आलोचक मानते हैं, वरन् यही स्थापित किया है कि सामाजिक विकास की सम्पूर्णता तभी सिद्ध होगी जब हम आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विकास पर भी अपनी दृष्टि गड़ाये रहेंगे। उन्होंने लिखा है : "मेरा दृढ़ विश्वास है कि केवल राजनीतिक-आर्थिक हलचलों की बाह्य सफलताओं द्वारा ही मानव-जाति के भाग्य (भावी) का निर्माण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के सभी आन्दोलनों को परिपूर्णता प्रदान करने के लिए संसार में एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन को जन्म लेना होगा जो मानव-चेतना के राजनीतिक, आर्थिक मानसिक तथा आध्यात्मिक सम्पूर्ण धरातलों में मानवीय संतुलन तथा सामंजस्य स्थापित करके आज के जनवाद को विकसित मानववाद का स्वरूप दे सकेगा।" अपने ऊपर लगे प्रतिगामिता के आरोप के विरुद्ध उन्होंने बहुत दृढ़ स्वर में यह प्रतिवाद व्यक्त किया है : "मेरा मन यह नहीं स्वीकार करता कि मैंने अपनी रचनाओं में जिस सांस्कृतिक चेतना को वाणी दी है, एवं जिस मनःसंगठन की ओर ध्यान आकृष्ट किया है उसे किसी भी दृष्टि से प्रतिगामी कहा जा सकता है। मैंने सदैव ही उन आदर्शों, नीतियों तथा दृष्टिकोणों का विरोध किया है जो पिछले युगों की संकीर्ण परिस्थितियों के प्रतीक हैं, जिनमें मनुष्य विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों तथा वर्गों में विकीर्ण हो गया है। उन सभी विश्लिष्ट सांस्कृतिक मान्यताओं के विरुद्ध मैंने युग की कोकिल से पावक-कण बरसाने को कहा है जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि अब खिसक गई है और जो मानव-चेतना को अपनी खोखली भित्तियों में विभक्त किये हैं। मेरा विनम्र विश्वास है कि लोक-संगठन तथा मनःसंगठन एक-दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि वे एक ही युग (लोक)-चेतना के बाहरी और भीतरी रूप हैं।

'गद्य-पथ' के दूसरे भाग में पन्त की समय-समय पर आकाशवाणी से प्रसारित वार्ताएँ और कुछ महत्त्वपूर्ण भाषणों के अंश संग्रहीत हैं। इनका सबसे पहला आकर्षण तो यही है कि वे पहली बार प्रकाशित हुए हैं। फिर भाषण होने के कारण उनमें रोचकता अधिक है, और पन्त के मनोरम व्यक्तित्व की अधिक कोमल और हृदयग्राही छाप उनमें मिलती है। 'मेरा रचनाकाल', 'मैं और मेरी कला', 'आज की कविता और मैं', 'जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण', 'पुस्तकें जिनसे मैंने सीखा', 'काव्य-संस्मरण' और 'मेरी पहली कविता' नामक निबन्ध व्यक्तिपरक हैं, और पन्त के जीवन और कृतित्व के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी एवं आवश्यक सूचनाएँ देते हैं। पन्त के आलोचक और जीवनीकार के लिए यह अमूल्य सामग्री है। इन निबन्धों में पन्त ने अपनी कला के विकास पर जो विचार प्रकट किये हैं वे सर्वत्र उन विचारों से मिलते हैं जिनका उल्लेख हम कर आए हैं। कहीं भी कोई द्विविधा, विरोध या उलझाव नहीं है। सच पूछिए तो पन्त स्वयं ही अपने सर्वश्रेष्ठ आलोचक हैं और अपने कवि की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म गति को शब्दों में बाँध सकने में समर्थ हो सके हैं। वे शायद अकेले ऐसे कवि हैं जिनकी कविता उन्हीं के विचारों की कसौटी पर बेहिचक कसी जा सकती है। यह पन्त के अन्तःसंयोजित व्यक्तित्व का भी अकाट्य प्रमाण है। अन्य निबन्ध, जैसे 'भारतीय संस्कृति क्या है', 'भाषा और संस्कृति', 'साहित्य की चेतना', 'सांस्कृतिक आन्दोलन', 'कला और संस्कृति' आदि, युग की सांस्कृतिक और कलात्मक समस्याओं पर द्रष्टा पन्त के विचारों को व्यक्त करते हैं जिनमें उनकी उपरोक्त स्थापनाएँ ही आवश्यकतानुसार संक्षेप या विस्तार में दी गई हैं।

लेकिन इस खण्ड में एक रेडियो-वार्ता इन दोनों समूहों से अलग है। वह है 'यदि मैं 'कामायनी' लिखता'। इस वार्ता में अनायास ही हमें प्रसाद की कला पर पन्त के विचार मिलते हैं। 'कामायनी' जिस विशद और गहन रूप में अपने युग की चेतना और संघर्ष को प्रतिध्वनित करती है, उसकी ओर हम सबका ध्यान आकर्षित करते हुए, और प्रसाद की महान् कलात्मक सिद्धि पर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए भी पन्त ने अपने अद्वितीय संतुलन का परिचय देते हुए 'कामायनी' की त्रुटियों का भी उल्लेख किया है। यह उल्लेख ऐतिहासिक महत्त्व का है क्योंकि हिन्दी-आलोचना के किसी भी संस्थान ने उस पर दृष्टि नहीं डाली है, और वह यह भी सिद्ध करता है कि समाज की वास्तविक प्रगति की कामना पन्त में कितनी बलवती है। पन्त ने 'कामायनी' की समस्या के व्यक्तिपरक समाधान की चर्चा करते हुए कहा है : "पर यह तो विश्व-जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं है। मनुष्य के सामने प्रश्न यह नहीं है कि वह इड़ा-श्रद्धा का समन्वयकर वहाँ तक कैसे पहुँचे। उसके सामने जो चिरंतन समस्या है वह यह है कि उस चैतन्य का उपभोग मन, जीवन तथा पदार्थ के स्तर पर कैसे किया जा सकता है। परम चैतन्य तथा मनश्चैतन्य के बीच का, लोक-परलोक के बीच का, धरती-स्वर्ग, एक बहु, समरस या बहुरस के बीच के व्यवधान को मिटाकर यह अन्तराल किस प्रकार भरा जाय ? उसके लिए निःसंशय ही इड़ा-श्रद्धा का सामंजस्य पर्याप्त नहीं। श्रद्धा की सहायता से समरस स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी मनु लोक-जीवन की ओर नहीं लौट आए। आने पर भी शायद वहाँ कुछ नहीं कर पाते। संसार की समस्याओं का यह निदान तो चिर पुरातन, पिष्टपेषित निदान है, किन्तु व्याधि कैसे दूर हो ? क्या इस प्रकार समस्थिति में पहुँचकर और वह भी व्यक्तिगत रूप से ?"[1]

१. 'गद्य-पथ', लेखक—श्री सुमित्रानन्दन पन्त, प्रकाशक—साहित्य-भवन, इलाहाबाद।

परिचय

नये नगर की कहानी

लेखक—रावी, प्रकाशक—राजपाल प्रकाशन, आगरा।

प्रस्तुत पुस्तक में जो बात सबसे अधिक ध्यान देने की है और जिसकी दाद दी जा सकती है वह है रचयिता की एक 'नया नगर' निर्माण करने की नीयत। वैसे यह दुःख की बात है कि यह नीयत अमिश्रित नहीं है। इसमें आत्म-विज्ञापन की ओछी मनोवृत्ति बुरी तरह पैठ गई है। प्रति तीसरे या चौथे पृष्ठ पर स्वयं लेखक की ओर से या किसी पात्र की ओर से 'रावी' की प्रशंसा या उनकी सम्भावनाओं के बारे में लम्बी-चौड़ी सुन-सुनकर जी ऊब उठता है। मगर फिर भी हम चाहें तो मूल प्रेरणा को लेखक की कमज़ोरी से अलग करके देख सकते हैं। यहाँ तक लेखक बधाई का पात्र है।

यह एक उपन्यास है या नहीं इस झमेले में हम नहीं पड़ेंगे। फिर भी चूँकि कथासूत्र है इसलिए तत्सम्बन्धी प्रश्न उठता ही है। कथा यों है कि वेंकटाचलम नामक एक युवक-योगी एक खास तरह के आदमियों को इकट्ठा करके 'नया नगर' नामक एक कालोनी बसाने का सपना देखता है। वह रावी से मेल-भाव बढ़ाकर उन्हें भी अपने दल में शामिल कर लेता है। मुख्यतः लेखक, कलाकार, बुद्धिजीवी, धनिक और सुधारवादी युवक इस संगठन में आते हैं। कुछ वेश्याएँ और वकील वेंकटाचलम 'सेक्सुअली स्टार्व्ड' लड़कियाँ भी इस संगठन में आती हैं। पिकनिक होती है, सैर होती है और अन्त में जलसा होता है जिसमें लेक्चर होते हैं और 'नया नगर' में शामिल होने के लिए आवेदन-पत्र और उक्त नगर के निर्माण के लिए आर्थिक सहायता के वायदे जमा करके पूरा-का-पूरा दल दिल्ली चल देता है। जाते वक्त भविष्य को वर्तमान बनाकर वेंकटाचलम रावी को 'नया नगर' का नक़शा, काम-काज और हाल-चाल डिक्टेट करा जाता है।

यों सुना है कि ऐसे अनेक पंथ इस देश में हैं जो तर माल खाने या गाने-बजाने में ही किसी आगामी जीवन का स्वरूप देखते हैं। ऐसों की नीयत में शक करने का हमें कोई हक़ नहीं है मगर हम इन्हें कोरे खब्तियों से ज़्यादा कुछ भी मानने के लिए मजबूर भी नहीं हैं। ऐसे ही हैं हमारे 'नये नगर' ने निर्मातागण। हर जिस-तिस को वे अपने मत में मूड़ लेते हैं। जिसे देखिए उनका चेला बना चला आता है। लाखों के वायदे तो चुटकी बजाते हो जाते हैं।

पुस्तक के मुख-पृष्ठ पर 'नये नगर' का एक कल्पित चित्र दिया गया है। एक नदी (पुस्तक के अनुसार यमुना) के किनारे बसे हुए इस नगर में मन्दिर, मस्जिद, घण्टाघर और छोटे-बड़े बहुत से मकान घिचपिच बने हुए दिखाई देते हैं। पेड़-पत्ती का कहीं नामो-निशान

तक नहीं है।

—ओंकारनाथ श्रीवास्तव

भारतीय शिक्षा

लेखक—डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

प्रस्तुत पुस्तक डॉ० राजेन्द्र प्रसाद द्वारा देश की विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं में दिये गए भाषणों का संग्रह है। पुस्तक के नाम से इस बात का आभास नहीं मिलता और पाठक अनायास ही भारतीय शिक्षा पर लेखक के विशद एवं गम्भीर चिन्तन की अपेक्षा करने लगता है। परन्तु पुस्तक भाषणों का संग्रह-मात्र होने के कारण न तो विषय का विशद विवेचन प्रस्तुत करती है और न भारतीय शिक्षा की विभिन्न समस्याओं का विस्तृत विश्लेषण तथा समाधान। सरल भाषा में सीधे ढंग से राजेन्द्र बाबू ने अपने विचार श्रोताओं के सम्मुख रखे हैं। उनका विषय-प्रतिपादन तथा भाव-स्पष्टीकरण का ढंग इतना सरल एवं ग्राह्य है कि वह तत्क्षण प्रभावशाली हो उठता है। शिक्षा-सिद्धान्त के अनेक वादविवादपूर्ण विषयों पर उन्होंने मध्यम मार्ग अपनाया है जो राष्ट्रपति के लिए स्वाभाविक ही है। यह सभी जानते हैं कि राजेन्द्र बाबू क्रान्तिकारी एवं सीमान्तरस्थ विचारधारा के पोषक नहीं। शिक्षा के विषय में भी उनकी विचारधारा संतुलित तथा सामूहिक रही है।

'भारतीय शिक्षा' चार खण्डों में विभाजित है: प्रथम खण्ड—नवीन शिक्षा-पद्धति; द्वितीय खण्ड—प्राचीन शिक्षा-पद्धति; तृतीय खण्ड—वैज्ञानिक शिक्षा-पद्धति; चतुर्थ खण्ड—प्रकीर्ण। प्रत्येक खण्ड के अन्तर्गत तद्विषयक चार-छः भाषणों का संकलन किया गया है।

राजेन्द्र बाबू राष्ट्रीय शिक्षा को भारत की परम्परागत शिक्षा के आधार पर नियोजित करने के पक्ष में हैं। यह सर्वमान्य है कि हमारी वर्तमान शिक्षा-योजना विदेशी आधार पर संघटित होने के कारण न तो हमारी समस्याओं का भली भाँति समाधान करने में ही समर्थ है और न हमारे परम्परागत आदर्शों तथा जीवन की मान्यताओं को ही प्रतिष्ठित करने में। अतएव, भारतीय परम्पराओं, मान्यताओं तथा आदर्शों से ओत-प्रोत जन-शिक्षण की व्यवस्था करना हमारे लिए आवश्यक है। यह बात हमें राजेन्द्र बाबू के शब्दों में भली भाँति समझ लेनी है कि **"जनता के हृदय से सम्पर्क टूटने के बराबर और कोई हानिकर और प्रतिक्रियावादी क़दम न होगा।"** इस दृष्टि से हमें प्रगतिशील शिक्षा-व्यवस्था की योजना बनाना आवश्यक है।

प्राचीन शिक्षा-पद्धति शीर्षक खण्ड में नारी-शिक्षा एवं गुरुकुल तथा राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था पर राजेन्द्र बाबू ने अपने विचार प्रकट किये हैं। राजेन्द्र बाबू के नारी-शिक्षा-विषयक विचार भी हमारी परम्परागत धारणाओं पर आधारित हैं। वे कहते हैं—**"मैं चाहता हूँ कि नारी ऐसा विचार न करे कि उसे भी वही काम करने हैं जो पुरुष करते हैं। दोनों के लिए काम बड़ा है और अपने-अपने अलग-अलग कामों को ही दोनों पूरी खूबी के साथ अंजाम दे सकते हैं।"**

वैज्ञानिक शिक्षा-पद्धति शीर्षक खण्ड में 'विज्ञान की प्रगति', कृषि-विज्ञान आदि विषयों पर विचार-प्रदर्शन किया गया है। खण्ड का नामकरण दोषपूर्ण है; उसका अर्थ शिक्षा-पद्धति में वैज्ञानिकता लाने का निकलता है, जब कि देश में विज्ञान की शिक्षा की आवश्यकता से ही उसका तात्पर्य है।

जहाँ तक राजेन्द्र बाबू के शिक्षा-विषयक विचारों को एकत्रित करके पाठकों के सम्मुख

रखने का प्रश्न है, प्रकाशकों का प्रयत्न सराहनीय ही कहा जायगा। हिन्दी का शिक्षा-साहित्य अत्यन्त न्यून है और मौलिक विचारों तथा सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करने वाले ग्रन्थों का अभाव है। भारतीय जन-जीवन से घनिष्ठ सम्पर्क रखने वाले नेता के शिक्षा-विषयक विचारों का अध्ययन भारतीय शिक्षाविदों में विचार-चेतना जाग्रत करेगा यह आशा इस पुस्तक से करना स्वाभाविक है। परन्तु, ग्रन्थ के प्रणयन में कुछ बातें अवश्य खटकती हैं। पुस्तक में संकलित अधिकांश, १५ भाषण सन् १९५० के बाद के हैं, परन्तु शेष ४, १९२० अथवा १९३५ के हैं। यह स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति की विचारधारा समयानुसार थोड़ी-बहुत परिवर्तित होती रहती है। एक छोटे-से संकलन में १९२० से १९५३ तक के भाषणों को एक साथ रखना विचार-प्रतिपादन की दृष्टि से खटकता है। अच्छा होता यदि केवल १९५० के बाद वाले भाषणों को ही यहाँ संग्रहीत किया जाता। यह भी स्पष्ट है कि संकलित भाषणों में से कुछ अंग्रेजी में दिये गए होंगे जिनका अनुवाद पुस्तक में दिया गया है, यद्यपि इस बात का उल्लेख प्रकाशक ने कहीं नहीं किया है। जहाँ राजेन्द्र बाबू की अपनी भाषा है वहाँ वह सरल, सीधी तथा स्पष्ट है किन्तु अनुवाद कहीं-कहीं बड़ा ही जटिल हो गया है।

—डॉ० सुबोध अग्रवाल



'राजकमल' से प्राप्य नये उत्कृष्ट प्रकाशनों की सूची

आलोचनात्मक		
भारतीय आर्य-भाषा और हिन्दी	डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या	६)
भोजपुरी भाषा	डॉ० उदयनारायण तिवारी	१३॥)
सन्त कवि दरिया : एक अनुशीलन	डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री	१४)
काव्य-मीमांसा (राजशेखर विरचित)	केदारनाथ शर्मा सारस्वत	६॥)
श्री रामावतार शर्मा निबन्धावली	पं० रामावतार शर्मा	८॥।)
तुलसी-रसायन	डॉ० भगीरथ मिश्र	२॥)
हिन्दी निबन्धकार	जयनाथ नलिन	६)
नाटककार अश्क	संग्रह	७)
काव्य : गद्य-काव्य		
शेर-ओ-सुखन (भाग ४)	गोयलीय	३)
माला	सोमनाथ गुप्त	॥।)
गांधीचरित मानस	विद्याधर महाजन	५॥=)
दीप-शिखा	महादेवी वर्मा	४)
दर्शन		
पाश्चात्य दर्शन का इतिहास	फ्रैंक थिली	५)
भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व	एम० हिरियन्ना	५)
राजनीति		
भारतीय राजनीति : विक्टोरिया से नेहरू तक	रामगोपाल	१०)
सांस्कृतिक : निबन्ध		
जैमिनीय ब्राह्मण	डॉ० रघुवीर	३०)
दिल की बात	गुरुदयाल मलिक	३)
वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा	डॉ० सत्यप्रकाश	८)
प्राङ्मौर्य बिहार	डॉ० देवसहाय त्रिवेद	७।)
उपन्यास		
आचार्य चाणक्य	सत्यकेतु विद्यालंकार	४)
चाँदनी के खण्डहर	गिरिधर गोपाल	२)
काका	डॉ० रांगेय राघव	२)
वाम-मार्ग	गुरुदत्त	७)
आलमगीर	चतुरसेन शास्त्री	५॥।=)
सोमनाथ	चतुरसेन शास्त्री	८)
स्वयंसिद्धा	मणिलाल बन्द्योपाध्याय	३)
नाटक		
ओ मेरे सपने	जगदीशचन्द्र माथुर	३)
कोष		
तुलसी शब्द-सागर	हरगोविन्द तिवारी	१२)

आलोचना का उपन्यास-विशेषांक

अक्तूबर १९५४ में १३वें अंक के साथ आलोचना अपने प्रकाशन के चौथे वर्ष में प्रवेश कर रही है। पिछले वर्षों की भाँति इस वर्ष का प्रवेशांक भी विशेषांक के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। इतिहास अंक तथा आलोचना अंक ने हिन्दी-समीक्षा के दो बड़े अभावों की पूर्ति की है। उसी परम्परा में आलोचना का १३वाँ अंक उपन्यास अंक होगा जिसमें प्रथम बार हिन्दी के अधिकारी समीक्षक हिन्दी-उपन्यास के विभिन्न पक्षों का सम्यक् विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

- हिन्दी-उपन्यास के अध्ययन की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने की दृष्टि से प्रारम्भिक खण्ड के कुछ लेखों में विश्व-उपन्यास के विकास और इतिहास का विस्तृत निरूपण होगा। विश्व-साहित्य में किस प्रकार गद्य के माध्यम से जीवन का विराट् चित्रण कर उपन्यास ने महाकाव्य का स्थान लेने की चेष्टा की है, किस प्रकार पिछली कुछ शताब्दियों के चिन्तन-विकास और ऐतिहासिक परिस्थितियों ने उपन्यासों के वस्तु-तत्त्व और रूप-गठन में अपने को प्रतिबिम्बित किया है, विश्व-उपन्यास के प्रसंग में भारतीय उपन्यास की उपधारा कहाँ तक उसके समानान्तर और कहाँ तक उससे अलग दिशाओं में प्रवाहित होती रही है, तथा इस विराट् पृष्ठ-भूमि में हिन्दी-उपन्यास की क्या स्थिति है—इन प्रश्नों पर समीक्षक अपना मत व्यक्त करेंगे।
- द्वितीय खण्ड के लेखों में हिन्दी-उपन्यास के उद्भव से उसकी वर्तमान परिणति तक का पर्यवेक्षण किया जायगा। वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास की तिलिस्म से सामाजिक क्रान्ति तक की यात्रा, प्रेमचन्द तथा उनके समकालीन और परवर्ती उपन्यासकारों द्वारा प्रस्तुत सामाजिक यथार्थ की विभिन्न व्याख्याएँ, आर्थिक तथा नैतिक परिस्थितियों से उत्पन्न असन्तोष के कारण कथाकारों के विक्षुब्ध अहम् द्वारा नये कथा-परिधानों की खोज पर विचार करने के साथ-साथ हिन्दी के कुछ प्रमुख उपन्यासकारों और उपन्यासों पर विस्तृत अध्ययन भी संकलित किये जायँगे जिनमें प्रेमचन्द के पूर्व, प्रेमचन्द और उनके समकालीन तथा उनके परवर्ती उपन्यासकारों के कृतित्व का सम्यक् निरूपण होगा।
- अन्तिम खण्ड में कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों और समस्याओं पर कथाकारों और समीक्षकों के विचार आमन्त्रित किये जायँगे जो उपन्यास के लेखक, समीक्षक और पाठक के सम्मुख बार-बार उपस्थित होते रहे हैं। क्या हिन्दी-उपन्यास अब भी प्रौढ़त्व को नहीं पहुँच सका है ? क्या हिन्दी-उपन्यास केवल मध्यवर्ग की चेतना को ही वहन कर सका है और क्या यही उसकी सीमा रहेगी ? कथा-साहित्य में नैतिक आग्रह का क्या रूप है और अश्लीलता का क्या कोई सर्वनिर्धारित मानदण्ड बन सकता है ! कथा-साहित्य में आर्थिक और राजनीतिक यथार्थ कब और कैसे कला का यथार्थ बन पाता है ! प्रेम और रागात्मसम्बन्धों के असन्तुलन की समस्या क्या उपन्यास की अनिवार्य समस्या है ? इन समस्त प्रश्नों पर हिन्दी के प्रमुख कथाकारों के विचारपूर्ण लेख आमन्त्रित किये जायँगे जो न केवल हिन्दी-उपन्यास की कुछ विगत और वर्तमान उलझनों पर प्रकाश डालेंगे वरन् आगे के कृतित्व के लिए भी पथ प्रशस्त कर सकने में समर्थ होंगे। इस दृष्टि से इस उपन्यास-विशेषांक का न केवल समीक्षात्मक वरन् सृजनात्मक महत्त्व भी है

—प्रकाशक, आलोचना।

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

सम्पादन-समिति
डॉ. धर्मवीर भारती, डॉ. रघुवंश
डॉ. व्रजेश्वर वर्मा, श्री विजयदेवनारायण साही
सहकारी सम्पादक
श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'

२९ आलोचना

राजकमल प्रकाशन

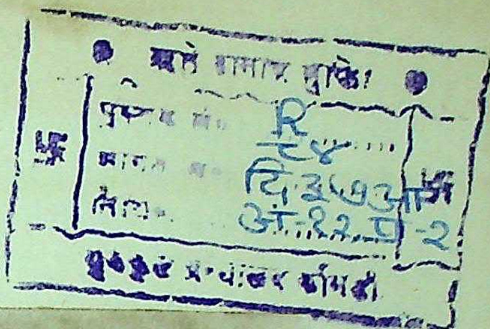
च ना

जुलाई, १९५४

इस अंक का ३)

त्री

आलोचना आलोचना





सम्पादकीय

इतिहास का पुनर्नवीकरण

प्रत्येक युग की समस्याओं के निदान और समाधान के लिए परम्परा और परिस्थिति के समन्वित पर्यवेक्षण की आवश्यकता होती है। अतः प्रत्येक युग नये सिरे से विगत जीवन का अनुशीलन और पुनर्निर्माण करता है और इस प्रकार इतिहास-लेखन का क्रम निरन्तर जारी रहता है। सामान्य सामाजिक इतिहास की भाँति साहित्य के इतिहास का भी, जो अन्य कला-कृतियों के साथ मानव-जीवन का आन्तरिक इतिहास निर्मित करता है, युग-युग में पुनर्नवीकरण होता रहना आवश्यक है। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन की प्रगति युग-जीवन की प्रगति के साथ नहीं चल सकी है। वस्तुतः, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं,[1] हमने अपने साहित्य के इतिहास का प्रथम वाचन भी अभी पूरा नहीं कर पाया है। इतिहास का प्रथम वाचन उसकी सामग्री के अनुसन्धान, प्रमाण-परीक्षण और संकलन-विश्लेषण से सम्बन्ध रखता है। यह सही है कि इतिहास के प्राथमिक उपादानों को जुटाने का कार्य प्रत्यक्षतः इतिहासकार का नहीं, अन्वेषक, अनुसन्धानकर्ता, पाठालोचक और पाठ-सम्पादक का है। किन्तु इतिहासकार का यह उत्तरदायित्व अवश्य है कि वह इस कार्य की नवीनतम प्रगति से पूरा लाभ उठाते हुए ही इतिहास को युगानुकूल नवीन रूप में उपस्थित करे। हिन्दी-साहित्य की नई ऐतिहासिक समीक्षाओं में इस बात का पूरा ध्यान नहीं रखा गया है।

यद्यपि हिन्दी-साहित्य का जीवन लगभग एक हज़ार वर्ष का ही है, फिर भी, क्योंकि उसका जन्म प्रागैतिहासिक काल तक जाने वाली एक लम्बी परम्परा की ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में हुआ था, उसके इतिहास की पृष्ठभूमि कहीं अधिक पुरातन और दीर्घ है। इस भूमिका के अनेक पृष्ठ अभी खोले तक नहीं जा सके और जो खोले गए हैं उनके भी अर्थानुध्याय और अनुचिन्तन का कार्य बहुत कम हुआ है। किन्तु हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार के लिए यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि इस भूमिका के बिना उसका इतिहास

---

१. 'आलोचना अंक' १०, सम्पादकीय।

बाजारू चित्रों की भाँति प्राणहीन रहेगा। साथ ही, यह भी स्मरणीय है कि हिन्दी-साहित्य के साथ अन्य आधुनिक भाषाओं के साहित्य भी देश की पुरातन परम्परा के साझीदार हैं। अतः उनके तुलनात्मक विवेचन से ही हिन्दी-साहित्य की परम्परा से सम्बद्ध अनेक अंगों का पूर्ण स्पष्टीकरण सम्भव है। हिन्दी के पार्श्ववर्ती साहित्यों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्वयं उसकी जनपदी बोलियों की अतुल साहित्य-सम्पत्ति है जो स्वतः साहित्य के इतिहास का अनुपेक्षणीय उपकरण होने के साथ इतिहास की अनेक गुत्थियों को सुलझाने में सहायक हो सकती है।

इन उपादानों के अतिरिक्त साहित्य के इतिहास-लेखन में समाज और संस्कृति के प्राचीन तथा तत्कालीन इतिहास—राजनीतिक परिस्थिति, आर्थिक व्यवस्था, कला-कौशल, व्यापार-विनिमय विविध ज्ञान-विज्ञान आदि की प्रगति की सहायता भी अनिवार्य है। इन सहायक उपादानों के द्वारा ही साहित्य का इतिहास सामान्य इतिहास के साथ संपृक्त होता है और उसका समाज की सामूहिक उपलब्धि के रूप में मूल्यांकन किया जाता है। यद्यपि, जैसा कि हमने पहले कहा है, हमारा सामान्य सामाजिक इतिहास अभी अनेक दिशाओं में अपूर्ण और अन्धकार-ग्रस्त है, फिर भी हमारे साहित्य के इतिहासकारों ने हिन्दी-साहित्य को ऐतिहासिक संदर्भ में बिठाने की बहुत कम चेष्टा की है। और जहाँ कहीं व्यक्तिगत कवियों और लेखकों अथवा साहित्यिक प्रवृत्तियों की ऐतिहासिक समीक्षा की भी गई है, वहाँ प्रायः यह भुला दिया गया है कि साहित्य एक सीमा तक ही सामाजिक प्रक्रिया है। अधिकांश में तो वह व्यक्तियों की, जो सृजन के महत्क्षणों में प्रायः देश-काल की सीमा के ऊपर उठ जाते हैं, एक सृष्टि है जिसका अपना निजी व्यक्तित्व और स्वतन्त्र सत्ता है। उसकी उपलब्धि, अभिव्यक्ति और प्रतिफलन के अपने सिद्धान्त और नियम हैं। परम्परा और परिस्थिति के साथ उसका सम्बन्ध इतना सूक्ष्म और कोमल होता है कि दोनों के सूत्रों को मिलाना कभी-कभी कठिन ही नहीं असम्भव-सा लगता है। ऐसी स्थिति में साहित्य का वह इतिहासकार जो भाषा-विकास, सौन्दर्य-बोध, भावानुभूति, रूप-विधान और अभिव्यंजना-शिल्प के सिद्धान्तों से परिचित नहीं है, साहित्य की सामाजिक समीक्षा करते समय अनुमान और कल्पना की सीमा में पहुँचकर मिथ्या और भ्रम की सृष्टि कर सकता है और जहाँ निष्कर्ष और निर्णय का आधार साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को बनाना चाहिए, वहाँ वह नीति-धर्म, समाज-शास्त्र आदि के सिद्धान्तों की अवतारणा करके अपने पूर्वाग्रहों का आरोप कर सकता है। किन्तु इस सम्बन्ध में दूसरी दिशा में भी भूल हो सकती है और साहित्य का इतिहास शुद्ध शास्त्रीय समालोचना का रूप ले सकता है। इस प्रकार साहित्य के इतिहास में एक ओर सामाजिक इतिहास तथा इतर ज्ञान-विज्ञान और दूसरी ओर साहित्य के सिद्धान्तों का समन्वित उपयोग कर सकना अत्यन्त कठिन कार्य है। यहीं इतिहास-लेखक का दृष्टिकोण स्पष्ट रूप में सामने आ जाता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि इतिहास के युग सापेक्ष पुनर्नवीकरण की आवश्यकता का कारण उसके उपादानों के नये-नये अनुसन्धान तो होते ही हैं, इससे कहीं अधिक उसकी नवीन समीक्षा होती है। संक्षेप में, इतिहास के नवीकरण का प्रश्न समीक्षा के नवीकरण का प्रश्न हो जाता है। और, समीक्षा का नवीकरण उपर्युक्त द्विविध सिद्धान्तों के प्रयोग पर निर्भर रहता है। किन्तु अन्ततोगत्वा इन सिद्धान्तों के प्रयोग का निर्धारण इतिहास-लेखक के दृष्टिकोण के आधार पर होता है। अतः इतिहास-लेखन में दृष्टि-

कोण का प्रश्न सबसे पहले उठता है। यद्यपि इसके सम्बन्ध में स्पष्ट आग्रह पुराने इतिहासकारों में इतना नहीं था, फिर भी कोई इतिहास ऐसा नहीं है जिसे दृष्टिकोण-विहीन कहा जा सके। सच तो यह है कि ऐसा इतिहास लिखना यदि सम्भव भी हो, तो भी उससे इतिहास का वास्तविक उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। भारतीय इतिहास के लेखकों में निरन्तर दृष्टिकोण-सम्बन्धी संघर्ष चलता रहा है, प्रत्येक परवर्ती इतिहासकार अपने पूर्ववर्तियों के दृष्टिकोण में संशोधन करने और अपने नये दृष्टिकोण की आवश्यकता और समीचीनता दिखाते हुए उसी के आधार पर इतिहास-सामग्री को उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण के इतिहास का अवलोकन प्राचीन काल से किया जा सकता है, जब भारत में आधुनिक अर्थ में इतिहास-लेखन की प्रथा नहीं थी।

प्राचीन भारतीयों की इतिहास के प्रति उदासीनता का कारण प्रायः भौतिक जीवन के प्रति उनकी उदासीनता बताया गया है। किन्तु बात बहुत गलत ढंग से कही गई है, जिसके परिणामस्वरूप प्रायः यह समझ लिया गया कि हमारी समूची जाति जीवन से विमुख संन्यासियों की जाति थी। भौतिक जीवन के प्रति हमारे प्राचीनों की उदासीनता का वास्तविक कारण उनका जीवन-दर्शन तथा जीवन के स्थायी मूल्यों और परिवर्तनशील परिस्थितियों के बीच उनका विवेक था। प्राचीनों के सम्मुख इतिहास और पुराण में कोई अन्तर न था, इसी कारण पुराणों में आधुनिक अर्थ में बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री कल्पना-लोक की अद्भुत सृष्टि में विलीन हो गई है। आधुनिक इतिहासकार उसमें से तथ्य संकलन करने का परिश्रम करता है, किन्तु उसे कितनी सफलता मिलती है? पुराणकार भौतिक तथ्यों का आकर्षक वर्णन करता है, भोग के शारीरिक सुख से वह भली भाँति परिचित है, साधना की उपलब्धियों में वह उसे स्थान देता है। फिर भी, वह भौतिक तथ्यों की पूजा नहीं करता। सत्य के अन्वेषण में भौतिकता का क्या महत्त्व है यह उसने निश्चित कर रखा है। इसी कारण तथ्यों में वह मनमाने संशोधन और परिवर्तन करते हुए जीवन के नैतिक मान तथा स्थायी मूल्यों की खोज करना चाहता है। प्राचीन भारतीयों की यह विशेष प्रकार की इतिहास-प्रतिभा कितनी सजग और क्रियाशील थी यह उनके पुराण-साहित्य की विपुलता से सिद्ध होता है। किन्तु यह इतिहास-प्रतिभा तभी जाग्रत होती थी जब प्राचीन मूल्यों के पुनरावलोकन, नवीन मूल्यों की स्थापना तथा जीवन की नई मान-मर्यादा का निर्देश करना अभीष्ट होता था। पुराण-प्रणाली का प्रयोग उन लोक-प्रचलित किंवदंतियों में भी पाया जाता है जिनका आधार प्राचीन या समकालीन इतिवृत्त होते थे। लिखित रूप में इसके अन्तिम उदाहरण मध्ययुगीन भक्तमाल-वार्ता और ख्यात साहित्य हैं। इन्हीं में हिन्दी-साहित्य के प्रथम इतिहास का दर्शन होता है जिसमें भक्त कवियों के जीवन के चुने हुए, अंशतः कल्पित और प्रायः अत्युक्तिपूर्ण घटना-प्रसंग केवल जीवन के उन सत्यों के उद्घाटन के लिए प्रसिद्ध किये गए हैं जिन्हें उन्होंने अपने जीवन और कृतित्व में उतारने के प्रयोग किये थे। हम कह सकते हैं कि हमारे प्रथम इतिहास केवल दृष्टिकोण-प्रधान थे, उनके निकट इतिवृत्त, देश और काल का स्वतः कोई मूल्य न था।

पौराणिक प्रणाली का यत्किंचित् प्रभाव मध्ययुग के कुछ फ़ारसी इतिहासकारों पर भी पाया जाता है जो कभी नैतिक दृष्टिकोण के, कभी वीर-पूजा की भावना से आग्रहवश, और

कभी मनोरंजन-मात्र के लिए ऐतिहासिक तथ्यों को औपन्यासिक रूप में उपस्थित करते हैं। कुछ फ़ारसी इतिहासकारों ने कट्टर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से मुस्लिम शासन का इतिहास लिखते हुए अनेक ऐतिहासिक तथ्यों की निर्मम हत्या और अनर्गल कल्पनाओं की सृष्टि की है। अकबर का इतिहासकार बदाऊँनी ऐसा ही है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास का दूसरा चरण प्राकृत काव्य रचने वाले कवियों से सम्बन्धित अनुश्रुतियों और कविता-संग्रहों के रूप में मिलता है। अनुश्रुतियों के प्रचलन का उद्देश्य या तो नीति-शिक्षा है अथवा कवियों तथा उनके कृतित्व की सराहना और प्रशंसा। कविता-संग्रहों का उद्देश्य सराहना, मनोरंजन और अपने साहित्य के प्रति आत्मगौरव की भावना है। आधुनिक काल का 'शिवसिंह सरोज' इस प्रवृत्ति का अन्तिम उदाहरण कहा जा सकता है।

आधुनिक युग में 'भारतीय इतिहासों' में, जो सबसे पहले अंग्रेजों द्वारा लिखे गए, स्वभावतया साम्राज्यवादी दृष्टिकोण की प्रधानता है। उनका उद्देश्य स्पष्ट था और उसकी पूर्ति के लिए तथ्यों की विकृति, अत्युक्ति, अवहेलना और कभी-कभी कल्पना करने में भी उन्हें संकोच न होता था। यद्यपि भारतीय इतिहास के अन्वेषण और अनुसन्धान में उन्होंने जो कार्य किया है, वह चिरस्मरणीय रहेगा, फिर भी भारतीय जीवन की दुर्बलताओं को उभारने, विभेदों को गहराई से रेखांकित करने तथा आत्म-सुख और मोह-निद्रा में निमग्न करने वाले गुणों की प्रशंसा करने में उन्होंने अपनी दृष्टि से अपनी जाति के प्रति अपने सामयिक कर्तव्य को खूब निबाहा। कुछ थोड़े-से विदेशी पुरातत्त्वान्वेषियों ने हिन्दी की ओर भी ध्यान दिया और दलितोद्धार तथा प्रतिपालन की भावना से संग्रह तथा इतिहास की प्रारम्भिक पुस्तकें लिखीं। भाषा और साहित्य के क्षेत्र में विभेदों को उभारने और जातीय अन्तर्वैमनस्य को प्रोत्साहन देने के प्रयत्नों में जॉन गिलक्राइस्ट की फोर्ट विलियम कॉलेज की कार्य-प्रणाली तथा सर जार्ज ग्रियर्सन के भाषा-सर्वे का उदाहरण दिया जा सकता है। भाषाओं, उपभाषाओं और बोलियों के इस महान् एवं अद्वितीय अनुसन्धान में एकता और समानता पर भी ज़ोर दिया जा सकता था। किन्तु यह तो राष्ट्रीय दृष्टिकोण की बात है।

जब राष्ट्रीय इतिहास-रचना के प्रयोग प्रारम्भ हुए, तब भी तथ्य-निरूपण और सत्यान्वेषण सम्भव न हो सका; क्योंकि भारतीय इतिहासकारों को विदेशियों द्वारा आरोपित लाञ्छनों के निराकरण की चिन्ता अधिक थी। फलतः एकता, मैत्री और सहयोग का समर्थन करने वाले तथ्यों की अतिरंजना तथा इनके विपरीत तथ्यों की अवहेलना स्वाभाविक-सी हो गई। मध्ययुग के राष्ट्रीय इतिहासकार की योग्यता और विद्वत्ता का अधिकांश यही सिद्ध करने में व्यय होने लगा कि हिन्दू और मुसलमानों का विभेद मौलिक नहीं है, उनका वैमनस्य सनातन नहीं है, अपितु वह साम्राज्यवादी भेद-नीति का परिणाम-मात्र है। सामयिक राष्ट्रीय आवश्यकता की इससे भले ही आंशिक पूर्ति हुई हो, इतिहास का तो अहित ही हुआ और हमारी इतिहास-दृष्टि संकुचित और सीमित रह गई। किन्तु साहित्य के इतिहास पर इस प्रकार के राष्ट्रवादी दृष्टिकोण का प्रभाव नहीं पड़ा। ऐसा जान पड़ता है कि साहित्य ने विभेद और विभाजन को सत्य मानकर स्वीकार कर लिया था, यद्यपि हिन्दी-साहित्य में हिन्दू और मुसलमानों की एकता, मैत्री और सम्मिलन के अनेक प्रमाण और उदाहरण मिलते हैं। विदेशी इतिहासकारों ने राष्ट्रवादी भारतीय

इतिहासकारों को केवल प्रतिक्रिया के ही रूप में प्रभावित किया हो ऐसी बात नहीं है। अनेक बातों में पद्धति और प्रणाली ही नहीं, अपितु दृष्टिकोण में भी भारतीय इतिहासकारों ने विदेशियों का अनुकरण और अनुगमन किया है। विदेशी इतिहासकारों ने अपने ईसाई पवित्रतावादी दृष्टिकोण से अनेक प्रचलित परम्पराओं और प्रथाओं की आलोचना की थी और प्रतिपालन की भावना से सुधार के संकेत किये थे। भारतीय इतिहासकारों ने इस दृष्टिकोण को अपनाकर, ऐसे तथ्यों की, जो सतही दृष्टि से पवित्रतावादी भावना के विरुद्ध पड़ते थे, गूढ़-गम्भीर समालोचना करने के स्थान पर या तो उनकी उपेक्षा कर दी अथवा उनके सम्बन्ध में क्षमा-याचना-जैसा भाव विकसित कर लिया। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में पवित्रतावादी सुधारवाद का दृष्टिकोण बहुत स्पष्टता के साथ दिखाई देता है। उदाहरण के लिए, विदेशी समीक्षकों द्वारा प्रशंसित सुधारक तुलसीदास की आचार्य शुक्ल ने विशद व्याख्या की, उनके वर्णाश्रम धर्म पर आश्रित सुधारवाद को त्रिकालाबाधित आदर्श के रूप में उपस्थित किया। शुक्लजी की प्रतिभा तथा सुधारवाद के वातावरण के सम्मिलित प्रभाव से हिन्दी के समीक्षकों पर तुलसी के 'लोक-संग्रह' का ऐसा आतंक छा गया कि हिन्दी के सबसे अधिक प्रचुर और सम्पन्न साहित्य—कृष्ण-भक्ति-साहित्य—का सामाजिक मूल्य शून्य में ही विलीन रह गया, उसे अँधेरे कुएँ से निकालने का साहस किसी कृष्ण ने न कर पाया। कृष्ण में लोक-संग्रह का भाव ही कहाँ था? और उनकी लोक-रंजक लीला के रस और आनन्द को सुधारवादी समीक्षक क्षमा-याचना के साथ ही ग्रहण कर सकता था, क्योंकि उसे स्मरण था कि एक अंग्रेज कृष्ण-भक्ति-काव्य को 'चकले खाने' की भाषा कह चुका है।

किन्तु भारतीय इतिहासकारों का राष्ट्रीय दृष्टिकोण समकालीन वर्द्धमान राष्ट्रीयता की उग्रता को नहीं अपना सका। इसका कारण शुद्ध विद्या-प्रेम उतना नहीं जितना आत्मीय सुरक्षा के भंग होने का भय है। हमारे अधिकांश विद्वान् इतिहासकार जिस वर्ग के थे, उसमें अधिक-से-अधिक 'लिबरल' राजनीति अपनाई जा सकती थी। ज्यों-ज्यों राजनीतिक खतरे कम होते गए, त्यों-त्यों उनके दृष्टिकोण की राष्ट्रीयता में प्रखरता की मात्रा अत्यन्त सावधानी के साथ बढ़ती गई। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भी राष्ट्रीय दृष्टिकोण पूर्णतया नहीं अपनाया जा सका, यद्यपि युग की राष्ट्रीय भावना हिन्दी-भक्त-कवियों के वैष्णव और मानवतावादी आदर्शों से समन्वित थी। हमारे समर्थ इतिहासकार आचार्य शुक्ल ने कबीर आदि सन्त कवियों के प्रति वैसा ही तीखा भाव व्यक्त किया है जैसा 'तुलसी अलखहिं का लखै राम नामु जपु नीच' अथवा 'सूद्र न गुन गन ज्ञान प्रबीना' में प्रकट हुआ है। शुक्लजी की राष्ट्रीयता ऊँच-नीच के (उदारता-समन्वित) भेद-भाव-सहित सनातन वर्ण-धर्म पर आश्रित थी, अतः उनके दृष्टिकोण के अनुसार सिद्ध, नाथ और जैन-साधकों को आसानी से साम्प्रदायिक कहकर टाला जा सकता था। कदाचित् वर्ण-धर्म की रूढ़ मर्यादा का उसके प्रचलित रूप में आदर न कर सकने के कारण ही वे स्वामी दयानन्द सरस्वती और महात्मा गांधी तक की उससे अधिक सराहना न कर सके जितनी उन्होंने रामप्रसाद निरंजनी और श्रद्धाराम फुल्लौरी की की है। शुक्लजी की राष्ट्रीयता के अन्तर्गत उनकी अपनी परिभाषा की 'भारतीयता' के प्रति आग्रहपूर्ण श्रद्धा-भावना का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि जायसी के अत्यन्त

प्रशंसक होते हुए भी उन्हें सूफ़ी विचारधारा में ऐसा कुछ न मिला जिसे 'हमारे यहाँ' स्वीकार किया गया हो। इसी प्रकार स्वयं अंग्रेजी की मान्य शास्त्रीय समीक्षा से बहुत-कुछ ग्रहण करते हुए भी वे साहित्य में पाश्चात्य प्रभावों के सम्बन्ध में सदैव सशंक रहते थे। यहाँ शुक्ल जी के ऐतिहासिक दृष्टिकोण की विस्तृत चर्चा करने का अभिप्राय उनके अद्वितीय व्यक्तित्व और चिरस्मरणीय साहित्यिक कार्य को किसी प्रकार घटाकर प्रदर्शित करना नहीं है। हमारा उद्देश्य केवल यह दिखाना है कि यदि ऐतिहासिक दृष्टिकोण का निर्माण सही ढंग से न किया जाय तो दृष्टिकोण विशिष्ट इतिहास-लेखन में ऐसे महान्, प्रतिभाशाली साहित्यिक के लिए भी असंदिग्ध सफलता पाना कठिन हो जाता है। साथ ही इस विस्तृत चर्चा का इस कारण भी औचित्य है कि शुक्ल हिन्दी-साहित्य के राष्ट्रीय इतिहासकारों के अग्रणी और प्रतिनिधि हैं, हमारे बहुसंख्यक परवर्ती इतिहासकार और समीक्षक उनके अत्यधिक ऋणी हैं।

इतिहास-रचना में 'वैज्ञानिक' दृष्टिकोण, जिसके अनुसार तथ्य अत्यन्त पवित्र और पूजनीय माने जाते हैं तथा उनके सम्बन्ध में व्याख्यात्मक मत-प्रदर्शन वर्जित होता है, सम्भवतः एक सदिच्छापूर्ण सिद्धान्त होकर ही रह गया। वस्तुतः मानवीय संस्थाओं का भौतिक विज्ञानों-जैसा सर्वथा निर्वैयक्तिक अध्ययन सम्भव नहीं है तथा ऐतिहासिक तथ्यों में निहित मानवीय सत्यों के अन्वेषण से हीन तथ्य-निरूपण निरर्थक है। हिन्दी-साहित्य में कुछ कवियों, काव्य-धाराओं और विशिष्ट कालों पर लिखे गए शोध-प्रबन्धों में ही ऐसे 'वैज्ञानिक' अध्ययन की प्रणाली अपनाई गई, सम्पूर्ण इतिहास लिखने का प्रयोग नहीं किया गया। यह सम्भव भी न था।

मार्क्सीय द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का दृष्टिकोण उसके समर्थकों द्वारा इतिहास की व्याख्या का 'नया' और 'एक-मात्र वैज्ञानिक' दृष्टिकोण कहा जाता है, यद्यपि अब वह लगभग सौ वर्ष पुराना हो चुका है तथा विचार और व्यवहार दोनों क्षेत्रों में उसकी 'वैज्ञानिकता' को गम्भीर चुनौती मिल चुकी है। विविध घटनाओं, भावनाओं और विचारों से संकुल, अनेक उतार-चढ़ाव, मोड़ और घुमावों से युक्त, देश और काल की विभिन्नताओं से परिपूर्ण अगणित मानव-जातियों को रेखा खींचकर दो वर्गों में विभाजित कर देना क्रीड़ा-कौतुक-जैसा लगता है। इतिहास के अध्ययन की यह अति सरलीकृत प्रणाली भारतीय इतिहास की व्याख्या में केवल विच्छिन्न रूप में ही प्रयुक्त हुई। हिन्दी-साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास को भी कोई 'प्रगतिशील' समीक्षक इस यान्त्रिक व्याख्या के खराद पर नहीं चढ़ा पाया। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर मनुष्य की सृजनात्मक उपलब्धियों का निर्वचन कैसा कृत्रिम और हास्यास्पद हो जाता है यह व्यक्तिगत हिन्दी-कवियों और लेखकों की 'प्रगतिशील' समीक्षा से स्वतः स्पष्ट हो जाता है। फिर भी, मार्क्स-वाद-समीक्षकों ने साहित्य को सामाजिक यथार्थ के दृष्टिपथ में उपस्थित करके निश्चय ही नवीन निर्देश किया, जिससे साहित्य-समीक्षा की नई पद्धति का विकास सम्भव हो सका।

सामान्य इतिहास-लेखन में तो नहीं, हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'नव मानवतावादी' दृष्टिकोण का निर्देश आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया है और इस मानवतावाद को उन्होंने एक विस्तृत आधार देने की स्वयं हिन्दी-साहित्य और उसकी दीर्घकालीन पृष्ठभूमि से उसे विकसित और समर्थित करने की चेष्टा की है। फलतः वे राष्ट्रीय दृष्टिकोण से

लिखे गए इतिहास की अनेक भ्रान्तियों और त्रुटियों को दूर करने का प्रस्ताव कर सके। हिन्दी-साहित्य भारतीय जीवन और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति के एक बहुत बड़े मोड़ का परिचय देता है तथा हिन्दी के भक्त-कवियों ने—और उनमें सिद्ध और नाथों की परम्परा वाले सन्त-साहित्य का अन्यतम स्थान है—उसी प्रकार जीवन के प्राचीन मूल्यों को नया अर्थ तथा नवीन मूल्यों को नई भाषा दी थी, जिस प्रकार प्राचीन काल में बुद्ध और महावीर ने, इस तथ्य को द्विवेदी जी ने योग्यतापूर्वक उद्घाटित किया है। वस्तुतः हिन्दी-भाषा और साहित्य अन्य आधुनिक भाषा-साहित्यों के साथ, एक मार्ग, नैतिकता और व्यवहार के नये मानदण्ड तथा एक नया सन्देश लेकर इतिहास के मंच पर अवतरित हुआ था। स्मरणीय यह है कि उसका यह 'मिशन' अभी पूरा नहीं हुआ है। इतिहासकार भले ही सत्रहवीं शताब्दी में भक्तिकाल का अन्त करके उस 'मिशन' की निरन्तरता भुला दें और उसे प्रगति देने वाले कवियों और लेखकों को 'फुटकर' खाते में डालते रहें, पर हमारे भाव-स्रष्टा, विचारक और चिन्तक एक हजार वर्ष से आज तक उसमें निहित मानवीय आदर्श को व्यक्त करते आ रहे हैं। नये दृष्टिकोण से सम्पन्न हमारा नया इतिहास साहित्य की इसी एकता के आधार पर व्याख्या करेगा।

इस प्रकार इतिहास के उपकरण तो अनुसन्धान और अनुशीलन के विषय हैं तथा उनका विन्यास और नियोजन यथासम्भव तटस्थ और वैज्ञानिक पद्धति की अपेक्षा रखता है, किन्तु इस क्रम में उसकी व्याख्या और परिभाषा के नये दृष्टिकोण की प्राप्ति के बिना नया इतिहास नहीं लिखा जा सकता। जैसा कि हमने प्रारम्भ में कहा है, प्रत्येक युग अपनी विशेष समस्याओं के समाधान के लिए इतिहास के पुनर्निर्माण की अपेक्षा रखता है और इस कारण इतिहास का दृष्टिकोण स्वभावतया युगीन आवश्यकताओं की उपेक्षा नहीं कर सकता। किन्तु युग की समस्याओं का यथातथ्य निदान तथा उनका युक्तियुक्त समाधान स्वयं एक कठिन समस्या है। हम देख चुके हैं कि राष्ट्रीय दृष्टिकोण से लिखा गया इतिहास भी हमारे संघर्ष-पूर्ण राष्ट्रीय जीवन में युग-पुरुष द्वारा विमुक्त की गई मानवता की व्यापक भावना आत्मसात् नहीं कर सका। इसी प्रकार 'प्रगतिवादी' दृष्टिकोण राष्ट्रीय दृष्टिकोण की त्रुटियों को दूर करने का दावा लेकर आया, किन्तु उलटे उसने एक नई 'साम्प्रदायिकता' खड़ी कर दी। वस्तुतः साहित्य के इतिहास का वही दृष्टिकोण सार्थक हो सकता है जो जीवन के स्थायी मूल्यों के द्वारा समर्थित हो, और उन मूल्यों को युगानुकूल रूप और जीवन दे सकने की उसमें सामर्थ्य हो। जीवन के मूल्यों का युगानुकूल रूप मानव की अनुभूति, चिन्ता और, यदि कह सकें तो, साधना से सम्बन्धित विविध क्षेत्रों के ज्ञान-विज्ञान की नवीनतम प्रगति के संघात के द्वारा निर्धारित होता है। अतः इतिहासकार के लिए उस प्रगति तथा उन मूल्यों के निहितार्थ को समझना आवश्यक है, किन्तु साहित्य के सही ऐतिहासिक दृष्टिकोण के निर्माण में इसके साथ-साथ साहित्य के उन नवीकृत शाश्वत सिद्धान्तों का भी महत्त्वपूर्ण हाथ होना चाहिए, जिन्हें प्राचीन सिद्धान्तों और साहित्य की नवीन आवश्यकताओं के समन्वय द्वारा विकसित किया गया हो। वस्तुतः इतर ज्ञान-विज्ञान की मानवतामूलक उपलब्धियाँ साहित्य में उसके अपने नियमों और सिद्धान्तों के अधीन ही व्यक्त होती हैं। शर्त केवल यह है कि ये नियम और सिद्धान्त रूढ़िगत न हों, युग-जीवन को व्यक्त करने वाले साहित्य से ही उन्हें निकाला

गया हो। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे साहित्य के स्थायी सिद्धान्तों के विपरीत होंगे। जिस प्रकार सौन्दर्य अनेक माध्यमों के द्वारा, अनेक रूपों में व्यक्त होते हुए भी अपनी भावात्मक एकता को अक्षुण्ण रखता है, उसी प्रकार सौन्दर्याभिव्यक्ति के सिद्धान्त भी अनेक शब्दावलियों और अनेक शैलियों में व्यक्त होकर भी मूलतः एक रहते हैं। अतः साहित्य का जो इतिहासकार शाश्वत सत्य के अविरोधी युग-सत्य को जितना ही आत्मसात् करके उसे शाश्वत सौन्दर्य-सिद्धान्तों के अविरोधी युगीन सिद्धान्तों से समन्वित करने में सफल हो सके, उसका ऐतिहासिक दृष्टिकोण उतना ही सार्थक होगा। ऐसा इतिहासकार ही इतिहास के पुनर्नवीकरण का दायित्व सँभाल सकता है।



निबन्ध

डॉक्टर रघुवंश

हिन्दी का यात्रा-साहित्य

कवि और कलाकार की आत्मा यायावर होती है। कहते हैं कवि और साहित्यकार जीवन के अन्तर्तम स्वरों को पहचानता है। और यह जगत् है क्या, जो जीवन की संज्ञा से अभिहित है। जीवन में एक गति, निरन्तर प्रवहमान गति है, जो अबाध रूप में बहती रहती है। शिशु पैदा होता है; बढ़ता जाता है; दिन-रात में बदलते-बदलते ऋतुएँ परिवर्तित हो जाती हैं; पृथ्वी घूमती जाती है, प्रातः-सायं सन्ध्याएँ अपना राग बिखेरती हैं; दिन अपने प्रकाश से आलोकित होता है; रात अपने अन्धकार में चन्द्र-तारकों से नानाविध श्रृङ्गार करती है; यही नहीं—नाचती पृथ्वी फिर घूमती रहती है—वसन्त के उल्लास में वनस्पति लहलहाकर पुष्पित और पल्लवित हो जाती है; ग्रीष्म की चोटों से सारा प्रकृति-विस्तार मुरझा जाता है; वर्षा के आलोड़न से तृण-तृण अंकुरित हो जाता है और जाड़े में पाले से आहत वृक्ष-पादप-लताएँ सभी अपने पीले नीरस पत्तों को गिराने लगती हैं और वसन्त की भूमिका में पतझड़ मर्मर संगीत में मुखरित हो जाता है; और फिर सारा नक्षत्र-तारालोक गतिशील है, अणु-परमाणु उसी ताल पर थिरककर नाच रहे हैं।

साहित्यकार अनजाने ही इस गति को पहचानता है और अपने अन्दर स्पन्दित साँसों के माध्यम से वह इसी गति-संचरण का आवाहन करता है। फिर उसकी यायावर आत्मा संसार की गति के साथ, विश्व के संचरण के साथ होड़ लगा देती है। एक अद्‌भुत आकर्षण उसको अपनी ओर खींचता है, वह मंत्रमुग्ध होकर उसकी ओर बरबस खिंचता आता है। और एक दिन संसार देखता है कि वह यायावर हो गया है। संसार के लोग तो इस पुकार को सुन नहीं पाते या सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं। वे चलते तो रहते हैं, क्योंकि यहाँ रुककर खड़ा होना सम्भव नहीं; पर वे तेली के बैल की तरह कोल्हू के चारों ओर घूमने में अपने परिश्रम की सार्थकता मान बैठते हैं। पूछा जा सकता है, आखिर इसका उद्देश्य क्या है ? इस यात्रा, इस घुमक्कड़ी का अर्थ क्या है ? उत्तर देना कठिन है। पर क्या कोई नक्षत्रों से पूछता है कि उनकी गति का लक्ष्य क्या है ? क्या कोई ब्रह्माण्ड के लक्ष-लक्ष तारकों से पूछता है कि उनके घूमते रहने का उद्देश्य क्या है ? पूछने से उत्तर मिलेगा भी नहीं।

संसार के बड़े-बड़े यायावर अपनी मनोवृत्ति में साहित्यिक थे। फाहियान, ह्वानसाँग, इब्नबतूता, थर्नियर आदि जितने प्रसिद्ध घुमक्कड़ हुए हैं अथवा देश-विदेश के जितने साहसी अन्वेषक हुए हैं सबमें साहित्यिक यायावर का रूप रक्षित है। उन्होंने अपनी यात्राओं में उद्देश्य को प्रधानता नहीं दी। वे निःसंग भाव से घूमते रहे हैं, घूमना ही उनके लिए प्रधान उद्देश्य रहा है। वे देश-देश के पर्वत, उपत्यका, घाटी, नदी, सरोवर, नगर और गाँव की पुकार सुनकर ही उनकी ओर आकर्षित हुए हैं। परन्तु यात्रा करने-मात्र से कोई साहित्यिक यायावर की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता, और न यात्रा का विवरण प्रस्तुत कर देना-मात्र यात्रा-साहित्य है। पिछले युगों में अनेक यूरोपीय तथा चीनी यात्रियों ने यात्रा-विवरण प्रस्तुत किये हैं, और उनके इन विवरणों के बीच कुछ ऐसे संस्मरणीय अंश अवश्य हैं जिनसे प्रत्यक्ष हो जाता है कि इनमें अधिकांश यात्रियों की आंतरिक प्रेरणा साहित्यिक यायावर की है। पर इनके विवरणों में राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टि को प्रधानता दी गई है, कुछ ने भौगोलिक निर्देशन का भी ध्यान रखा है।

भारत में यात्रियों की कमी रही हो, ऐसी बात नहीं; क्योंकि तिब्बत, चीन, ब्रह्मा, मलाया और सुदूर पूर्व के द्वीपों में भारतीय धर्म और संस्कृति का सन्देश इन यात्रियों के पीछे गया होगा। यात्रा का मोह और आकर्षण मानव-मात्र का स्वभाव है, और भारतीय उससे अलग नहीं रह सकते थे। पर भारतीय दृष्टि में इतिहास, विवरण, संस्मरण तथा आत्मचरित के प्रति विचित्र अनास्था आरम्भ से रही है। सम्भवतः यही प्रधान कारण है कि भारतीय साहित्य में उपर्युक्त अंगों के साथ यात्रा-विवरणों का नितान्त अभाव है। आधुनिक अर्थ में यात्रा-साहित्य की कल्पना तो उस युग में की ही नहीं जा सकती थी। पर इसका अर्थ यह नहीं कि संस्कृत के कवियों में साहित्यिक यायावर की मनोवृत्ति परिलक्षित नहीं होती। प्रकृति का जो व्यापक सौंदर्य और देश-काल का जो सूक्ष्म ज्ञान इन कवियों में पाया जाता है उससे प्रकट होता कि इन कवियों ने प्रकृति-आह्वान को सुनकर अनसुना नहीं किया है। विशेषकर कालिदास और बाण का इस दिशा में निर्देश किया जाना आवश्यक है। कालिदास के 'कुमार सम्भव' में हिमालय का वर्णन अलंकृत होकर भी नितांत काल्पनिक नहीं है, 'रघुवंश' में देश विदेश का वर्णन बिना अनुभव के सम्भव नहीं और इन सबसे अधिक 'मेघदूत' में मेघ की जिस काल्पनिक यात्रा का वर्णन है, वह कवि की यात्रा का मनस्परक अध्यन्तरित रूप (subjective transferred) ही जान पड़ता है। भारतीय कवि और साहित्यकार को अपनी बात को अपनी प्रगति-जैसी लिखने की छूट नहीं थी। कालिदास-जैसे भावुक और रोमाण्टिक कवि को 'मेघदूत'-जैसे मनस्परक प्रगीत (subjective lyric) के लिए इसी कारण यक्ष की अलकापुरी का कथा-सूत्र ग्रहण करना पड़ा; तो इसमें आश्चर्य क्या कि इस दूत-काव्य में कवि की यायावर आत्मा इस प्रकार अभिव्यक्त हो सकी है। नहीं तो मेघ की यात्रा में वही निःसंग भाव है, वही मस्ती है और वही सौंदर्य-बोध है जो आज के साहित्यिक यात्रा-संस्मरणों में या विवरणों में। साथ ही बीच-बीच में यक्ष मेघ को अपनी विरहाकुल स्थिति की याद दिलाकर इन वर्णनों को भावाविष्ट भी कर देता है। महाकवि प्रकृति के आकर्षण से, उसके सम्मोहन से परिचित है, तभी तो वह मेघ को विरम न जाने के लिए सचेत करता चलता है—"हे मेघ, कुटज-पुष्पों से लदे उस सुगन्धित पर्वतों पर तुम ठहरते जाना, वहाँ मोर नेत्रों में आँसू भरकर अपनी केका से तुम्हारा स्वागत कर रहे

होंगे। लेकिन तुम वहाँ रुकना मत।"[१]

और बाण। उसको तो अपनी घुमक्कड़-प्रवृत्ति के कारण कान्यकुब्जाधीश्वर हर्षदेव ने भरी सभा में 'भंड' कहकर पुकारा था। 'हर्षचरित' में बाण ने अपने विषय में जो-कुछ लिखा है, वह इस बात का साक्षी है कि बाणभट्ट घुमक्कड़ थे और उसके अनुरूप निर्द्वन्द्वता तथा मस्ती भी उनमें थी। 'हर्षचरित' के 'आत्मचरित' अंश में इन यात्राओं का किंचित् उल्लेख-भर हुआ है। बाणभट्ट के सामने भी भारतीय साहित्य के आदर्श की मर्यादा थी, जिसने अपने विषय में अधिक कुछ कहने से उसे रोक दिया है। फिर भी 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी' में जो देश-देश की प्रकृति और विभिन्न प्रकार के लोगों का वर्णन मिलता है, वह उसी यायावरी मनोवृत्ति की देन है। कहीं श्रीकंठ देश है—"इस देश में, प्रत्येक दिशा में एक-दूसरे के खलिहानों द्वारा विभक्त वहाँ के सीमान्त अपूर्व पर्वतों के समान शस्य-पुन्ज से भरे रहते हैं। चारों ओर नहरों से सींचे जाते हुए जीरों के पौधों से वहाँ की भूमि उलझी रहती है।....भैंस की पीठ पर बैठे गोपाल गीत गाते हुए गौओं को चराते हैं। उनके पीछे कीटों के लोभी चटक जाते हैं।"[२] अन्यत्र विन्ध्य के मार्ग का वर्णन यात्री बहुत ही मनोयोग के साथ करता है...."वन्य भागों में जंगली धान के खलिहानों पर सारी के जलते हुए भूसे के ढेरों से धुआँ निकल रहा था। विशाल वट-वृक्षों के चारों ओर सुरती शालाओं से गो-वोट बने हुए थे। अधिक आना-जाना न होने से भूमि पददलित नहीं हुई थी, खेत छोटे-छोटे और दूर-दूर थे, उनकी मिट्टी लोहे की तरह काली और कड़ी थी, स्थान-स्थान पर रखे गए स्थाणुओं से मोटे पल्लव निकल आए थे, श्यामक नामक घास पर चलना कठिन था।" ऋतु, कालों, वन-प्रदेशों, सर-सरोवरों के वर्णनों में बाण की यायावरी प्रवृत्ति के साथ काव्यात्मक कल्पना का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ है। यही कारण है कि प्रकृति के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रंगों को, छायातपों (shades) को तथा उसके विराट् और अद्भुत रूप-शृङ्गार को बाण बड़ी ही सजीवता से प्रस्तुत कर सके हैं।

इसके बाद भारतीय साहित्य में एक लम्बा युग आता है जब साहित्यकार के लिए प्रकृति जड़ हो गई, उसके लिए उसका सारा आकर्षण नष्ट हो गया। और यहाँ यह स्वीकार कर लेने में मुझे कोई संकोच नहीं कि यात्रा का बहुत बड़ा आकर्षण प्रकृति की पुकार में है। मैं यह नहीं कहता कि यात्रा-साहित्य के अन्तर्गत देश-विदेश का जीवन नहीं आता, उसके नगर और गाँव नहीं आते। पर यह भी ठीक है कि यदि यात्री गाँव-नगर के जीवन में इस क़दर उलझ जाय कि उसे अपनी यात्रा का स्मरण ही न रहे तो मैं कहूँगा कि वह अपने प्रधान उद्देश्य से विमुख हो गया। यायावर वही है जो चलता चला जाय, कहीं रुके नहीं, कोई बन्धन उसे कसे नहीं, और वह जो दर्शनीय है, ग्रहणीय है, स्मरणीय है अथवा संवेदनीय है उसका संग्रह करता चले। ऐसे भी हैं जो नाप-जोख करते हैं, हिसाब लगाते हैं, विवरण प्रस्तुत करते हैं; और ऐसे भी हैं जो यात्रा के नाम पर भोग-विलास का सुख लूटने के लिए ही चल पड़ते हैं। साहित्यिक अर्थ में इनको यात्री मानना, यायावर कहना, घुमक्कड़ स्वीकार करना यात्रा का अपमान है। यह सब और कुछ भी हो सकता है, पर साहित्यिक नहीं हो सकता। या यों कहें कि जो मुक्त भाव से, अनुभूतियों को सँजोता हुआ, देश-काल में फैले हुए अनन्त जीवन में साँसें

१. 'मेघदूत', पृष्ठ २४।
२. 'हर्षचरित', ३०२, पृष्ठ ६४।

लेता हुआ यात्रा नहीं करता, वह यात्रा का साहित्य नहीं दे सकता, विवरण प्रस्तुत करता है। ये विवरण कभी भूगोल, इतिहास, समाज-शास्त्र आदि की सीमाएँ स्पर्श करते हैं और कभी राजनीति, अर्थनीति अथवा संस्कृति के अर्थ की सिद्धि करते हैं। ऐसा नहीं कि इनका महत्त्व नहीं है, इनका अपने-आपमें अत्यधिक महत्त्व है; पर इनको शुद्ध साहित्य की कोटि में रखा नहीं जा सकता।

मैं कह रहा था कि भारतीय साहित्य के इतिहास में एक लम्बा युग आया, या यों कहें कि कितने ही लम्बे युग बीते जिनमें साहित्यकार अपनी परम्परा का कठिन बन्दी रहा। एक या किसी दूसरे कारण से भारतीय कवि इन युगों में मुक्त और स्वच्छन्द नहीं हो सका, वह अपनी परम्पराओं, रूढ़ियों और अपने सम्प्रदाय के बन्धनों में ही व्यस्त और संतुष्ट रहा। अपभ्रंश-साहित्य में यत्किंचित् मुक्ति दिखाई देती है, हिन्दी के भक्ति-साहित्य में उल्लास की स्वच्छन्दता प्रकट होती है। पर साहित्यिक रूढ़ियों, धार्मिक दुराग्रहों तथा साम्प्रदायिक परम्पराओं ने साहित्य में मुक्ति और उल्लास के इस स्वच्छन्द स्वर (romantic tone) को उभरने नहीं दिया। ऐसे वातावरण में व्यक्तिपरक प्रगीतों (subjective lyric) को ही अनुरूप वातावरण नहीं मिल सका, यात्रा-साहित्य का प्रश्न क्या ? हिन्दी में तो संयत गद्य के अभाव में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के पूर्व यात्रा-साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती।

वास्तव में यात्रा-साहित्य के विभिन्न रूपों का विकास गद्य-शैली के विकास के साथ ही सम्भव हो सका है। जिस प्रकार आधुनिक साहित्य के अन्य विभिन्न अंगों पर पाश्चात्य साहित्य का किसी-न-किसी रूप में प्रभाव है, उसी प्रकार हिन्दी के आधुनिक यात्रा-साहित्य पर भी उसका ऋण स्वीकार करना चाहिए। प्रारम्भिक लेखकों ने यात्रा-विवरण लेख रूप में प्रस्तुत किये। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस प्रकार के उल्लेख किये हैं। परन्तु यात्रा-साहित्य का विकास शुद्ध निबन्धों की शैली से माना जा सकता है। अंग्रेजी का प्रसिद्ध निबन्धकार स्टीवेन्सन घुमक्कड़-शास्त्री ही था। निबन्ध-शैली के व्यक्तिपरकता, स्वच्छन्दता तथा आत्मीयता आदि गुण यात्रा-साहित्य में भी पाये जाते हैं। निबन्धकार जिस प्रकार अपने विषय को अपनी मानसिक संवेदक स्थिति के अनुरूप ही ग्रहण करता है और उसी की प्रेरणा से विस्तार भी देता है, बिलकुल उसी प्रकार यात्री भी अपनी यात्रा के प्रत्येक स्थल और क्षणों में से उन्हीं संवदेक क्षणों को संजोता है जिनको वह अनुभूत सत्य के रूप में ग्रहण करता है। वह सर्वसाधारण की दृष्टि से प्रत्येक बात का विवरण देकर ही नहीं चलता; और यदि विवरण तथा विस्तार देना ही होता है तो वह उन्हें अपने भावावेश में प्रस्तुत करता है अथवा आत्मीयता के वातावरण में उपस्थित करता है। एक बात और भी महत्त्वपूर्ण है, यात्री को अपने वर्णन में संवेदनशील होकर भी निरपेक्ष रहना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से ही न्याय की अधिक सम्भावना है; नहीं तो यात्री यात्रा के स्थान पर प्रधानतः अपने को ही चित्रित करने लगेगा। यात्रा में स्वतः स्थान, दृश्य, प्रदेश, नगर और गाँव मुखरित होते हैं, उनका अपना व्यक्तित्व उभरता है। इनमें मिलने वाले नर-नारी, बच्चे-बूढ़े अपने नानाविध चरित्रों के साथ उनके व्यक्तित्व को अधिक स्पन्दित और मुखरित करते हैं। मार्ग में पड़ने वाले मन्दिरों, मसजिदों, मीनारों, विजय-स्तम्भों, स्मारकों, मकबरों, किलों और पुराने महलों से संस्कृति, कला और इतिहास की सम्मिलित पीठिका तैयार होती है। अपने को अदृश्य भाव से सर्वत्र रखना ही होता है, यात्री अपनी यात्रा को मानसिक प्रतिक्रियाओं के रूप में ही ग्रहण करता है। पर अपने को केन्द्र में रखकर भी प्रमुख न होने देना साहित्यिक यायावर

का कठिन कर्तव्य है, क्योंकि लेखक का व्यक्तित्व उभरेगा तो अन्य सब गौण हो जायगा और फिर वह यात्रा-साहित्य न होकर आत्मचरित हो रह जायगा, यात्रा-संस्मरण न रहकर आत्म-संस्मरण हो जायगा।

कहा गया है कि यात्री में प्रगीतों के गायकों का भावावेश रहता है और निबन्धकार की मस्ती। वह अल्हड़ लापरवाही से जीवन को एक विशेष दृष्टि से देखता है। यात्रा को जो आकर्षण मानकर नहीं चलता, मस्ती के साथ निश्चिन्त होकर जो यायावर नहीं बनता, जिसे आगे की सीमाएँ क्रमशः आगे की ही ओर बरबस खींचती नहीं रहतीं, वह यात्रा करके भी यात्री कहलाने का अधिकारी नहीं। पता नहीं, परियों के किस नीलम देश के लिए मनुष्य का बच्चा घुमक्कड़ बन जाता है, और फिर उसके मन के आकर्षण को कोई मिटा नहीं सकता। चिरकाल की संचित अभिलाषा उसको निरन्तर भटकाती रहती है, और परियों का वह नीलम देश मिलकर भी उसे नहीं मिलता, अथवा मिलकर भी उसे घेर नहीं पाता। इस आकर्षण को वह इतनी गहराई से महसूस करता है कि वह मार्ग के बीच से अन्यों को भी बढ़ते आने के लिए पुकारता है। राहुल जी के लिए यह पुकार एक जीवन-दर्शन प्रस्तुत करती है—

"जिसने एक बार घुमक्कड़-धर्म अपना लिया, उसे पेंशन कहाँ, उसे विश्राम कहाँ? आख़िर में हड्डियाँ घुमक्कड़ी करते ही कहीं बिखर जायँगी। मुझे जान पड़ता है 'अथा तो घुमक्कड़जिज्ञासा' कहते घुमक्कड़-शास्त्र लिखना पड़ेगा। मेरी यात्राओं को पढ़कर कितने ही माता-पिताओं को अपने सपूतों से वंचित होना पड़ा होगा। (किन्तु अब तो मैंने शास्त्र लिख लिया है और उसमें) मैंने खुले-आम घुमक्कड़-धर्म का प्रचार किया है। मैं हर घूमने वाले याचक या अयाचक को घुमक्कड़ नहीं मानता। सच्चा घुमक्कड़ धर्म, जाति, देश-काल सारी सीमाओं से मुक्त होता है, वह सच्चे अर्थों में मानवता के प्रेम का उपासक होता है। यह घुमक्कड़ दुनिया से लेता कम और देता अधिक है।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण में यात्रा-साहित्य की मूल प्रवृत्ति का निर्देश राहुलजी ने किया है। साहित्यिक यात्री के स्वरों में यात्रा के प्रति यही उल्लास और उमंग रहती है। यात्रा को वह केवल माध्यम के रूप में स्वीकार नहीं करता, उसके लिए वह लक्ष्य है, अपने-आपमें उद्देश्य है। जन-जीवन के भाव-स्रोत से निःसरित लोक-गीतों को चुनने वाले देवेन्द्र सत्यार्थी के मन में यात्रा का सहज आकर्षण है—

"मेरा पथ मेरे सामने है। मैं जीवित मानव का पक्ष लेता हूँ। मैं मानव की भावनाओं और अनुभूतियों में असंख्य पीढ़ियों को लाँघकर आते हुए जीवन की गाथा सुनूँगा। मैं मानव के दृढ़ संकल्पों में भविष्य की मुखाकृति देखूँगा। मैं उसके साथ चलूँगा। जीवन आज उसी यात्रा के लिए आह्वान कर रहा है।"[2]

अपने एक पात्र के मुख से लेखक ने अपना ही विश्वास व्यक्त किया है। वह यात्रा में जीवन की शाश्वत पुकार का आकर्षण पाता है। इस प्रकार मोह की सीमा तक पहुँचा हुआ आकर्षण यात्रा-साहित्य की विशेषता है। आज के कार्य-भार से व्यस्त जीवन में यह आह्वान यात्री के मन को अधिक उत्सुक और उद्वेगशील बना देता है। देवेश दास यात्रा के अवसर को

१. 'किन्नर देश में'।
२. 'रथ के पहिये'।

पाकर ही उच्छ्वसित हो उठते हैं—

"आज छुट्टी है, छुट्टी। मन-ही-मन जिस वसन्त-व्याकुलता का अनुभव करता था उससे आज बन्धन-मुक्त होऊँगा। काम की बाधा दूर हो गई, वह किसी प्रकार भी क्यों न हुई हो......आँधी में उड़कर अथवा वर्षा में घुलकर......और मैं अनिर्दिष्ट पथ पर बाहर निकल आया हूँ।"[1]

इस उल्लास में यात्रा के प्रति लेखक का आकर्षण और अटूट विश्वास ही व्यक्त हुआ है। जैसे बच्चा घर की तमाम उलझनों से मुक्त होकर खेलने के लिए उत्सुक और व्यग्र रहता है, उसी प्रकार यात्री का मन सांसारिक उलझनों के बीच यात्रा के सम्मोह का अनुभव करता है। वह संसार के विस्तार को आश्चर्य, कौतूहल और जिज्ञासा-भरी दृष्टि से देखता है। वह सृष्टि के सौन्दर्य को भाव-विह्वल तथा आनन्द-विभोर होकर देखता है। श्रीनिधि वन से आत्मीयता का अनुभव करते हैं और नगर के कृत्रिम जीवन के समकक्ष वन के मुक्त जीवन का जय-घोष करते हैं—

"इन एकान्त द्रुम-छायाओं में, इन पक्षियों के वन्य गीतों में, इन गिरि-नदियों के शून्य प्रवाहों में, इन निर्झरों के अश्रान्त नादों में, इन निर्मल सूर्यास्तों में, इन जन-संचार-शून्य सैकत-पुलिनों में, इन एकान्तवासी हरिणों में, इन पुष्प-विकासों में, इन घाटियों में, परम आनन्द का जो पावन सन्देश भरा है, संसार में कहीं भी उसकी तुलना नहीं।"[2]

इस प्रकार प्रकृति के अनन्त शृङ्गार को, उसके विराट्-कोमल रूपों को, जीवन के विभिन्न स्तरों को तथा देश-देश के नर-नारियों के जीवन को यात्री तन्मय होकर ग्रहण करता है। और आनन्द के इस तन्मय उन्मेष में यात्री जीवन को विरामहीन यात्रा मानता है और मनुष्य को चिरंतन यायावर। 'अज्ञेय' जीवन को यायावर का चिरन्तन पथ मानकर कहते हैं—

"यायावर को भटकते चालीस बरस हो गए, किन्तु इस बीच न तो वह 'अपने पैरों तले घास जमने दे सका है, न ठाठ जमा सका है, न क्षितिज को कुछ निकट ला सका है'.... उसके तारे छूने की तो बात ही क्या।....यायावर ने समझा है कि देवता भी जहाँ मन्दिरों में रुके कि शिला हो गए, और प्राण-संचार की पहली शर्त है गति! गति! गति!"[3]

इस प्रकार यात्रा-साहित्य में व्यक्तिपरक भावावेश, उन्मुक्त मस्ती और अल्हड़ उल्लास मूलतः सन्निहित रहता है। कहा गया है कि यात्रा ही यात्री का लक्ष्य होना चाहिए, ऊपर के साहित्यिक यायावरों ने यात्रा को जीवन-दर्शन के रूप में ग्रहण भी किया है। पर इसका मतलब यह नहीं कि यह सारी गति निरुद्देश्य ही प्रवाहित रहती है। यायावर का पथ शून्य की रेखा नहीं है। यात्रा के कष्ट, असुविधाएँ, उसकी साहसिकता इतने आकाशी सन्तोष पर टिक भी नहीं सकते। इसका अभिप्राय है कि जो व्यावसायिक उद्देश्य से, प्रयोजन-सिद्धि के भाव से, देश-विदेश, वन-पर्वत घूमते हैं उनके दृष्टि-पथ पर जीवन का स्वच्छन्द और मुक्त प्रवाह आ ही नहीं सकता और यही साहित्यिक यायावरों की पहली शर्त है। जीवन के किनारे से निकल जाने पर भी इनके लिए जीवन अननुभूत सत्य रह जाता है। और यात्री जीवन के इस स्रोत को पहचानता है, उसके उद्गम पर विचार करता है, उसके अन्दर पैठकर अनुभूति प्राप्त करता है और उसकी

१. 'यूरोपा'।
२. 'शिवालक की घाटियों में'।
३. 'अरे यायावर, रहेगा याद!'

आर्द्रता का अनुभव भी करता है। फिर वह अपनी इन समस्त संवेदनाओं को साहित्य में अभिव्यक्ति का रूप देता है।

यात्रा-साहित्य विभिन्न शैलियों में लिखा गया है और इस कारण वह विभिन्न रूपों में बिखरा है। इस विषय का कुछ ऐसा साहित्य है जो केवल यात्रोपयोगी साहित्य कहा जा सकता है और जिसका उद्देश्य यात्रियों के लिए स्थान या देश विशेष की समस्त ज्ञातव्य बातों को संग्रहीत कर देना है। वैसे तो प्रत्येक यात्रा-विवरण से यात्रियों को प्रेरणा और कुछ अंशों में सहायता मिलती है, पर इस प्रकार के साहित्य का एक-मात्र उद्देश्य यही है। इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य राहुल सांकृत्यायन तथा स्वामी प्रणवानन्द ने किया है। वेणी शुक्ल, सूर्यनारायण व्यास, तथा श्रीगोपाल नेवटिया आदि लेखकों ने सरल वर्णनात्मक शैली में अपनी यात्राओं का क्रमिक विवरण प्रस्तुत किया है। ऐसा नहीं कि इनमें केवल वर्णन प्रस्तुत करने-भर की प्रवृत्ति पाई जाती है। इनकी शैली सीधी, सरल जरूर है; पर अपनी यात्रा के प्रति इन यात्रियों में उल्लास और आवेग है जो इनके वर्णनों में यत्र-तत्र प्रकट हुआ है। जहाँ परिचय देने का प्रयत्न लेखक करता है, वहाँ भी चित्र सहज और स्पष्ट सामने आ जाता है। वेणी शुक्ल ने सर्वथा इसी प्रकार के वर्णन प्रस्तुत किये हैं—

"गाड़ी चल पड़ी। फ्रांस की ऊँची-नीची भूमि (जैसी गरमियों में रहती है) सुसज्जित रमणी की तरह न थी। उस समय पेड़ों में पत्तियाँ न थीं; मैदान, पहाड़ इत्यादि बरफ़ से सफ़ेद हो रहे थे। सूर्य का प्रकाश भी न था। कोहरा और धुँधलापन न था।"[1]

इन विवरणों में लेखक की जिज्ञासा व्यक्त होती है, उल्लास या आवेश नहीं पाया जाता। व्यास में अपेक्षाकृत उल्लास की भावना भी परिलक्षित होती है—

"दोपहर का समय था। ट्रेन अपनी पूरी ताकत से स्विटज़रलैण्ड की स्वर्ग-भूमि पर भागी जा रही थी। कभी पहाड़ियों को चीरती हुई, कभी पर्वत-शिखर पर सरपट भागती हुई और कहीं गिरि-कन्दराओं में लुका-छिपी करती हुई, एक अजीब दृश्य उपस्थित करती रेल चली जा रही थी।...............मैं अतृप्त नयनों से इस शोभा को देख रहा था।"[2]

पर इन वर्णनों में वह मस्ती और स्वच्छन्द भावना नहीं है जो आगे की प्रौढ़ कृतियों में पाई जाती है। अधिकतर लेखक परिचयात्मक विवरणों में उलझ जाता है।

नेवटिया की शैली अधिक प्रौढ़ है और वे अपनी यात्रा के साथ कुछ रम सके हैं। इन्होंने अपनी यात्रा-भूमि का विस्तार के साथ विवरण दिया है और इनकी शैली भी प्रधानतः वर्णनात्मक ही है। फिर भी लेखक अपने चतुर्दिक् को अधिक गहराई से देख सका है और उससे अधिक आत्मीयता स्थापित कर सका है—

"हरित और धवल गलीचे से आच्छादित पहाड़ी समतल भूमि के इस ओर बहुत दूर क्षितिज पर सूर्य की किरणों से चमकते हुए तुषार-धवल पर्वतों की वह पतली-सी रेखा, शीतल और मन्द पवन का वह प्रवाह, विविध वर्णों से विभूषित नभ का वह रूप, ये सब

१. 'लन्दन-पैरिस की सैर'।
२. 'सागर-प्रवास'।

मन को मत्त बनाने में पूर्ण समर्थ थे।"

यही नहीं लेखक के मन में वर्तमान के साथ अतीत भी प्रतिघटित होने लगता है। यात्री अपने वर्ण्य-विषय को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण करता है, यही कारण है कि उच्चकोटि के यात्रा-साहित्य में दृश्य-सौन्दर्य, जीवन का रूप, इतिहास, पुरातत्त्व और अर्थनीति सब मिल-जुलकर एकरस हो जाते हैं। लेखक के मन में सहज उत्सुकता जागती है—

"सुदृढ़ परकोटे की भाँति काश्मीर की रक्षा करने वाली गिरि-पंक्ति ने काश्मीर के जिन परिवर्तनों को देखा है उन्हें जानने के लिए, उन गिरि-शिखरों के चरणों में खड़ा होकर, कौन उत्सुक न होगा ? वे पर्वत मूक हैं, जल-स्रोत की वह ध्वनि भी अस्पष्ट है, पर तो भी उनकी ओर देखने से काश्मीर के प्राचीन वैभव का आभास होता है।"[1]

इस प्रसंग में स्वामी सत्यदेव का नाम भी उल्लेखनीय है। वे हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक घुमक्कड़ों में हैं। इन्होंने अपनी यात्रा विवरणों तथा डायरी के रूप में भी लिखी है। ये उन साहसिक यात्रियों में से हैं जिन्होंने यात्रा के मोह और आकर्षण में किसी बाधा को स्वीकार नहीं किया। सारे संसार का चक्कर इन्होंने बिना पैसे के लगाया है, यह बात उनके अदम्य उत्साह की द्योतक है। शैली के अभाव में वे उच्च यात्रा-साहित्य का निर्माण तो नहीं कर सके हैं, पर अनेक देशों का, अनेक आकर्षक चरित्रों का प्रभावोत्पादक चित्र खींचने में इनको सफलता मिली है। राहुलजी ने यात्रा-साहित्य के लिए विभिन्न माध्यम अपनाये हैं, शायद उनसे अधिक इस विषय पर इतने विविध रूपों में अन्य किसी ने नहीं लिखा है। वे 'हिमालय-परिचय' नाम से कई भागों में हिमालय-सम्बन्धी समस्त ज्ञातव्य बातों और विवरणों को प्रकाशित करा रहे हैं। इसके अतिरिक्त 'किन्नर देश में', 'यात्रा के पन्ने' आदि में इन्होंने अधिक साहित्यिक रूप में यात्राओं का वर्णन दिया है। इनमें डायरी-शैली है, पत्र-शैली है और साधारण वर्णनात्मक शैली भी। राहुलजी ने अपने यात्रा-साहित्य में (यहाँ मैं यात्रोपयोगी विवरणों को छोड़ देता हूँ) देश की स्थिति, उसके प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ वहाँ के जीवन, इतिहास और पुरातत्त्व पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है। उनकी तिब्बत तथा नेपाल की यात्राओं का उद्देश्य प्राचीन हस्तलिखित पोथियों की खोज भी रहा है, जैसे उन्होंने रूस की यात्रा वहाँ अध्यापन-कार्य करने के लिए की थी। पर हमारे यात्री की दृष्टि सभी तरफ फैली रहती है। वह देश-काल-वस्तुओं के विशद विवरण के साथ स्थान विशेष के जीवन, उसके रीति-रिवाज, त्योहारों और उत्सवों का भी सजीव चित्र उपस्थित करता है—

"गुम्बा के मेले में सब बने-ठने थे। एकाध प्रौढ़-वयस्क स्त्री शमलानुमा पुरानी टोपी पहने थी।.........सभी की टोपियों के उलटे कनपटों में सफ़ेद फूलों के गुच्छे भी लटके हुए थे। किन्नर-किन्नरियाँ फूल के बड़े शौकीन होते हैं। फूल मौजूद हो और फूलों का गुच्छा उनकी टोपियों में न लगा हो ?"[2]

यही नहीं यात्री वर्तमान को अतीत से मिलाकर देखने और खण्डहरों में इतिहास को खोज निकालने का कार्य भी करता है। वह पुराने मन्दिरों, मूर्तियों तथा पोथियों को देखकर अपने मन के अन्दर एक झंझा को झकझोरते हुए पाता है—

१. 'काश्मीर'।
२. 'किन्नर देश में'।

"कोठी के देव-मन्दिरों से लौटते समय मस्तिष्क में तूफ़ान उठने लगा, और वह क्षणिक तूफ़ान नहीं था। देवी से मुझे कुछ लेना-देना नहीं था, सवाल था भैरव जी और उनके साथियों का। यह यहाँ कहाँ से आये ? किसने इन्हें बनाया ? उस घोर स्वार्थी देश में परमार्थी अचल देव-मण्डली कहाँ से आ धमकी ?"[1]

इन समस्त विवरणों, इतिहास-पुराण के तर्क-वितर्कों में उलझकर हमारा यात्री चतुर्दिक् के बिखरे हुए प्रकृति-सौन्दर्य को बिलकुल भूल नहीं गया है। यह ठीक है कि उसकी शैली में काव्यात्मक भावशीलता को स्थान नहीं मिल सका है। वह प्रकृति के रूप को सीधे ढंग से संक्षिप्त संकेतों में उपस्थित करके आगे बढ़ जाता है—

"अब भी काशी के किनारे-किनारे कभी उसके एक तट पर कभी दूसरे तट पर आगे बढ़ना था। रास्ते में लाल, गुलाबी और सफेद कई रंगों के फूलों वाले गुरास के पेड़ थे। बहुत से पेड़ तो आजकल अपने फूलों से ढक गए थे। एक वृक्ष तो अपने फूलों से ढका इतना आकर्षक था कि उसने मुझे ठहरने को विवश कर लिया।"[2]

व्यक्तिगत पत्रों में भी यात्रा-साहित्य का सर्जन हुआ है। अनेक विदेश-यात्रियों ने अपने पत्रों में अपनी यात्राओं का विवरण दिया है। ऐसी सामग्री पत्र-पत्रिकाओं में अधिक प्रकाशित होती रही है और अधिकतर उन्हींमें रक्षित है। पत्र-शैली में वैयक्तिक स्पर्श अपने-आप आ जाता है और इस कारण यात्रा-सम्बन्धी वर्णनों में भावशीलता और आत्मीयता का वातावरण प्रस्तुत हो जाता है। विशेषकर यह बात व्यक्तिगत पत्रों में होती है, पत्र-पत्रिकाओं में छपने के उद्देश्य से, अथवा प्रकाशित कराने के उद्देश्य से लिखे गए पत्रों में वह बात नहीं आ पाती, क्योंकि उनमें सचेष्ट प्रयत्न रहता है। कभी-कभी ऐसे पत्र डायरी-शैली के समान ही हो जाते हैं, क्योंकि अपने आत्मीय व्यक्ति के सामने यात्री अपने समस्त ऊहापोह को निःसंकोच रख सकता है। कई लेखकों ने अपने पत्रों में यात्रा का विवरण दिया है जिनका उल्लेख यथास्थान किया जायगा, क्योंकि उनके संस्मरण आदि भी हमारे सामने हैं। यहाँ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के 'यूरोप के पत्र' की चर्चा करना आवश्यक है। इन पत्रों की विशेषता यही है कि ये बिलकुल पारिवारिक शैली में यात्रा का विवरण प्रस्तुत करते हैं। इनमें कहीं भावावेश अथवा आत्मिक उल्लास नहीं व्यक्त हुआ है। लेखक ने सीधे-सरल ढंग से, बड़े ही असम्पृक्त भाव से अपनी यात्रा और उसके जीवन का विवरण प्रस्तुत किया है, इस दृष्टि से कि पत्र को पढ़ने वाला भी उन परिस्थितियों की कल्पना कर सके—और यह भी स्पष्ट है कि हमारे यात्री के सामने पारिवारिक स्तर का ही पाठक है। इसी कारण लेखक बीच-बीच में अपने देश की याद दिलाता चलता है—

"नील नदी बरसाती गंगा से आधी होगी। यह मिस्र देश की प्राण है। इसकी तीन-चार मील चौड़ी घाटी में ही सब-कुछ है—हरियाली है, खेती होती है, मनुष्य रहते हैं। कैरो नगर इसीके किनारे बसा है। उसके बाहर चारों ओर वीरान पहाड़ियाँ और रेगिस्तान हैं।"[3]

यशपाल की 'लोहे की दीवार के दोनों ओर' और गोविन्ददास की 'सुदूर दक्षिण-पूर्व'

१. 'किन्नर देश में'।
२. 'यात्रा के पन्ने'।
३. 'यूरोप के पत्र'।

में उनकी यात्राओं के विस्तृत और व्यापक वर्णन हैं। आगे हम यात्रा-सम्बन्धी संस्मरण साहित्य पर विस्तार से विचार करेंगे, पर इसके पूर्व इन विस्तृत यात्रा-विवरणों का विवेचन कर लेना उचित होगा। राजनीतिक उद्देश्य से की गई इन यात्राओं में लेखकों ने अपने चतुर्दिक् के जीवन-जगत् को देखने का सम्पूर्ण प्रयत्न किया है और ये विभिन्न देशों के जीवन को सामने रखने में सफल भी हुए हैं। यशपाल अपनी यात्रा में पड़ने वाले प्रत्येक स्थान का पूरा विस्तार देते हैं—

"साढ़े ग्यारह के लगभग गाड़ी वियाना स्टेशन से चली। वियाना नगर का आँचल अंगूर की खेतियों, दो-मंजिली बस्तियों और छोटे-छोटे कारखानों से घिरा है।....खेती की भूमि प्रायः बरफ़ के टुकड़ों और कोहरों से ढकी हुई थी। वृक्षों के पत्ते हेमन्त और बरफ के कारण झड़े हुए थे।"

यह यात्री बिना किसी जल्दी के क्रमशः एक बात के बाद दूसरी बात को लेता चलता है। उसमें न भावावेश है और न उत्तेजना, सीधे तर्क और यथार्थ चित्रण पर ही उसकी दृष्टि है। के आकर्षण में यह यात्री कम उलझता है, पर स्थान, संस्थाओं आदि के विशद वर्णन प्रस्तुत यात्रा करता है। जोलशाई थियेटर का वर्णन करते हुए वह लिखता है—

"बैले का विषय 'स्वान लेक' (हंस झील) की कहानी थी। यवनिका उठती है। झील और जंगलों का प्राकृतिक दृश्य इतने मोहक और यथार्थ रूप में सामने आया कि यह जानते हुए कि हम हिमाच्छादित पर्वतों की उपत्यका में घूम नहीं रहे, थियेटर में बैठे हैं, मन में तरावट आ गई।"

इसी प्रकार 'सुदूर दक्षिण-पूर्व' में लेखक ने देश की प्रकृति, उसके निवासी, तथा उसके रीति-रिवाजों आदि का विस्तृत वर्णन किया है। इन विवरणों के बीच कहीं-कहीं लेखक का कौतूहल और उल्लास भी व्यक्त हुआ है—

"गुफाओं में घूमते हुए हमें ऐसा जान पड़ा जैसे कोई स्वप्न देख रहे हों और यह स्वप्न देखते-देखते जब हम नाव पर बैठकर ग्लोवर्म से भरे स्थान को देखने अँधेरा करके बिना एक शब्द भी बोले रवाना हुए तब तो इस स्वप्न की गहरी-से-गहरी स्थिति थी। अँधेरा करके चुपचाप इस दृश्य को देखने का कारण यह था कि उजेला और शोरगुल होने पर ग्लोवर्म अन्तर्धान हो जाते हैं, यह कहा गया था।"

परन्तु अधिकतर लेखक भिन्न-भिन्न प्रकार के विवरणों में ही उलझा रहा है। वैसे ये दोनों ही पुस्तकें उपयोगी हैं। इनसे विभिन्न देशों की भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थिति का ज्ञान होता है।

प्रारम्भ में ही कहा गया है कि यात्रा-साहित्य की प्रवृत्ति निबन्ध-शैली के निकट है और वह इस सीमा पर संस्मरण का रूप ग्रहण कर लेती है। अधिकतर साहित्यिक यात्रा-विवरण संस्मरण के समान ही होते हैं। डॉ० भगवतशरण उपाध्याय की 'वो दुनिया' में उनकी पिछली अमरीका और यूरोप-यात्रा के संस्मरण हैं। इस यात्री ने इनमें अमरीका (प्रमुखतः) और यूरोप की आत्मा को स्पर्श करते हुए देखने की कोशिश की है। उसने यात्रा का वर्णन गौण रखकर अमरीका के प्रवाहित जीवन को पकड़ने की कोशिश की है। साथ ही वह अपनी व्याख्या पूरे बल और आक्रोश के साथ करता चलता है—

"वह पिछली सन् ५० की रात, ३१ दिसम्बर को न्यूयार्क की।....शोर फिर होने

लगा। आकाश-पाताल गूँजने लगे। मनुष्य हँस रहा था—बर्बर मनुष्य, और उसके अट्टहास को दिशाओं ने पश्चिम, दूर पश्चिम, सिंधु-पार कोरिया के मैदानों में, जहाँ रात ठमकी हुई है, जहाँ नया सबेरा रात का मुँह नहीं देखना चाहता, पहुँचा दिया।"

इस प्रकार ओज के साथ स्थितियों तथा चरित्रों को वह अंकित करता है। ऐतिहासिक व्यक्तित्वको गहरी दृष्टि से देखने और उनका शब्द-चित्र उतारने में इस यात्री को कमाल हासिल है। इन संस्मरणों में अनेक चरित्रों की उद्‌भावना लेखक ने सजीव शैली में की है। जिस क्षिप्र तथा संयत शैली में यह यात्री व्यक्तित्व का चित्र अंकित करता है, उसी संक्षेप से वह दृश्यों के वर्णन में भी काम लेता है। और इन संकेतों में दृश्य का एक रूप जरूर सामने आता है—

"दोनों ओर रुई की तरह फैले हुए सफेद धुँधले मैदान, शायद चारों ओर, पर सामने-पीछे देख नहीं सकता। हमारा जहाज़ उड़ा जा रहा है, प्रायः ३०० मील प्रति घंटे की रफ़्तार से, पूर्व की ओर। यह मैदान ज़मीन का नहीं, रेत का भी नहीं, यद्यपि यह जहाज़ से दूर रेतीला-सा दीखता है। है यह बादलों का—उन बादलों का, जो हम से हज़ारों फीट नीचे हैं, जिन पर धूप चमक रही है।"

इसी प्रकार देश के सामाजिक जीवन को प्रधानतः दृष्टि-पथ में रखकर यात्रा-संस्मरण लिखने वाले दूसरे लेखक हैं अमृतराय। नये चीन ने सैकड़ों वर्षों की नींद के बाद सुबह की लाली देखी है, और तेजी से निर्माण-पथ पर बढ़ते हुए इस राष्ट्र को देखकर हमारा यात्री उल्लास में खो जाता है—

"सम्मेलन का आखिरी दिन था। रात का तीन बजा होगा। सम्मेलन की कार्यवाही अभी खतम हुई थी कि न जाने कहाँ से सैकड़ों बच्चे फूलों की डालियाँ लिये हॉल में घुस आए और प्रतिनिधियों पर पुष्प-वर्षा करने लगे।....ये बच्चे हमारी शान्ति-शपथ की साकार मूर्ति थे—उस शपथ की, जिससे हम उनको और खुद अपने बच्चों को युद्ध की विभीषिका से बचाने के लिए संघर्ष करेंगे।"[1]

हमारे लेखक की कठिनाई यही है कि वे अपने उल्लास के प्रवाह में चीन के जीवन के नानाविध रूपों और स्पन्दनों को प्रत्यक्ष करने के बजाय अनेक तर्क-वितर्कों के ऊहापोह में फैल जाते हैं। उनका आवेश संस्मरण के अनुरूप है, पर यात्रा-साहित्य की संज्ञा पाने के लिए लेखक को किंचित् असम्पृक्त भी रहना चाहिए। ऐसा नहीं कि यात्री तर्क-वितर्क में पड़ता नहीं, या वह अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं की अवज्ञा ही करेगा। पर जहाँ सामने बिखरे हुए जीवन की अनुभूति के मार्ग में वह बाधा बन जाय....सामने से देश विलीन हो जाय और यात्री के विचार तथा आवेग ही प्रधान हो जायँ, वहाँ जान पड़ता है कि यात्री ने अपने धर्म की अवहेलना की है।

दूसरी ओर ऐसे भी यात्री हैं जिन्होंने चिन्तन और ऊहापोह के आवेग के साथ जिन्दगी की साँसों को मिला-जुला दिया है। रांगेय राघव ने 'तूफानों के बीच' में अकाल-पीड़ित बंगाल की अपनी यात्राओं के संस्मरण इसी शैली में प्रस्तुत किये हैं। उसने अकाल-पीड़ित बंगाल में घूमते हुए, मानवता की कराह का अनुभव किया है और उस पीड़ा की अनन्त वेदना में भी उसने मानव-आस्था को पहचाना है—

"युगान्तर से दलित बंगाल का मानव पतित नहीं हुआ। अपराजित मानवता हुंकार उठी। चण्डीदास की वह पुकार....सवार अपरे मानुष सत्य, ताहार अपरे नाई......"

१. 'सुबह के रंग'।

माझी का धर्म है अपने ऊपर निर्भर रहने वालों को अपने से पहले बचाना। जब बंगाल के माझी का जीवन खतरे में था, किसी ने नहीं बचाया उसे। किन्तु आज जीवन की बाज़ी लगाये दाँव पर खेल रहा है। माँ, पिता, सब मेरे हैं····माझी भी मेरा है। बंगाल की मानवता मेरी है।"

बंगाल के क्षत-विक्षत जीवन को देखकर लेखक का मन उमड़-उमड़ आता है और सामने उभरते हुए चित्रों के साथ उसका आक्रोश व्यक्त हो उठता है।

अभी तक जिन यात्रा-संस्मरणों का जिक्र किया जा रहा था, वे उन यात्रियों के हैं जो जीवन की पुकार से आकृष्ट होकर यात्रा करने वाले यायावर हैं। पर कुछ ऐसे भी यात्री हैं जो यात्रा की मस्त राहों पर भटकते हुए जीवन की पुकार सुन लेते हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी ने लोक-जीवन के गीतों को बटोरने के लिए ख़ानाबदोशों का जीवन बिताया है। यही कारण है कि इस यात्री के स्वर में लोक-गीतों की तज़ागी और उल्लास झलकता रहता है—

"नेपाल संगीतमय है। वहाँ सभी मुखरित हो उठते हैं। जाड़े में हिमालय की बरफ़ीली हवाएँ और ग्लेसियर राग की सृष्टि करते हैं। वसन्त में वृक्षों पर बसने वाले असंख्य पक्षी अपने कलरव से उपत्यकाओं को कूजित करते हैं। वर्षा में चार दिन के अतिथि बादल, अपना मेघ-मल्हार सुनाने के लिए फेरी लगाया करते हैं। इन सबके साथ स्वर-में-स्वर मिलाकर नाचता-गाता है, नेपाल।"[1]

इसी कोटि के दूसरे यात्री देवेश दास हैं। गुरुदत्त के शब्दों में इस यात्री ने देश-देश के माहात्म्य और सौन्दर्य को सर्वान्तःकरण से स्वीकार किया है। देश-देश की बिखरी हुई प्रकृति और खुले हुए जीवन के सम्मुख इनकी मुक्त यायावर आत्मा आकाश में पींगें भरने लगती है। यही कारण है कि इन्होंने अपनी 'यूरोपा' तथा 'रजवाड़े' नामक पुस्तकों में देश-देश के सौन्दर्य और जीवन को स्वप्निल नेत्रों से देखा है।

"पिरेनीज़ शैलमाला की कितनी ही चोटियों पर एक अपूर्व नील आभा मूर्छित पड़ी रहती है, मानो निशान्त की झुटपुटी स्मृति। कितने दिन से ऐसा स्निग्ध नील प्रकाश से भरा उषा का रूप नहीं देखा था।"

आगे इस स्वप्नशील यात्री का मन वर्तमान से अतीत की ओर भागने लगता है। प्रकृति-सौन्दर्य के मध्य भग्नावशेषों के सहारे इस यात्री के मन पर अतीत अपनी घटनाओं तथा व्यक्तित्वों के साथ उभरने लगता है और लेखक अभिभूत होकर गत को अपनी कल्पना के रंगों में चित्रित करने लगता है—

"यह स्कॉट का सीमान्त देश है। स्कॉट की लेखनी ही इसको इतना विचित्र, रोमांचकारी और प्राणवन्त कर गई है। स्कॉट के वर्णनों में जिस देश और दृश्य को पाता हूँ वह अब भी अटूट है, केवल नहीं है उसका अद्भुत मनुष्य। मैलरोज़ ऐली के भग्न स्तूप अब भी खड़े हैं, शेष चारणों के गीतों में ज्योत्स्ना में इसका जैसा सुन्दर वर्णन है, वह सुन्दर म्लान महिमा अब भी इस स्तूप की है।"

'रजवाड़े' की राजस्थान-सम्बन्धी यात्राओं में हमारे यात्री के मन में वीरों की अनेक गाथाएँ, इतिहास की अनेक घटनाएँ और प्रेम तथा उत्सर्ग की अनेक कहानियाँ गूँज-गूँज जाती हैं। इस

१. 'धरती गाती है'।

लेखक के लिए वर्तमान अतीत से विच्छिन्न कोई संज्ञा नहीं रखता। 'शिवालक की घाटियों में' यात्रा करने वाले श्री निधि में प्रकृति और उसके जीवन के प्रति बहुत अधिक आत्मीय भाव है। अपनी व्यापक सहानुभूति के कारण ही उसने वन्य जीवन का सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण किया है। इस जीवन के हल्के-से-हल्के चढ़ाव-उतार से वह परिचित है—

"देखा, मण्डली से २५-३० हाथ दूर एक हरिण बैठा सो रहा है। बाघ उधर ही आ रहा है। एक ही दृष्टि में पहचान गया, यह मेरा पालकर छोड़ा गया चंचल था। ऊपर कोमल दीखने वाले इन हरिणों ने उसे अब तक अपनी मण्डली में नहीं मिलाया है। शायद, उनके जंगली नियमों में उसके लिए प्रायश्चित्त की कोई व्यवस्था नहीं है।"

कौतूहल और जिज्ञासा के बीच यह अपने पाठकों के सम्मुख जंगल के अद्भुत रहस्यों का उद्घाटन करता है और पाठक आश्चर्य-चकित होकर सुनता है।

अन्त में उस साहित्यिक यायावर का उल्लेख करना है, जिसके असम्पृक्त और निःशंक भाव को देखकर प्रकृति पुकार उठती है—'अरे यायावर, रहेगा याद'। पर 'अज्ञेय' का यह निरपेक्ष भाव अपने यात्रा-स्थलों के कोमल-विराट् सौन्दर्य तथा जीवन की ऊभ चूभ को अत्यन्त गहराई से अनुभव करता है। यह यात्री अपने को अपने-आपसे रिक्त करता है, इसलिए कि चतुर्दिक् से उसे भर सके, आस-पास के जीवन की संवेदनाओं को गहराई से महसूस कर सके। यात्री अपने चारों ओर कवि की दृष्टि से देखता है, उसकी दृष्टि में पुराण, इतिहास, पुरातत्त्व सभी-कुछ आ जाता है, पर उसकी मूल आत्मा सच्चे यायावर की ही है। भारत के सीमान्त पर खड़ा है, उसकी आँखों के सामने तूरखम का गर्वीला उभार है—

"इससे क्या कि इस मर्यादा पर्वत का नाम तूरख़म है। इससे क्या कि उससे भी परली तरफ़ जो गान्धार-युगीन दुर्ग है, वह अब काफ़िर-कोट के नाम से प्रसिद्ध है। उठना और गिरना, बनना और मिटना, पाना और खोना, हर पारमिता की साधना में निहित है।"

प्रकृति के कोमल और विराट् सौन्दर्य को हमारा यात्री कल्पना की कोमल तूलिका से अंकित करता है। वह सौन्दर्य को जिस प्रकार चित्रित करने में सफल हुआ है उसी प्रकार उसके निर्भर आनन्द और उल्लास को भी व्यंजित कर सका है। काश्मीर के कोंसर नाग पर्वत की शिरोरेखा पर यायावर के सामने विराट् सौन्दर्य आविर्भूत होता है—

"सौन्दर्य को, रंग-रूप को, हम पीछे छोड़ आए थे। सामने था विराट्; और उसके साधन रंग नहीं थे, केवल श्वेत और कृष्ण, केवल प्रकाश और छाया, केवल आलोक और निरालोक। यों जहाँ हम थे, वहाँ की काली या धूसर चट्टानों पर, जहाँ-तहाँ काही की मिश्र-हरित, ताम्र-लोहित रंगत थी ही, जल में घुली नीलिमा भी थी ही, और दूर उस पार की निस्संग चोटियों को हिम-शीतल निर्मोह में लपेट रखने वाली बरफ की चादर में गैरिक भाव भी था ही।

अपने यात्रा-क्रम में आने वाले चरित्रों को वह उनकी व्यक्तिगत रेखाओं के साथ उभार देता है। व्यक्तिगत चरित्रों के साथ यात्री ने देशगत चरित्रों की अवतारणा भी सफलतापूर्वक की है। और जब कभी यात्री की पुरातत्त्व-दृष्टि के सामने कोई प्राचीन इमारत, मन्दिर, मूर्ति अथवा उनका भग्नावशेष बीते युगों का इतिहास खोलने लगता है, उस समय लेखक का भाववेश किंचित् मुक्त हो जाता है। उसकी यात्रा में अनेक क्षण ऐसे आये हैं।

हर्षनारायण

मार्क्सवाद और साहित्य के स्थायी तत्त्व

क्लासिक साहित्य की चाहे जो भी परिभाषा की जाय, इसमें विवाद नहीं हो सकता कि अपेक्षाकृत स्थायित्व एवं शाश्वतता उसका प्रधान गुण है।[1] सफल रचनाएँ दो प्रकार की होती हैं: श्रेष्ठ अथवा सुन्दर और महान्। श्रेष्ठ अथवा सुन्दर रचनाएँ देश-काल-पात्र की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण होती हैं, जब कि महान् रचनाओं को इस प्रकार की अपेक्षा नहीं होती, वे देश-काल-पात्र को अतिक्रान्त करके सार्वदेशिक, सार्वकालिक तथा सार्वजनीन हो जाती हैं। जब सुदीर्घ काल तक उनकी महत्ता अक्षुण्ण रह जाती है और वे 'आउट ऑव डेट' नहीं हो पातीं, तब उन्हें हम क्लासिक घोषित कर देते हैं। असाधारण रूप में महान् रचनाएँ कभी-कभी रचयिता के जीवन-काल में ही क्लासिक का महनीय अभिधान प्राप्त कर लेती हैं। जो साहित्य कभी पुराना नहीं पड़ता, जिसकी अर्थवत्ता युग-परिवर्तन के बावजूद अक्षुण्ण रहती है, जिसमें मानवीय अनुभूतियों, कल्पनाओं, विचार-पद्धतियों, शैलियों आदि के ऐसे प्रतिमान एवं टाइप उपलब्ध होते हैं जो नई अनुभूतियों, कल्पनाओं, विचार-पद्धतियों, शैलियों आदि की उद्भावना के लिए पृष्ठभूमि का काम करते हैं, उस साहित्य को हम क्लासिक साहित्य की कोटि में रखते हैं।

उपर्युक्त विवरण से क्लासिक साहित्य की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है, यद्यपि उसमें हमें उसकी कोई सर्वांगपूर्ण परिभाषा नहीं मिलती। किन्तु हमें यहाँ इस विषय की गहराई में जाने का अवकाश नहीं है। हम यहाँ क्लासिक की परिभाषा करने नहीं अपितु मार्क्सवाद के साथ उसके महत्त्व का सामंजस्य दिखलाने चले हैं।

मार्क्स क्लासिक साहित्य के मूल्यांकन में किसी से पीछे नहीं है। अपने पूर्ववर्ती महान् बूर्जुआ लेखकों के अध्ययन की वह जोरदार सिफ़ारिश करता है। वेडमेयर को उसने एक बार लिखा था, "अन्त में, आपके स्थान पर जनतन्त्रवादी सज्जनों से मैं सामान्यतः कहूँगा कि ज्यादा अच्छा यह होगा कि, इसके पूर्व कि वे (कुत्तों के समान) भोंक-भोंककर बूर्जुआ साहित्य का खण्डन करें, पहले इससे परिचित हो लें। उदाहरणार्थ, इन सज्जनों को थियरी, गिज़ॉट, जॉन वेड आदि की ऐतिहासिक रचनाएँ पढ़नी चाहिएँ, ताकि वे वर्गों के अतीत

1. तुलना कीजिए: "आधुनिक काल में 'क्लासिक' शब्द साधारणतः किसी भी ऐसे लेखक के लिए प्रयुक्त होता है जो शताब्दियों के न्यायालय में खरा उतर चुका है अथवा उसके लिए भी जो अपने ही समय में उनकी कोटि में रखा जाता है जो इस प्रकार खरे उतर चुके हैं" : मैकाले, *बॉसवेल्स लाइफ़ ऑफ़ जॉनसन* : "इस अद्भुत व्यक्ति का क्या ही अनोखा भाग्य रहा है! अपने ही युग में क्लासिक समझा जाना और हमारे युग में साथी!" (इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका)।

इतिहास से अवगत हो सकें।"[1] एंगेल्स को लिखे एक पत्र में वह अपने समकालीन चर्मकार-विचारक डीट्ज़गेन की आलोचना करते हुए कहता है, "यह उसका दुर्भाग्य है कि ठीक हीगेल ही को उसने नहीं पढ़ा है।"[2] (जोर मार्क्स का) मार्क्स स्वयं क्लासिक साहित्य का अनन्य अध्येता था। कहा जाता है कि हाइन और गेटे उसे कण्ठस्थ थे। वह ईस्किलस (Aeschylus) और शेक्सपियर को विश्व के सर्वश्रेष्ठ नाटककार मानता और बार-बार उनकी आवृत्ति करता रहता था। दाँते और बर्न्स उसके प्रिय कवि थे। उसे अठारहवीं शताब्दी के उपन्यास बहुत रुचते थे। वह ड्यूमा और सर वाल्टर स्कॉट को भी बड़े चाव से पढ़ता था। स्कॉट की कृति 'ओल्ड मॉर्टलिटी' (Old Mortality) को वह एक ग्रन्थ-रत्न समझता था। बालज़ाक पर तो उसने एक पूरी पुस्तक ही लिखने की योजना बनाई थी, जो अभाग्यवश पूरी न हो सकी। इसके अतिरिक्त मार्क्स हीगेल, फायरबाख, रिकार्डो आदि की महत्ता को किस प्रकार मुक्त कण्ठ से स्वीकार करता है, यह सर्वविदित ही है।

तथापि कुछ लोगों की धारणा है कि अतीत के बूर्ज़ुआ साहित्य की महत्ता का स्वीकार किया जाना मार्क्सवाद के लिए सर्वथा असम्भव है।[3] कहा जाता है कि मार्क्सवाद साहित्य को युग के साथ खूब कसकर बाँध देना चाहता है। उसके अनुसार साहित्य अन्ततोगत्वा युग के साथ पूर्ण निष्ठावान होने को बाध्य है और ऐसा होना उचित भी है। हीगेल का दावा है कि जो-कुछ है सब ठीक ही है, जो जैसा है वह वैसा होने योग्य भी है, सत्तावान-मूल्यवान है, अथवा यथार्थ बुद्धि-संगत होता है[4]—कम-से-कम यहाँ पूरी तौर पर चरितार्थ होता दीखता है। साहित्य का मूल्य युगमात्रावस्थायी होता है, युगान्तर में उसका विशेष मूल्य नहीं होता। यातायात के लिए कभी बैलगाड़ी उतनी ही महत्त्वपूर्ण थी जितनी आज रेलगाड़ी है। किन्तु अब बैलगाड़ी दो कौड़ी की वस्तु होकर रह गई है। यही हाल तथोक्त मार्क्सवाद के अनुसार, साहित्य का भी होना चाहिए। किन्तु सभी जानते हैं कि साहित्य-सम्बन्धी यह दृष्टिकोण सर्वथा असमीचीन है। आज बैलगाड़ी चाहे कोई महत्त्व न रखती हो, परन्तु बैलगाड़ी-युग के साहित्य का एक बड़ा भाग हमें अब भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लगता है।

यह भी कहा जाता है कि मार्क्सवाद परम्परा का कट्टर विरोधी है। उसके अनुसार सभी प्रकार की विचार-परम्पराएँ (आइडियॉलोजीज़) परस्पर संघर्ष्यमाण वर्ग-हितों की पैदावार हैं, अतः उनकी महत्ता सर्वतोभावेन वर्ग-सापेक्ष ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि वर्ग-समाज में उत्पन्न सभी ज्ञान-विज्ञान, सभी कला-कृतियाँ, सभी साहित्यिक रचनाएँ, वर्ग-विशेषों की अपेक्षा से ही मूल्य रखती हैं, सम्बन्धित वर्गों के बाहर उनका विशेष मूल्य नहीं। साम्यवादी क्रान्ति के उपरान्त इन वर्ग-मूलक विचार-सन्ततियों का अन्त हो जायगा और तभी वर्ग-विरहित विचार-धाराओं का सूत्रपात सम्भव होगा। अतएव सही मानों में क्लासिक अथवा शाश्वत साहित्य का आविर्भाव भावी वर्ग-विहीन समाज में ही हो सकता है। आजकल जिन कृतियों को हम क्लासिक

१. मार्क्स द्वारा वेडमेयर को लिखा पत्र, दिनांक ५ मार्च, १८५२।
२. मार्क्स द्वारा एंगेल्स को लिखा पत्र, दिनांक ७ नवम्बर, १८६८।
३. २२ जून, १९५३ के 'नेशनल हेराल्ड' में प्रकाशित लेख, 'मॉडर्निटी एण्ड द क्लासिक्स', में डॉ० देवराज ने ऐसा ही मत प्रकट किया है।
४. 'द रियल इज़ द रैशनल'—(हीगेल)

साहित्य कहकर पुकारते हैं वे वस्तुतः श्रेष्ठ वर्ग-साहित्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

मार्क्सवाद की उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर यह कहा जाता है कि वह यह नहीं बतला सकता कि वर्तमान बूर्जुआ-युग में सामन्तयुगीन कालिदास की रचनाओं में क्यों रस मिलता है और शंकर के भाष्यों में विचारोत्तेजकता। क्या बात है कि कालिदास एवं शंकर के समय की अर्थ-व्यवस्था तो मर चुकी किन्तु उनकी रचनाएँ अभी भी जीवन्त हैं ?

उपर्युक्त विचार-सरणी आमूल भ्रान्त है। भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच जिस दुर्लंघ्य खाई की कल्पना की गई है, वह सर्वथा असंगत है। वर्गों के बीच उतना भेद नहीं जितना समझा जाता है। एक वर्ग दूसरे वर्ग से भिन्न अवश्य है, किन्तु इस भिन्नता की तह में मानवत्व नामाख्य जो एकता है उसको कम महत्त्वपूर्ण समझना भूल है। मार्क्स और एंगेल्स ने वस्तुओं के बीच आत्यन्तिक भेद की कल्पना के विरुद्ध बार-बार चेतावनी दी है। एक पात्र में एंगेल्स कहता है, **"इस प्रकार के अलौकिक, ध्रुवद्वय के समान प्रतियोगी केवल संकट (क्राइसिस) के समय ही वास्तविक जगत् में अस्तित्व में आते हैं, जब कि समस्त विराट् प्रवाह अन्तर-क्रिया के रूप में ही प्रवहमान है.......और यहाँ प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है, निरपेक्ष कोई वस्तु नहीं.......।"[1]** यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि वर्गों के बीच पूर्व और पश्चिम के भेद प्रायः संकट-काल में ही परिलक्षित होते हैं। वर्गों को योनियाँ (स्पीशीज़) मान लेने की भूल नहीं करनी चाहिए। वर्ग-समाज का व्यक्ति पहले मानव-व्यक्ति है फिर वर्ग-व्यक्ति। वर्ग हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर कभी हावी नहीं हो सकता। वर्ग-सम्बन्धों में हमारे व्यक्तित्व की परिसमाप्ति नहीं हो जाती। वे उसका केवल आंशिक प्रतिनिधित्व करते हैं। मार्क्स और एंगेल्स ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है। वह लिखता है, **"लेकिन ऐतिहासिक विकास के दौरान में, और ठीक इस अपरिहार्य तथ्य के कारण कि श्रम-विभाजन के बीच सामाजिक सम्बन्ध स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त कर लेते हैं, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में एक विभाजन प्रकट हो जाता है, जहाँ तक वह (जीवन) वैयक्तिक है और जहाँ तक वह श्रम की किसी शाखा एवं उससे सम्बद्ध अवस्थाओं द्वारा निर्धारित होता है। (हमारा मतलब यह नहीं है कि इस बात से यह समझा जाय कि, उदाहरणार्थ, महाजन (राँतिये), पूँजीपति, आदि व्यक्ति नहीं रह जाते; बल्कि नियत वर्ग-सम्बन्ध उनके व्यक्तित्व का नियमन एवं निर्धारण करने लगते हैं, और केवल अन्य वर्ग से संघर्ष के समय विभाजन प्रकट होता है और, अपने लिए, तभी जब वे दिवालिये हो जाते हैं।)"[2]** 'फ़ायरबाख़ पर लिखे छठे सूत्र में मार्क्स व्यक्तित्व को **'सामाजिक सम्बन्धों की समष्टि'** बतलाता है, वर्ग-सम्बन्धों की समष्टि नहीं, जिसका मतलब यह है कि व्यक्ति वर्ग-सम्बन्धों के अतिरिक्त कुछ और भी है। ट्राट्स्की ने व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए लिखा है, **"व्यक्तित्व जातीय, राष्ट्रीय, वर्ग-सम्बन्धी, अल्पकालीन और संस्थात्मक तत्त्वों का जोड़ है और, वस्तुतः, इस जोड़ के अनूठेपन में, इस मानसिक-रासायनिक मिश्रण में, ही व्यक्तित्व अभिव्यक्त होता है।"[3]** यहाँ वर्ग-सम्बन्धों को स्पष्टतया व्यक्तित्व का अंश-मात्र माना गया है।

इस सम्बन्ध में मार्क्स की एक और उक्ति विचारणीय है। बेंथम के उपयोगितावाद की

---

१. एंगेल्स द्वारा कॉनराड स्किमट को लिखा पत्र, दिनांक २७ अक्तूबर, १८९०।

२. मार्क्स और एंगेल्स, जर्मन आइडियॉलोजी, पृष्ठ ७१-७४ (भारतीय संस्करण)।

३. लियोन ट्राट्स्की, लिटरेचर एण्ड रिवोल्यूशन, पृष्ठ ५९।

आलोचना करते हुए मार्क्स लिखता है, "यह जानने के लिए कि श्वान के लिए क्या उपयोगी होगा, श्वान-प्रकृति का अध्ययन करना ही होगा। यह प्रकृति स्वयं उपयोगिता के सिद्धान्त से अनुमित नहीं हो सकती। इसे मनुष्य पर लागू करने पर, जो कोई सभी मानवीय कार्यों, गति-विधियों, सम्बन्धों, आदि की आलोचना उपयोगिता-सिद्धान्त के आधार पर करेगा, उसे पहले सामान्य मानव-प्रकृति की मीमांसा करनी होगी, और तब प्रत्येक ऐतिहासिक युग में परिवर्तित मानव-प्रकृति की। बेंथम इसे यों ही चलता करता है। शुष्कतम अनाड़ीपन दिखलाते हुए, वह आधुनिक दुकानदार, विशेषतः इंगलैण्ड के दुकानदार को सामान्य (नॉर्मल) मनुष्य समझता है।"[1] इस उक्ति से भी पता चलता है कि मार्क्स वर्ग-सम्बन्धों को मानव-प्रकृति की पूर्ण अभिव्यक्ति मानने के पक्ष में नहीं था। उसके अनुसार मनुष्य की वर्ग-प्रकृति के अतिरिक्त एक सामान्य प्रकृति भी होती है।

वस्तुतः वर्ग-तत्त्व में मानव-तत्त्व अनुस्यूत रहता है। सच तो यह है कि अपर के बिना पूर्व की कल्पना ही नहीं हो सकती। यह वर्ग-तत्त्व हमारे मानस-नेत्र के लिए रंगीन चश्मे का काम करता है। हम जिस रंग का चश्मा लगायँगे उसी रंग का दर्शन कर सकेंगे, अन्य रंगों का नहीं। सफ़ेद वस्तु भी हरे चश्मे से हरी दिखाई देगी। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि उस अवस्था में वस्तुएँ हमें सोलहों आने अयथार्थ रूप में ही दिखाई देंगी। उनका आयाम, उनकी अवस्थिति, उनकी हमसे दूरी, उनकी बनावट आदि-आदि के सम्बन्ध में हमें उस रंगीन चश्मे से यथार्थ ज्ञान भी प्राप्त हो सकता है। इतना ही नहीं, यदि हमें उसकी वास्तविकता का पहले ही से पता हो तो हम दृश्य में से हरे रंग को कल्पना-शक्ति से छाँट करके धोखे से बच भी सकते हैं। इसी प्रकार वर्ग-व्यक्तियों को सभी पदार्थ, सभी ज्ञेय, अवास्तविक रूप में ही नहीं भासते। और जानकार व्यक्ति को—उस व्यक्ति को जो यह जानता है कि वर्गमूलक पूर्वग्रह हमारे ज्ञान को किस प्रकार विकृत कर देते हैं—वर्गमूलक पूर्वग्रहों पर बहुधा विजय भी प्राप्त हो जाती है। कार्ल मैनहाइम का यह कहना बिलकुल दुरुस्त है कि जो व्यक्ति फ्रायड के इच्छानुगामी चिन्तन (रैशनलाइज़ेशन) का रहस्य समझ लेता है वह इसके कुपरिणामों से अपने को बहुत-कुछ मुक्त कर लेता है, उसी प्रकार आत्म-पर्यवेक्षण द्वारा अपने वर्गमूलक पूर्वग्रहों का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उन पूर्वग्रहों को वशीभूत कर लेना सरल हो जाता है। आत्म-चेतना वर्ग-चेतना पर वश प्राप्त करा देती है। कहना न होगा कि यह आत्म-चेतना विचारकों, कवियों आदि बुद्धिजीवियों में विकसित होती है। अतः श्रेष्ठ लेखक वर्ग-चेतना से उतने आक्रान्त नहीं होते जितने साधारण व्यक्ति। अतः क्लासिक अथवा अतीत के साहित्य को निरा वर्ग-साहित्य कहकर नहीं उड़ाया जा सकता।

मानव-मात्र की तात्त्विक एकता का यह परिणाम है कि व्यक्ति बहुधा अपने वर्गगत स्वार्थों के विपरीत भी आचरण करते देखे जाते हैं, अनजाने ही नहीं जान-बूझकर भी। मार्क्स और एंगेल्स स्वयं बूर्जुआ वर्ग में उत्पन्न हुए थे। एंगेल्स लासाल के इस वाक्य को, कि श्रमिक-वर्ग की अपेक्षा से सभी अन्य वर्ग एक प्रतिगामी समुदाय-मात्र हैं, "ऐतिहासिक दृष्टि से ग़लत" बताते हुए लिखता है, "यह वक्तव्य केवल विशिष्ट एवं अपवादात्मक हालतों में ही सत्य है : उदाहरणार्थ, कम्यून-जैसी सर्वहारा क्रान्ति में, अथवा ऐसे देश में जहाँ न केवल राज्य एवं

१. मार्क्स, 'कैपिटल', भाग १, पृष्ठ ६७१, पाद-टिप्पणी (एवरीमैन संस्करण)।

समाज बूर्ज़ुआ वर्ग द्वारा अपने ही रूप में ढाले जा चुके हैं बल्कि जहाँ जनतांत्रिक लघु बूर्ज़ुआ वर्ग इस ढलाई को अपने अन्तिम परिणाम तक ले जाकर पहले ही उसका (बूर्ज़ुआ वर्ग का) अनुसरण कर चुका है।"[1] एक अन्य स्थान पर उस प्रक्रिया की ओर भी इंगित किया गया है जिसके द्वारा सर्वहारा से इतर वर्गों में भी 'साम्यवादी चेतना' का अवतरण होता है। मार्क्स और एंगेल्स लिखते हैं, "......निस्सन्देह साम्यवादी चेतना इस (सर्वहारा) वर्ग की स्थिति पर मनन करने से अन्य वर्गों में भी जाग्रत हो सकती है।"[2] इसी प्रकार, "इसलिए जिस प्रकार पिछले समय में सामन्तों का एक भाग बूर्ज़ुआ वर्ग में मिल गया, उसी प्रकार बूर्ज़ुआ वर्ग सर्वहारा में मिल जाता है, और विशेषतः बूर्ज़ुआ विचारकों का एक भाग, जिसे ऐतिहासिक प्रगति को उसकी समग्रता में समझने के तल तक अपने को उठा लिया है।"[3] एंगेल्स बालज़क को प्रतिक्रियावादी वर्ग का बतलाते हुए कहता है कि वह अपनी रचनाओं में अपने ही वर्ग के विरुद्ध हो जाता है। उसके शब्द सुनिए :

"अच्छा, राजनीतिक दृष्टि से बालज़क राज-सत्ता का पक्षपाती (लुई १४ के वंश का समर्थक) था; उसकी महान् कृति श्रेष्ठ समाज के असाध्य क्षय पर एक लम्बा मर्सिया है; उसकी सहानुभूति उस वर्ग के साथ है जिसका विनाश निश्चित है। किन्तु यह सब होते हुए भी, उसका कटाक्ष सर्वाधिक तीव्र, उसका व्यंग सर्वाधिक कटु, तब हो जाता है जब वह उन्हीं स्त्रियों और पुरुषों (सामन्तों) को छेड़ता है जिनके साथ वह गहरी सहानुभूति रखता है। और केवल उसके कटुतम राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी,..........सर्वसाधारण प्रतिनिधि, ही ऐसे हैं जिनकी वह अप्रच्छन्न रूप से प्रशंसा करता है।

"मैं यथार्थवाद की एक महानतम विजय और बूढ़े बालज़क का एक महानतम गुण यह समझता हूँ कि बालज़क इस प्रकार अपनी ही वर्गगत सहानुभूति और राजनीतिक पक्षपातों के विरुद्ध जाने पर बाध्य हुआ कि उसने अपने प्रिय सामन्तों के पतन की आवश्यकता देखी और बतलाया कि वे इससे अच्छी भवितव्यता के पात्र नहीं थे; कि उसने भविष्य से सच्चे मनुष्यों को देखा..........।"[4] (ज़ोर एंगेल्स का)

"वर्ग-सम्बन्ध तत्त्वतः आर्थिक सम्बन्ध हैं, और मार्क्स के अनुसार मनुष्य केवल आर्थिक आवश्यकतानुसार या आर्थिक नियमानुसार ही उत्पादन नहीं करता प्रत्युत वह सौन्दर्य के नियमों के अनुसार भी उत्पादन करता है। यही मनुष्य की पशुओं से विशेषता है।"[5]

मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं में यत्र-तत्र ऐसे भी इंगित मिले हैं कि वर्गों की सीमा-रेखाएँ आज जितनी स्पष्ट हैं उतनी पहले नहीं थीं। आज का युग वर्ग-भेद का चूड़ान्त निदर्शन है। शायद तभी इसका अन्त शीघ्र होने वाला है। मात्र-भेद से गुण-भेद का नियम

१. एंगेल्स द्वारा बेबेल को लिखा पत्र, मार्च १८७५।
२. मार्क्स और एंगेल्स, जर्मन आइडियॉलोजी, पृष्ठ ६६ (भारतीय संस्करण)।
३. मार्क्स और एंगेल्स, कम्युनिस्ट मैनिफ़ैस्टो।
४. एंगेल्स द्वारा मार्गरेट हार्कनेस को लिखा पत्र, अप्रैल, १८८८।
५. मार्क्स, इकॉनामिक-फ़िलॉसॉफ़िक मैनुस्क्रिप्ट।

यही बतलाता है। मार्क्स और एंगेल्स लिखते हैं :

"बूर्जुआ वर्ग जहाँ-जहाँ विजयी हुआ है वहाँ-वहाँ इसने सभी सामन्ती, पारिवारिक एवं ग्राम्य सम्बन्धों का अन्त कर दिया है। इसने मनुष्य-मनुष्य के बीच नग्न स्वार्थ, निष्ठुर नकद लेन-देन के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध-सूत्र नहीं रहने दिया है।"[1]

इसका अर्थ यह है कि पूँजीवाद के पूर्व अल्प वर्ग-समाजों में द्रव्य-सम्बन्धों एवं 'नग्न-स्वार्थ' के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध, मानवीय सम्बन्ध, पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे, अर्थात् वर्गों की प्रभविष्णुता एवं भीषणता आज की अपेक्षा पहले काफ़ी कम थी।

इसी प्रकार एंगेल्स एक अन्य स्थान पर कहता है, "अन्य मनुष्यों के साथ व्यवहार में शुद्ध मानवीय भावनाओं की सम्भावना आजकल काफी कम (समाप्त नहीं—लेखक) हो गई है..........।"[2] मार्क्स और एंगेल्स ने 'होली फ़ैमिली' में इस विषय पर कुछ अधिक प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं, "सम्पत्तिशाली वर्ग और सर्वहारा उसी मानवीय आत्म-विमुखता का प्रतिनिधित्व करते हैं.......। पहले वर्ग को इस (आत्म-विमुखता) के कारण मानवीय अस्तित्व की भ्रान्ति होती है।" (ज़ोर लेखकद्वय का)। अर्थात् बूर्जुआ व्यक्तियों की मानवता शुद्ध मानवता नहीं है तथापि वे अपने को शुद्ध मानवता का प्रतिनिधि समझते हैं। पूँजीवादी समाज में "मानवीय व्यक्तित्व, मानवीय नैतिकता स्वयं एक ही साथ बाज़ार की चीज़ और वह ढाँचा, जिसमें द्रव्य काम करता है, बन जाती है।" पूँजीवाद "मनुष्य को प्रकृति से, स्वयं अपने से तथा अपने सार्वभौम तत्त्व से विमुख कर देता है" (ज़ोर मेरा)। "यह मानव-तत्त्व को अपने अस्तित्व का एक साधन-मात्र बनाकर छोड़ देता है" (ज़ोर लेखकद्वय का)। "यह उसे उसके आध्यात्मिक, उसके मानवीय सार-तत्त्व से विमुख कर देता है" और "मनुष्य को मनुष्य से विरक्त करके छोड़ता है" (ज़ोर लेखकद्वय का)। मार्क्स और एंगेल्स के अनुसार पूँजीवाद इसीलिए हेय है कि वह मानव-प्रकृति के विरुद्ध जाता और 'मानव-व्यक्ति' को 'वर्ग-व्यक्ति' के रूप में परिणत कर देता है। इन सबसे यही सिद्ध होता है कि आज इस पूँजीवादी समाज में वर्ग-सत्ता अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त कर चुकी है और वर्ग-तत्त्व के परे जो मानव-तत्त्व है उसकी रक्षा होनी चाहिए।[3]

वस्तुतः वर्ग-समाज में मनुष्य का चिरन्तन एवं मौलिक स्वरूप बहुत-कुछ तिरोभूत हो जाता है, किन्तु उसका समूल नाश नहीं हो पाता और वह विचारकों, कलाकारों एवं साहित्यकारों द्वारा जगाया जा सकता है। कला एवं साहित्य का हमारे व्यक्तित्व की जिस अन्तरतम तह से सम्बन्ध है उसे वर्ग-निष्ठा आदि ऊपरी तह की वस्तुएँ बहुत कम छू पाती हैं। रसेल के अनुसार "कला मानव-प्रकृति के अनियन्त्रणीय (वाइल्ड) पक्ष से निःसृत होती है,"[4] जिस पक्ष को आर्थिक सम्बन्धों के नियन्त्रण में लाना कठिन है। कार्ल मैनहाइम

१. कम्युनिस्ट मैनिफ़ेस्टो।
२. एंगेल्स, फ़ायरबाख़ ऐंड द एण्ड ऑफ़ क्लासिकल जर्मन फ़िलॉसॉफ़ी, मा० एं० से० व०, भाग २, पृष्ठ ३४४।
३. 'होली फ़ैमिली' के वाक्य जैक लिंडसे की 'मार्क्सिज़्म एण्ड कॉन्टेम्पोरेरी साइंस' नामक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ से उद्धृत किये गए हैं।
४. बर्ट्रेंड रसेल, रोड्स टु फ़्रीडम।

मार्क्स से ज़रा आगे बढ़कर बुद्धिजीवी वर्ग को अपेक्षाकृत वर्गहीन बतलाता है, जिसमें गहरी सचाई जान पड़ती है। जो कवि, कलाकार या विचारक अपनी अन्तरात्मा की गहराइयों में जितना ही डूब सकेगा वह उतना ही वर्ग-निरपेक्ष हो सकेगा। प्रश्न हो सकता है कि तब मार्क्स की कला एवं साहित्य, तथैव सभी प्रकार की विचार-परम्पराओं (आइडियॉलॉजीज़) की वर्गवादी व्याख्या का क्या होगा ? इस पर हम आगे चलकर विचार करेंगे।

यहाँ एक बात बड़े मार्के की है। वर्गों की उपलब्धियों अथवा उपार्जित संस्कृति को सर्वथा वर्ग-सापेक्ष समझकर त्याज्य मान लेना द्वन्द्ववाद के भी विरुद्ध पड़ता है। द्वन्द्व-न्याय के अनुसार स्थापना-प्रतिस्थापना-समन्वय का चक्र सर्वतोभावेन प्रतिषेधात्मक नहीं है। स्थापना प्रतिस्थापना द्वारा प्रतिषिद्ध अवश्य हो जाती है, किन्तु तृतीयावस्था में दोनों का समन्वय हो जाता है। समन्वय में दोनों के मूल तत्त्व विद्यमान रहते ही हैं। ऐसा लगता है कि स्थापना और प्रतिस्थापना यद्यपि पूर्ण सत्य नहीं तथापि वे शत-प्रतिशत असत्य अथवा असाध्य भी नहीं हैं। वे सत्य की एक निश्चित मात्रा अवश्य प्रकट करती हैं, तभी तो उनका समन्वय हो पाता है; अन्यथा तृतीयावस्था में उनका बाध या अपलाप ही हो जाय। अतः यदि मान भी लें कि अतीत का साहित्य वर्ग-सापेक्ष ही है, तब भी यह सिद्ध नहीं होता कि हमारे लिए उसका कोई महत्त्व ही नहीं। वस्तुतः उसके भी स्थायी तत्त्व आज के ही नहीं, वरन् भावी महा समन्वय—वर्ग-विहीन समाज—में अपनाने होंगे। एंगेल्स लिखता है, "अतः प्राचीन भौतिकवाद प्रत्ययवाद द्वारा प्रतिषिद्ध हुआ। परन्तु दर्शन के आगे के विकास के दौरान में, प्रत्ययवाद भी अमान्य होकर आधुनिक भौतिकवाद द्वारा प्रतिषिद्ध हो गया। यह आधुनिक भौतिकवाद, प्रतिषेध-का-प्रतिषेध, प्राचीन की पुनःस्थापना-मात्र नहीं है, बल्कि वह उस प्राचीन भौतिकवाद के स्थायी मूलाधारों की अभिवृद्धि करता है....। अतः इस प्रगति में दर्शन का 'कायाकल्प' हो जाता है, अर्थात् उसका 'उन्मूलन एवं परिरक्षण दोनों हो जाता है'; रूप की दृष्टि से उन्मूलन और विषय-वस्तु की दृष्टि से परिरक्षण"[1] (ज़ोर मेरा)। यह उद्धरण बड़े महत्त्व का है और इसे अच्छी तरह हृदयंगम किये बिना मार्क्सवाद को ठीक-ठीक समझना कठिन है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्सवाद के अनुसार अतीत का साहित्य केवल कूड़ा-कचरा नहीं है; वह आज के लिए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ऐसा लगता है कि वर्ग-सत्य भी तत्त्वतः सत्य—हाँ आंशिक सत्य—ही हैं। अन्तर केवल ज़ोर देने में होता है। एक ही सत्य भिन्न वर्गों के हाथ में पड़कर भिन्न रूप धारण कर लेता है। किन्तु उसका सार अक्षुण्ण रहता है; केवल उसका बाह्य रूप एवं उस पर ज़ोर देने की क्रिया में हेर-फेर होता रहता है। अतः प्रत्येक महान् साहित्य, दर्शन और कला-कृति के दो पक्ष होते हैं—प्रथम स्थायी और अन्य अस्थायी; प्रथम सापेक्ष और अन्य निरपेक्ष; प्रथम देश-काल-पात्रनिष्ठ और अन्य वस्तुनिष्ठ। क्लासिक की कोटि में वही कृतियाँ आती हैं जिनमें पूर्व की अपेक्षा अपर पक्ष का प्राधान्य होता है। एंगेल्स ने भी विचार-पद्धतियों के स्थायी एवं अस्थायी दो पक्ष माने हैं—"जो व्यक्ति प्रत्येक दार्शनिक पर उसके कार्य के टिकाऊ एवं प्रगतिशील भाग के आधार पर नहीं बल्कि जो अनिवार्यतः अल्पकालीन एवं प्रतिगामी होता है उसके आधार पर—(उसके) विचार-संस्थान (सिस्टम) के आधार पर—फ़ैसला देता है वह मौन ही रहे तो

1. एंगेल्स, एंटी-डुहरिंग, पृष्ठ ११५-६।

ज़्यादा अच्छा है"[1] (जोर एंगेल्स का)।

यहाँ एंगेल्स के 'टिकाऊ' शब्द पर ध्यान देना चाहिए। इससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि वर्गवाद की मैंने जो व्याख्या की है वह निराधार नहीं है। सब-कुछ वर्ग-सापेक्ष नहीं, बहुत-कुछ वर्ग-निरपेक्ष भी है। क्लासिक साहित्य में इस वर्ग-निरपेक्ष अंश का प्राधान्य होता है। एंगेल्स ने प्राचीन यूनानी दर्शन की विश्व-दृष्टि को 'आदिम, अनाड़ीपन लिये हुए' बताकर भी जो उसे 'तत्त्वतः ठीक'[2] कहा है उसकी भी संगति उपर्युक्त दृष्टि से ही लगाई जा सकती है।

यहाँ कुछ लोग एण्टी-डुहरिंग में प्रतिपादित सत्य, नीति-नियमों तथा राज-नियमों की वर्ग-सापेक्षता की दुहाई देकर यह सिद्ध करना चाहेंगे कि या तो मार्क्स और एंगेल्स की उपर्युक्त व्याख्या ही भ्रान्त है या उनके सिद्धान्त अन्तर्विरोधग्रस्त हैं। एंगेल्स कहता है, "नैतिकता सदैव वर्ग-नैतिकता रही।"[3] वह यहाँ एक मनोरंजक प्रश्न उठाता है, "परन्तु फिर भी, कोई व्यक्ति आपत्ति कर सकता है, शुभ अशुभ नहीं है और अशुभ शुभ नहीं है : यदि शुभ और अशुभ में गड़बड़-घोटाला कर दिया जाय तो सारी नैतिकता का अन्त हो जायगा और प्रत्येक व्यक्ति जो करना चाहेगा वही करेगा और जो नहीं करना चाहेगा उसे नहीं करेगा।"[4] एंगेल्स ने आगे चलकर इस प्रश्न का जो उत्तर दिया है उसे आलोचकों ने प्रायः निहायत ग़लत ढंग से समझा और समझाया है। एंगेल्स कहता है :

"किन्तु मामले को इतनी आसानी से ख़त्म नहीं किया जा सकता। यदि यह इतनी आसान बात होती तो निश्चय ही शुभ और अशुभ के सम्बन्ध में कोई झगड़ा ही न रहता; प्रत्येक व्यक्ति जानता होता कि क्या शुभ है और क्या अशुभ। पर आज वस्तुस्थिति क्या है? एक तो ईसाई-सामन्ती नैतिकता है....। साथ-ही-साथ हमें आधुनिक बूर्ज्वा नैतिकता देखने को मिलती है और इसके साथ भविष्य की सर्वहारा नैतिकता भी, यहाँ तक कि अभी समुन्नततम यूरोपीय देशों में ही भूत, वर्तमान और भविष्य नैतिक सिद्धान्तों के तीन ऐसे समूह प्रस्तुत करते हैं जो एक ही काल में साथ-ही-साथ प्रचलित हैं। तब सच्ची नैतिकता कौन-सी है? निरपेक्ष सत्य के अर्थ में, इनमें से कोई नहीं; किन्तु निश्चय ही वह नैतिकता जिसमें अधिकतम टिकाऊ तत्त्व पाए जाते हैं वही है, जो वर्तमान काल में वर्तमान के ध्वंस का प्रतिनिधित्व करती है, भविष्य का प्रतिनिधित्व करती है : अर्थात् सर्वहारा (नैतिकता)।"[5]

एंगेल्स के कहने का तात्पर्य यह है कि शुभ-अशुभ-सम्बन्धी सीधी-सादी एवं मौलिक धारणाओं को कोई नहीं चुनौती दे सकता; शुभ-अशुभ की कल्पना का महत्त्व सर्वथा निर्विवाद है। किन्तु बात यहीं नहीं समाप्त हो जाती। व्यवहार की जटिलता में पड़कर ये धारणाएँ अत्यन्त जटिल हो जाती हैं; क्या शुभ है और क्या अशुभ है इसका निर्णय टेढ़ी खीर है। यहीं

१. एंगेल्स द्वारा कॉनराड स्क्मिट को लिखा पत्र, दिनांक १ जुलाई, १८६१।
२. एंगेल्स, एण्टी-डुहरिंग, पृष्ठ १८ (बनारस-संस्करण)।
३. वही, पृष्ठ ७६ (बनारस-संस्करण)।
४. वही।
५. वही।

आकर शास्त्रीय पद्धतियों, संघटित (ऑर्गनाइज़्ड) नैतिकता का जन्म होता है। जब एंगेल्स कहता है "नैतिकता सर्वदा वर्ग-नैतिकता हुआ करती है" तो उसे संघटित नैतिकता ही अभिप्रेत होती है, नैतिकता-सम्बन्धी उपर्युक्त मौलिक धारणाएँ नहीं। इस संघटित नैतिकता की विशाल अट्टालिका उन सीधे-सादे, मौलिक नीति-नियमों की भित्ति पर ही आधारित होती है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि संघटित नैतिकता के निर्माण में ये नियम बहुत-कुछ तोड़-मरोड़-कर बिगाड़ दिए जाते हैं, यहाँ तक कि कभी-कभी उनका रूप सर्वथा विलोम भी हो जाता है। हाँ, जिस नैतिकता में इस प्रकार का बिगाड़ जितना ही कम हुआ रहता है वह उतनी ही स्थायी होती है। जब एंगेल्स कहता है कि सर्वहारा-नैतिकता में स्थायी तत्त्व अन्य सारी नैतिकताओं से अधिक मात्रा में विद्यमान होते हैं, तो उसका अभिप्राय यह होता है कि उसमें बिगाड़ की आशंका बहुत कम है। अच्छा, यह बिगाड़ अन्य नैतिकताओं में आवश्यक क्यों हो जाता है? इसलिए कि उनका प्रवर्त्तन वर्ग-विशेषों के हित में हुआ होता है, मानव-मात्र के हित में नहीं। सर्वहारा-नैतिकता में शाश्वत तत्त्वों के आधिक्य का एक-मात्र कारण यह है कि वह सार्वजनीन होती है। आइए, यहाँ एक अन्तरिम प्रश्न पर विचार करते चलें। यह आपत्ति की जा सकती है कि सर्वहारा भी तो एक वर्ग ही है, पुनः उसकी नैतिकता सार्वजनीन कैसे कही जा सकती है? मार्क्स और एंगेल्स ने स्थान-स्थान पर इस बात को स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि सर्वहारा वर्ग को साधारण अर्थ में वर्ग समझना भूल है। वस्तुतः उसमें और मानवता में केवल शब्दों का भेद है। उनके अनुसार सर्वहारा वर्ग के पास "शासक-वर्ग के विरुद्ध स्थापित करने के लिए कोई विशिष्ट वर्ग-स्वार्थ नहीं होता।"[१] वह "सभी वर्गों के ध्वंस की अभिव्यक्ति है।"[२] "यह (वर्ग-) संघर्ष अब उस अवस्था को पहुँच चुका है जहाँ शोषित और उत्पीड़ित वर्ग (सर्वहारा), समस्त समाज को शोषण, उत्पीड़न और वर्ग-संघर्ष से सदा के लिए मुक्ति दिलाए बिना, अपने को उस वर्ग से मुक्त नहीं करा सकता जो उसका शोषण और उत्पीड़न करता है....।"[३] अतः उपर्युक्त आपत्ति निराधार है।

हाँ, एक बात रह गई। वर्ग-नैतिकता में भी कुछ-न-कुछ स्थायी तत्त्व निहित रहते ही हैं, तभी एंगेल्स आगे चलकर स्वीकार करता है कि वर्ग-नैतिकताओं द्वारा भी वास्तविक, मानवीय नैतिकता की उपलब्धि की दिशा में प्रगति ही हुई है। "इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि इस प्रवाह में नैतिकता में कुल मिलाकर प्रगति ही हुई है, जैसा कि मानवीय ज्ञान के अन्य सभी क्षेत्रों में हुआ है।"[४] इस वाक्य में एक और बात स्मरणीय है। एंगेल्स कहता है कि नैतिकता में ही नहीं वरन् ज्ञान-विज्ञान की सभी शाखाओं में वर्ग-सापेक्ष की ज्ञान-राशि में प्रगति हुई है। वस्तुतः मार्क्स और एंगेल्स वर्गों द्वारा उपार्जित ज्ञान-राशि को एकदम त्याज्य एवं गर्हित समझने के पक्ष में कदापि नहीं थे।

एक स्थान पर मार्क्स ने तो सरल नीति-नियमों की इतने स्पष्ट शब्दों में मान्यता प्रकट की है कि उसका अभिप्राय समझने में किसी को शंका हो ही नहीं सकती। वह कहता है कि

१. जर्मन आइडियॉलॉजी, पृष्ठ ७३ (भारतीय संस्करण)।
२. वही, पृष्ठ ६७।
३. कम्युनिस्ट मैनिफ़ेस्टो, १८८३ के जर्मन-संस्करण का एंगेल्स-लिखित आमुख।
४. एण्टी-डुहरिंग, पृष्ठ ७७।

"नैतिकता और न्याय के सरल नियमों........को, राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार के विराट् नियमों के समान, साधारण व्यक्तियों के सम्बन्धों का नियमन करना चाहिए।"[1]

इसी प्रकार दसियों उद्धरण देकर यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि मार्क्स और एंगेल्स सत्य-मात्र को नहीं अपितु अब तक के संघटित सत्यों, दर्शन-पद्धतियों, को ही वर्ग-सापेक्ष मानते हैं। वस्तुतः मार्क्स और एंगेल्स अधिक-से-अधिक और वह भी शुद्ध व्यावहारिक अर्थ में—तात्त्विक अर्थ में नहीं—परिमित सापेक्षवादी ही कहे जा सकते हैं। उनका सापेक्ष निरपेक्ष का प्रतियोगी नहीं अपितु निर्माता है : निरपेक्ष सापेक्ष में अंशतः अभिव्यक्त होता है। इस उक्ति को संध्या-भाषा समझने की आवश्यकता नहीं। लेनिन इस समस्या पर मार्क्स और एंगेल्स के विचारों का सारांश इस प्रकार देता है—

"तब मानवीय चिन्ता स्वभावतः ही निरपेक्ष सत्य प्रस्तुत करने में समर्थ है, और प्रस्तुत करती भी है, जो सत्य कि सापेक्ष सत्यों के योग से बनता है।"[2]

अनातोले फ्रांस के किसी उपन्यास में शैतान ने कहा है कि निरपेक्ष एवं पूर्ण सत्य का रंग 'सफ़ेद' है, जो सब रंगों के मिश्रण से बना है।

उपर्युक्त विचारणाओं से स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्स का वर्गवाद वर्ग-निरपेक्ष, शाश्वत अथवा स्थायी सांस्कृतिक तत्त्वों का विरोधी नहीं है। अतः ऐसा साहित्य सर्वथा सम्भव है जो युग-विशेष का न होकर युग-युग का माना जा सके।

मार्क्सवाद के अनुसार वर्गों के साथ कला तथा साहित्य का सम्बन्ध यान्त्रिक नहीं है। दोनों के बीच भारी भेद एवं विषम अनुपात भी पाया जाता है। मार्क्स ने, प्राचीन यूनानी कला एवं सामाजिक विकास के बीच जो असामंजस्य एवं असंगति पाई जाती है, उसे मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, उसे यह भी मानने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि कभी-कभी युग-विशेष की कला अन्य युगों की कला के लिए आदर्श एवं प्रतिमान का काम करती है।[3] यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि तब मार्क्स के आधार (सबस्ट्रक्चर) और प्रासाद (सुपरस्ट्रक्चर) वाले रूपक की क्या गति होगी? आधार ही प्रासाद का नियमन करता है, अतः प्रासाद-स्थानी साहित्य को बरबस आधार-स्थानी अर्थ-व्यवस्था अथवा वर्ग-सत्ता का अनुसरण करना होगा। यह धारणा ठीक नहीं। मार्क्स और एंगेल्स ने इस बात को स्थान-स्थान पर स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि प्रासाद सर्वथा निष्क्रिय नहीं होता; जब एक बार वह उत्पन्न हो जाता है तो काफ़ी हद तक स्वयं आधार का नियमन करने लगता है। आधार और प्रासाद के बीच चलने वाली इस प्रभाव-विनिमय-प्रक्रिया को आधुनिक मार्क्सवादी, कम-से-कम व्यवहार में, सर्वथा भूल चुके हैं। तथापि इसे समझे बिना मार्क्स के संस्कृति-सम्बन्धी दृष्टिकोण को ठीक-ठीक समझना नितान्त असम्भव है। अच्छा, आगे चलिए। एंगेल्स कहता है कि प्रत्येक विचार-परम्परा अपने को आर्थिक आधार से न्यूनाधिक स्वतन्त्र कर लेने में अवश्य सफल हो जाती है।

१. मार्क्स, वर्किंगमेन्स इण्टरनेशनल एसोसिएशन के उद्घाटन के अवसर पर दिया गया भाषण, मा० एं० से० व०, भाग १, पृष्ठ ३४६।
२. लेनिन, मैटीरियलिज़्म एंड एम्पिरियो-क्रिटिसिज़्म, पृष्ठ १३३।
३. मार्क्स, ए कण्ट्रिब्यूशन टु द क्रिटिक ऑफ़ पोलिटिकल इकॉनॉमी, परिशिष्ट, पृष्ठ ३०९—१२।

अपने ऐतिहासिक विकास के दौरान में वह अपनी स्वतन्त्र नियमावली भी उद्भावित कर लेती है और उससे शासित होने लगती है। विचार-परम्पराएँ आर्थिक आधार से जितनी ही अधिक दूर होंगी उतनी ही अधिक वे उससे स्वतन्त्र भी होंगी। राज्य और कानून, आर्थिक आधार से निकटतम और दर्शन तथा धर्म से सुदूरतम विचार-परम्पराएँ हैं।[1] श्री विजयदेवनारायण साही ने ठीक ही लिखा है कि अर्थ-व्यवस्था-जन्य धर्म से उत्पन्न होने के कारण कला तथा साहित्य अर्थ-व्यवस्था से सर्वाधिक स्वतन्त्र हैं।[2] अतः आधार एवं प्रासाद वाले रूपक द्वारा भी कला एवं साहित्य के वर्गों के साथ अयांत्रिक सम्बन्ध की पुष्टि ही होती है।

हमने ऊपर दिखलाया है कि मार्क्स के अनुसार मनुष्य सौन्दर्य के नियमों के अनुसार भी उत्पादन करता है, केवल आर्थिक नियमों के अनुसार नहीं। वह एक स्थान पर लेखक को अपनी रचना को साधन नहीं वरन् साध्य मानने की जोरदार सिफ़ारिश करते हुए लिखता है, "लेखक अपनी रचनाओं को किसी प्रकार साधन नहीं मानता। वे स्वयं साध्य हैं; वे उसके तथा अन्यों के लिए इतने कम साधन हैं कि, आवश्यकता पड़ने पर, वह अपना अस्तित्व उनके अस्तित्व पर उत्सर्ग कर देता है और धर्मोपदेशक के समान, उसका सिद्धान्त होता है: 'मनुष्यों से अधिक ईश्वर की आज्ञा मानो,' उन मनुष्यों से जिनमें वह अपनी मानवीय आवश्यकताओं एवं इच्छाओं के साथ स्वयं सम्मिलित है।"[3] (जोर मार्क्स का)। यहाँ साफ़ शब्दों में साहित्य को वर्गगत स्वार्थों से ऊपर माना गया है। वस्तुतः मार्क्स और एंगेल्स को साहित्य के समाज-शास्त्रीय प्रतिमानों के साथ-साथ कलात्मक सौन्दर्य-शास्त्रीय प्रतिमान भी मान्य हैं, जो पूर्व की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इन सौन्दर्य-शास्त्रीय प्रतिमानों को माने बिना मार्क्स की बालजक-जैसे 'प्रतिक्रियावादी' में गाढ़ी अभिरुचि, ट्राट्स्की का ब्लॉक-जैसे अबोल्शेविक कवि की कविता 'द ट्वेल्व' को 'सदा जीवित रहने वाली' बतलाना, लेनिन द्वारा पुश्किन, गेटे एवं हाइना की प्रशंसा आदि महत्त्वपूर्ण तथ्यों की व्याख्या सम्भव नहीं है। ट्राट्स्की ने सर्वहारा के सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण से प्रशिक्षण पर बड़ा जोर दिया है।[4]

वस्तुतः एक-एक कला-कृति की आर्थिक व्याख्या नहीं हो सकती। हाँ, युग-विशेष की कला एवं साहित्य की ऐसी व्याख्या एक सीमा तक अवश्य सम्भव है। मार्क्सवाद ऐतिहासिक प्रवृत्तियों की व्याख्या करने का दावा करता है, व्यक्तिगत प्रवृत्तियों की नहीं। एंगेल्स कहता है कि हम किसी विचार-परम्परा का जितना ही बड़ा क्षेत्र चुनेंगे और उसके कितने ही बड़े युग की समीक्षा करेंगे वह अपनी प्रगति से आर्थिक आधार की उतनी ही अधिक अनुवर्तिनी सिद्ध होगी।[5] अर्थात्

१. एंगेल्स के आधार-प्रासाद-सम्बन्धी आलोच्य दृष्टिकोण के लिए निम्नलिखित देखिए—फ़ायरबाख़, मा० एं० से० व०, भाग २, पृष्ठ ३५६-६०, एंगेल्स द्वारा श्मिट को लिखा पत्र, दिनांक २७ अक्तूबर, १८९० और स्टार्केनबर्ग को लिखा पत्र, दिनांक २५ जनवरी १८९४।
२. 'आलोचना', अंक ६।
३. प्रेस की स्वतन्त्रता पर वाद-विवाद, करेण्ट बुक हाउस बम्बई, द्वारा १९५२ में प्रकाशित 'लिटरेचर एण्ड आर्ट' नामक संकलन के पृष्ठ ५५ पर उद्धृत।
४. लिटरेचर एण्ड रिवोल्यूशन, पृष्ठ २६।
५. एंगेल्स द्वारा स्टार्केनबर्ग को लिखा पत्र, दिनांक २५ जनवरी, १८९४।

व्यक्ति-व्यक्ति की अथवा एक-एक कला-कृति की आर्थिक व्याख्या सम्भव नहीं है; आर्थिक व्याख्या कला के विशिष्ट युग एवं इतिहास की ही हो सकती है। यही कारण है कि मार्क्सवाद साहित्य के इतिहास की मीमांसा में जितना सफल सिद्ध हुआ है उतना उसकी आलोचना के क्षेत्र में नहीं। अतएव अतीत के साहित्य के मूल्यांकन में मार्क्सवाद किसी अन्य वाद से पीछे नहीं है।

हाँ, यहाँ एक और बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक प्रतीत होता है। हमने ऊपर दिखलाया है कि पूँजीवाद वर्गवाद का चूड़ान्त निदर्शन है; इसके पूर्व वर्गों का उतना ज़ोर नहीं था। अतः प्राचीन लेखकों को प्रतिगामी शक्तियों के साथ होते हुए भी उत्तमोत्तम एवं युग-युग के लिए अर्थवती रचनाएँ प्रस्तुत करने में विशेष बाधा नहीं हुई। मिखायल लिफ़शित्स इस बात का आधार लेते हुए कहता है कि आज, विकसित वर्गवाद-युग के लेखक पर वर्गों का आधिपत्य पहले की अपेक्षा कहीं अधिक है; अतः ऐसा होना कठिन है कि वह, प्राचीन लेखकों के समान, प्रतिगामी शक्तियों का साथ भी देता रहे और शाश्वत, चिरन्तन दृष्टियों से ओत-प्रोत, कृति भी भेंट कर सके। उसमें पूर्वापेक्षया वर्ग-चेतना अधिक विकसित है, जिससे उसकी रचना अछूती नहीं रह सकती।[1] किन्तु इस तर्क में उतनी गहराई नहीं जितनी आपाततः जान पड़ती है। यह सत्य है कि आज वर्गवाद अपनी चरम सीमा को पहुँच गया है, जिसका प्रभाव लेखक पर पड़ना स्वाभाविक है। आज का युग वर्ग-चेतना का युग है। किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि आज वर्ग-चेतना बढ़ गई है तो इस वर्ग-चेतना की चेतना भी बढ़ती जा रही है। चेतना एक बात है और चेतना की चेतना दूसरी। वर्ग-सत्ता जिस प्रकार व्यक्तित्व को अपने साँचे में ढालती है उसका परिज्ञान प्राचीन काल में उतना नहीं था जितना आज है। और, जैसा कि हम पीछे लिख आए हैं, वर्ग-चेतना की चेतना, आत्म-चेतना द्वारा लेखक अपने को एक सीमा तक वर्ग से विच्छिन्न कर लेता है। अतः आज एक ओर यदि सामान्य मनुष्यों के बीच वर्ग-चेतना पूरे ज़ोर के साथ फैल रही है तो दूसरी ओर चिन्तकों एवं साहित्यकारों द्वारा उसकी गति-विधि का पर्यवेक्षण भी चल रहा है, जो वर्ग-चेतना को हमारे नियंत्रण में लाने में सहायक सिद्ध हो रहा है। आज मनोविश्लेषण—वैयक्तिक और सामुदायिक दोनों—प्रक्रिया द्वारा हम सही मानों में आत्म-साक्षात्कार करने में सफल होते जा रहे हैं जो वर्ग-चेतना के विरुद्ध एक अत्यन्त सबल शस्त्र सिद्ध हो रहा है। अतः आज भी महान् साहित्य का निर्माण सर्वथा सम्भव है। मालूम होता है कि वर्तमान काल में अतीत के साहित्य, क्लासिक साहित्य, के टक्कर के साहित्य का प्रायः अभाव देखकर ही लिफ़शित्स ने आलोच्य धारणा बनाई थी। किन्तु महान् साहित्य की जो कमी दिखाई देती है उसका कारण कुछ और ही है, जिसके निरूपण के लिए एक स्वतन्त्र लेख की आवश्यकता है।



१. आजेल फ़्लोर, लिटरेचर एण्ड मार्क्सिज़्म, पृष्ठ २६-२७ (इलाहाबाद-संस्करण)।

मसीहुज़्ज़मा

उर्दू-आलोचना का विकास

उर्दू भाषा जब बोली से विकसित होकर रचनात्मक साहित्य के रूप में आई तो उसमें आलोचनात्मक तत्वों का विकास भी साथ-साथ हुआ, किन्तु इसका लिखा हुआ प्रमाण हमको सत्रहवीं शताब्दी के पहले नहीं मिलता। उर्दू में आलोचना की चर्चा करने से पहले अरबी और फारसी-आलोचना के नियमों पर विचार कर लेना उचित होगा। जब तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में उर्दू में छोटी-छोटी पुस्तकों और काव्य की रचना होने लगी, उस समय शासकों की भाषा फारसी थी। पढ़े-लिखे और ऊँचे वर्ग के लोग फारसी बोलते थे और फारसी शायरी की विविध शैलियों से प्रसन्न होते थे। अतः गद्य को छोड़कर पद्य पर फारसी का प्रभाव अधिक पड़ा।

फारसी से बहुत पहले अरबी साहित्य ने बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया था। अरब में हर साल एक मेला लगता था जिसे अकाज़ कहते थे। उसमें बड़े-बड़े कवि आकर अपनी-अपनी कविताएँ सुनाया करते थे और इन पर लोग बहस भी करते थे। सब कविताओं में जो सात सबसे अच्छी ठहरती थीं उनको लिखवाकर एक दीवार पर लटका दिया जाता था और साल-भर तक वे लटकी रहती थीं। यह रीति अरब में इस्लाम के जन्म से पहले से थी, जो बाद को भी बाकी रही। अरबी में आलोचना पर बहुत-सी पुस्तकें भी लिखी गईं; जिनमें अबुलफ़र्ज इब्ने जाफ़र क़दामा, इब्ने रशीक, सुआलबी, अब्दुल कादिर जरजानी, इब्ने खलदून की लिखी हुई बहुत मशहूर हैं। इन लोगों की दृष्टि में बहादुरी और जोश पैदा करने वाले शैर अच्छे होते हैं, मगर ये लोग विषय से अधिक शब्दों पर जोर देते हैं। और शैर में form को matter से ज़्यादा जरूरी समझते हैं। इब्ने खलदून ने शैर को पानी के गिलास की उपमा दी है। पानी अगर सोने, चाँदी या शीशे के गिलास में है तो वह भला मालूम होगा और मिट्टी के कुल्हड़ में इसकी शान घट जायगी। इसी तरह जो बात सुन्दर शब्दों में व्यक्त की जाती है वह भली लगती है और भोंडे शब्द शैर को बिगाड़ देते हैं।

इब्ने खलदून का जो खयाल ऊपर बयान हुआ है वही लगभग अरबी और फारसी के तमाम आलोचकों का है। वह शैर के लिबास को बहुत महत्त्व देते हैं। Matter को यह लोग दूसरा दर्जा देते हैं। इसी कारण अरबी और फारसी में जो आलोचना की किताबें बाद को लिखी गईं उनमें rhetorics, काफ़िया, रदीफ़ और पिंगल पर जोर देने के साथ-साथ मुहाविरों के ठीक प्रयोग की चर्चा अधिक होती है।

उर्दू में कोई आलोचनात्मक लेख सत्रहवीं शताब्दी से पहले नहीं मिलता। जहाँ तक हमें पता चल सका है सबसे पहले वजही ने अपनी मसनवी कुतुब-मुश्तरी में यह बताया है कि शैर को कैसा होना चाहिए। अच्छा शैर किसको कहेंगे और बुरा किसको? उनके विचार में

शब्द और अर्थ में इतना गहरा सम्बन्ध होना चाहिए कि एक की आत्मा दूसरे में आ जाय। ऊँचे लेख के लिए बात ऊँची होने के साथ उसमें असर पैदा करने के लिए सुन्दर शब्द भी होनी चाहिएँ।

वजही के बाद उत्तरी भारत के फाएज और दक्षिण के बाकर आगाह (१७७०) ने भी आलोचनात्मक लेख लिखे हैं। उनमें कविता के नित्य नये रूपों एवं नियमों का वर्णन किया गया है। किन्तु यह लेख अलग से आलोचना के नियमों पर नहीं लिखे गए बल्कि अपने दीवान या संग्रह की भूमिका में हैं। इन लेखों से यह पता चलता है कि उर्दू काव्य के भिन्न-भिन्न रूपों—जैसे ग़ज़ल, कसीदा, दोहरा कवित्त, मसनवी आदि—के नियम निश्चित थे और कवि उन्हीं नियमों का प्रतिबन्ध मानते थे।

उर्दू की आलोचना को पूरी तरह से जानने के लिए आवश्यक है कि हम लेखों के अतिरिक्त उस परम्परा को भी समझ लें जो उर्दू की कविता और आलोचना की उन्नति में भाग ले रही थी। यह परम्परा उस्ताद-शागिर्द और मुशायरों की परम्परा है।

मुशायरों और उस्ताद-शागिर्द की परम्परा ने उर्दू-कविता पर गहरा प्रभाव डाला है। ऐसे समय में, जब प्रेस नहीं थे, रिसाले और किताबें नहीं छपती थीं, साहित्य-प्रसार के साधनों का अभाव था, मुशायरे ही वह माध्यम थे जिनसे शायर एक-दूसरे की वाणी से परिचित होते थे। जब सुनने वाला किसी शैर पर 'वाह-वाह' या 'बहुत खूब' कहता है तो यह सिर्फ बनावट नहीं होती बल्कि सुनने वाले के मस्तिष्क में शैर का कोई स्तर और उसकी कोई परख अवश्य रहती है। और जब वह प्रशंसा करता है तो यह स्पष्ट होता है कि जो शैर पढ़ा गया है वह उसकी कसौटी पर खरा उतरा है। आज 'वाह-वाह' और 'सुभान-अल्लाह' का कोई महत्त्व चाहे न रह गया हो लेकिन हमें यह बात अच्छी तरह मालूम है कि पहले जमाने में मुशायरे के हर शैर की प्रशंसा नहीं की जाती थी। यहाँ पर उर्दू के महाकवि मीर तक़ी 'मीर' की एक घटना याद आती है। वह मुरव्वत या मित्रता में किसी की प्रशंसा नहीं करते थे, बल्कि इस मामले में बड़े सख्त थे। मशहूर है कि ग़ालिब लड़के ही थे कि उन्होंने अपनी ग़ज़ल मुशायरे में पढ़ी और उसे सुनकर 'मीर' ने कहा कि इस लड़के को अगर कोई ठीक बताने वाला मिल गया तो यह मशहूर कवियों में जगह लेगा, वरना बहक जायगा।

मुशायरों में केवल तारीफ़ ही नहीं की जाती थी बल्कि आपत्तियाँ भी होती थीं और लोगों का जरा-सी चूक हो जाने पर बहुत अपमान किया जाता था। ऐसी आपत्तियों की बहुत-सी घटनाएँ किताबों में मिलती हैं। ये आपत्तियाँ और शैरों पर टीका-टिप्पणियाँ उस समय की आलोचना के नमूने हैं। ये आपत्तियाँ अधिकतर निम्न लिखित रूप की होती थीं—

(१) काफ़िया, रदीफ़ अथवा वज़न में कवि ने कोई चूक की।
(२) शब्द या मुहाविरे का उचित प्रयोग नहीं हुआ।
(३) शैर का मतलब साफ़ नहीं है अर्थात् शैर सन्दिग्ध है।
(४) शैर में ऐसी बात बयान की गई है जो परम्परा या अनुभव के विपरीत है।

मुशायरों से मिली हुई उस्तादी-शागिर्दी की परम्परा थी। यह परम्परा भी फ़ारसी की थी। जब कोई शैर कहना शुरू करता था तो किसी उस्ताद के पास जाता था और वह उसको शैर के नियम बतलाता था, उसकी त्रुटियों को ठीक करता था और शैर में काट-छाँट करता था।

इसको 'इसलाह लेना' कहते थे। शागिर्द की ग़ज़ल पर यदि कोई एतराज़ होता तो उसका उत्तर देना भी उस्ताद ही का काम होता था। इस तरह के मुशायरों के स्कूल भी बन गए थे जिनकी विशेषताएँ अलग-अलग होती थीं।

भूमिकाओं के अतिरिक्त उर्दू में नियमित आलोचना तज़किरों में मिलती है, जिनमें शायरों की चर्चा वर्ण-क्रम से होती है और शायर के जीवन तथा शायर-सम्बन्धी कुछ वक्तव्य दिये जाते हैं। इसके बाद कवि के कुछ शैर दे दिये जाते हैं। भिन्न-भिन्न तज़किरों में कथाएँ और आलोचना, शायरों के बारे में, अलग-अलग हैं—किसी में कम, किसी में अधिक। आलोचना भी इनमें लिखने वाले के स्वभाव के अनुसार रंग-रंग की है। ऐसे तज़किरे तो बहुत हैं, लेकिन इनमें सबसे पहला मशहूर तज़किरा प्रसिद्ध उर्दू-कवि मीर तक़ी 'मीर' का 'निकातुश-शुअरा' है जिसके देखने से यह जान पड़ता है कि 'मीर' अच्छे कवि होने के साथ-साथ अच्छे आलोचक भी थे। अठारहवीं शताब्दी में इनके बाद के जो तज़किरे उर्दू में विशिष्ट स्थान रखते हैं वे हैं क़ुदरतुल्लाह 'क़ासिम' का 'मजमूअए-नग़्ज़', 'क़ायम' का लिखा हुआ 'मख़ज़ने-निकात', मीर हसन का 'तज़किरए-शोअराये-उर्दू', 'मुसहफ़ी' का 'तज़किरए-हिन्दी' और अली इबराहीम खलील का 'गुलज़ारे खलील।'

इन तज़किरों में आलोचना बहुत संक्षिप्त है और अधिकतर यह होता है कि तज़किरा लिखने वाला कवि के विषय में अपने विचार लिख देता है। यह राय आम तौर पर बे-लाग होती है, विशेषकर 'मीर' तो बहुत साफ़-साफ़ बे-धड़क कह देते थे और चाहे शायर के व्यक्तित्व के बारे में हो या उसके शैर के बारे में, आलोचना करने में कभी लगी-लिपटी नहीं रखते थे। जिनसे मित्रता होती थी उनकी बुराइयाँ करने से नहीं हिचकते थे और जिनसे विरोध होता उनकी अच्छाइयाँ बयान करना नहीं भूलते थे। यह बात 'मीर' को बहुत बड़ा बना देती है। दूसरे तज़किरा लिखने वाले साफ़ बात बे-धड़क कहने में 'मीर' तक तो नहीं पहुँचते लेकिन उनमें भी जँची-तुली रायें मिलती हैं।

इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं उर्दू-शायरी की फ़ारसी-शायरी से तुलना भी कर देते हैं और कुछ शैरों में अपनी इसलाह भी प्रस्तुत कर देते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में ग़दर से पहले तक जो तज़किरे लिखे गए उनमें प्रसिद्ध ये हैं—मिर्ज़ा अला लुत्फ़ का 'गुलशने-हिन्द', शेफ़्ता का 'गुलशने-बे-खार' और करीमुद्दीन का 'तबक़ाते-शोअरा'। घटनाएँ एवं चरित इनमें अधिक विस्तार से दिये हुए हैं, लेकिन आलोचनात्मक दृष्टि से उनमें और इनमें अधिक अन्तर नहीं है।

आधुनिक युग के स्वतन्त्रता-संग्राम ने हिन्दुस्तान के रहने वालों में बड़ा परिवर्तन पैदा कर दिया। कहने को तो दिल्ली के बादशाह बस नाम ही के बादशाह रह गए थे। अंग्रेज़ों का हुक्म हर जगह चलता था, लेकिन बहादुरशाह के क़ैद होकर रंगून चले जाने से हिन्दुस्तानियों को बड़ा मानसिक आघात लगा और वह अपने को गुलाम महसूस करने लगे। इसके बाद से अंग्रेज़ी प्रभाव से जीवन के मूल्य बदलने लगे और कुछ ही वर्षों में समाज का ढाँचा ही बदल गया। एक नया मध्य-वर्ग पैदा हो गया, जिसकी समस्याएँ दूसरी थीं और जो अंग्रेज़ों से मित्रता करने और उनसे प्रभाव ग्रहण करने को विवश था। लोग अंग्रेज़ी पढ़ने लगे, अंग्रेज़ी सभ्यता से असर लेने लगे। अंग्रेज़ी के रास्ते नये-नये विचार साहित्य में आने लगे और उर्दू-साहित्य

की दूसरी धाराओं की तरह आलोचना ने भी फ़ारसी से अपना मुँह मोड़कर अंग्रेजी की तरफ़ कर लिया और एक ठहरे हुए सामाजिक संगठन ने आलोचना में ऊपरी सुन्दरता को जो विशेषता दे रखी थी वह समाप्त होनी शुरू हुई। साहित्य के अर्थपूर्ण भाग पर ज्यादा जोर दिया जाने लगा। लोग साहित्य को नैसर्गिक अथवा आध्यात्मिक वस्तु समझने के बजाय उसे समाज की पैदावार समझने लगे, जिसमें समय की माँगों का ध्यान रखा जाय और ऐसी चीजें लिखी जाएँ जिनसे राष्ट्रीय जीवन का उत्थान हो। साहित्य केवल मनोरंजन का आधार नहीं, बल्कि इसका उद्देश्य समाज का सुधार है। इन विचारों को उर्दू में फैलाने का श्रेय जिन दो व्यक्तियों को है, वे हैं 'आज़ाद' और 'हाली'।

मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' ने सबसे पहले इसकी ओर ध्यान दिया और 'आबे हयात' लिखकर उन्होंने नई आलोचना की नींव डाली। वैसे तो करीमुद्दीन के 'तबक़ाते-शोरा' (१८४८) में भी उर्दू-भाषा के इतिहास पर लिखा गया है लेकिन 'आबे-हयात' को उर्दू-काव्य का पहला इतिहास भी कहा जा सकता है। इसके आरम्भ में उर्दू-भाषा के उद्भव का वर्णन है और व्रज-भाषा का उर्दू पर प्रभाव भी दिखाया गया है। फिर उत्तरी भारत के उर्दू-काव्य के अलग-अलग युग बनाकर उनकी अलग-अलग विशेषताएँ तथा उनके कवियों का हाल लिखा है और उनकी शायरी पर आलोचना लिखी है। इसमें ज़बान की सफ़ाई पर अधिक ज़ोर दिया गया है, लेकिन अर्थ को टाला नहीं गया है। जगह-जगह शायरी और समाज में जो सम्बन्ध होता है उसको स्पष्ट किया है, और यह बताया है कि कवि पर अपने वातावरण का क्या प्रभाव पड़ा है। आलोचना के सम्बन्ध में 'आबे-हयात' के अलावा आज़ाद के कुछ व्याख्यान भी हैं, जो उन्होंने १८६८ और १८७४ में दिये थे।

'हाली' ने १८६३ में अपने संग्रह की बहुत लम्बी भूमिका लिखी थी, जिसका शीर्षक 'शेरो-शायरी' है। इसको अब इतनी विशेषता प्राप्त हो चुकी है कि इसे अलग किताब समझा जाता है। इस भूमिका के दो भाग हैं। पहले में 'हाली' ने शायरी के नियमों पर बहस की है और 'शायरी पर सोसाइटी का असर', 'शायरी और समाज', 'अच्छा शेर किसे कहते हैं', 'शेर के लिए क़ाफ़िया ज़रूरी है या नहीं', 'नज़मो-नस्र का फ़र्क़', 'शेर का मक़सद' आदि-आदि शीर्षक बनाकर उन पर अपनी राय लिखी है और अरबी, फ़ारसी, अंग्रेज़ी और यूनानी कवियों के कुछ उदाहरण भी दिये हैं। दूसरे भाग में उन्होंने उर्दू-ग़ज़ल, क़सीदा, मसनवी तथा मरसिये पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली है और यह दिखाया है कि उर्दू-शायरी पुरानी लकीर पर आँखें बन्द किये आगे बढ़ती जा रही है तथा इससे अनजान है कि समय के बदले हुए रंग के कारण शायरी को भी अपना रूप बदल देना चाहिए और विलास के राग गाने के बजाय समाज को उभारने का काम सँभालना चाहिए।

'हाली' का उद्देश्य इस लेख से यह था कि उर्दू-ग़ज़ल अपनी पुरानी डगर को छोड़कर नये रास्ते पर आ लगे। इसलिए उन्होंने इसकी केवल बुराइयाँ-ही-बुराइयाँ बयान की हैं और लोगों को उसे छोड़ देने को कहा है। उस दृष्टि से तो उनकी किताब ठीक है, लेकिन जहाँ तक शायरी की आलोचना का प्रश्न है, किताब का दूसरा भाग एक-पक्षीय होकर रह गया है। इस कमी को बाद में लखनऊ-विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर सय्यद मसूद हसन रिज़वी ने अपनी किताब 'हमारी शायरी' (१९२८) में पूरा किया; जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

शिबली भी 'हाली' और 'आज़ाद' के सहयोगी हैं, किन्तु आलोचना की ओर उन्होंने बीसवीं शताब्दी से पहले ध्यान नहीं दिया। उन्होंने फ़ारसी-साहित्य का इतिहास 'शैरुल-अजम' लिखा है, जिसमें शायरी पर साधारण बहस भी की है। इसके अलावा एक किताब में उन्होंने 'अनीस' और 'दबीर' की तुलना भी की है। शिबली ने 'हाली' और 'आज़ाद' के विचारों को ज़रा ज़्यादा स्पष्ट करके बयान किया है; लेकिन उनमें एक बड़ी कमज़ोरी यह है कि जब वह नियमों की स्थापना करके आलोचना लिखते हैं तो उन नियमों को भूल जाते हैं। 'मुवाज़नए-अनीस-व-दबीर' में उन्होंने दोनों शायरों की अच्छाइयाँ और बुराइयाँ सामने रखकर उनकी तुलना करने के बजाय पक्षपात से काम लिया है।

उसी काल में पटना के इमदाद इमाम 'असर' ने दो भागों में एक किताब 'काशिफ़ुल हक़ायक़' लिखी। पहले भाग में संस्कृत, यूनानी, अरबी आदि के काव्य का संक्षिप्त वर्णन किया है और दूसरे भाग में उर्दू-साहित्य का विवेचन है तथा उसके काव्य के भिन्न-भिन्न भेदों पर विचार प्रकट किया है। वह हर राष्ट्र और देश के लिए शायरी को आवश्यक समझते हैं। इससे आत्मा को सच्ची प्रसन्नता प्राप्त होती है और साथ-साथ इसको लोगों की आदतें सुधारने में भी भाग लेना चाहिए। वह इस बात पर दुखी होते हैं कि उर्दू-शायरी अधिकतर फ़ारसी की डगर पर चली है। उनके विचार में इसे संस्कृत-काव्य का रंग पकड़ना चाहिए था, इस कारण से कि राष्ट्रीय विशेषताएँ उसमें अधिक थीं।

अनुशीलन (research) और आलोचना (criticism) दो अलग-अलग चीज़ें हैं; लेकिन दोनों का सम्बन्ध ऐसा है जैसे चोली-दामन का साथ। एक को दूसरे का सहारा लेना पड़ता है। उर्दू-साहित्य में तज़किरों के समय से अनुशीलन की एक परम्परा मिलती है, लेकिन ग़दर से पहले इसका आग्रह मुहाविरों और भाषा पर रहा। ग़दर के बाद उन्नीसवीं शताब्दी में 'आज़ाद' के सिवा और किसी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। हाँ, बीसवीं शताब्दी के शुरू ही से अंग्रेज़ी प्रभाव से ऐसे लोग पैदा हो गए जिन्होंने दूसरे साहित्यिक काव्यों के साथ साहित्यिक खोज की ओर भी ध्यान दिया। इन लोगों के परिश्रम से बहुत-सी नई बातें ज्ञात हुईं तथा ऐसी किताबों का परिचय मिला जिनके विषय में लोग नहीं जानते थे और उर्दू साहित्य का इतिहास बहुत आगे बढ़ गया।

डॉक्टर अब्दुल हक़ की कोई अलग किताब नहीं है। वह हैदराबाद में उर्दू के प्रोफ़ेसर थे। अञ्जुमने-तरक़्क़ी-ए-उर्दू के मन्त्री होकर वह इस काम से अलग हो गए और अपना सारा समय अञ्जुमने-तरक़्क़ी-ए-उर्दू को देने लगे। उन्होंने बहुत सी पुरानी किताबों को अञ्जुमन की ओर से छापा है और उन पर भूमिकाएँ भी लिखी हैं। यही उनकी आलोचना की पूँजी है। अब्दुल हक़ वर्तमान के मानने वाले हैं और वर्तमान से हाली से अधिक परिचित हैं, इसीलिए उनकी आलोचना में सन्तुलन हाली से अधिक मिलता है। वह इसको अनुचित समझते हैं कि पश्चिम की कसौटी पर पूर्व के साहित्य को जाँचा जाय। हर साहित्य का एक अलग स्वभाव होता है जो उसकी परम्परा के साथ जुड़ा होता है।

पंडित ब्रजमोहन दत्तात्रेय 'कैफ़ी' की दो किताबें 'मंशूरात' और 'कैफ़िया' हैं, जो उर्दू-साहित्य के कुछ भागों पर प्रकाश डालती हैं। इसके अतिरिक्त उनके लेख भी हैं। उनका यह विचार कि अंग्रेज़ी पढ़ने वाले उर्दू-साहित्य को अंग्रेज़ी नियमों पर जाँचते हैं, ग़लत है।

वह नियम अच्छे अवश्य हैं मगर तमाम-के-तमाम को उर्दू पर लागू कर देना अनुचित है। साहित्य एवं काव्य पंडित 'कैफ़ी' के विचार में कलात्मक उत्कृष्टताओं का संग्रह-मात्र नहीं है, बल्कि इसमें जीवन का अनुवाद भी होना चाहिए। ओरिएण्टल कॉलिज लाहौर के प्रोफेसर महमूद शीरानी की विशेष रुचि अनुशीलन की ओर है। उन्होंने 'पृथ्वीराज रासो', 'खालिक बारी, और 'फिरदौसी' पर बहुत समय लगाकर महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। उनकी पुस्तक 'पंजाब में उर्दू' भी अनुशीलन का अच्छा उदाहरण है, लेकिन आलोचना का पहलू इन सबमें बहुत कमजोर है।

लखनऊ-यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर सैयद मसूद हसन रिज़वी ने अपने जीवन का अधिकतर समय पुराने साहित्य के अध्ययन में बिताया है और लगभग एक दर्जन पुस्तकों को सम्पादित करके प्रकाशित किया है। इसके अतिरिक्त उनकी किताब 'हमारी शायरी' उर्दू शायरी के उन अंगों की व्याख्या करती है जिनकी तरफ 'हाली' ने ध्यान नहीं दिया था। 'हमारी शायरी' के भी दो भाग हैं—एक में शायरी पर साधारण बहस है और उसकी विशेषताएँ बयान की गई हैं, दूसरे में उर्दू की शायरी के कुछ अच्छे पहलुओं का वर्णन किया गया है। शायरी में मसूद साहब भावों (जज़बात) को अधिक महत्त्व देते हैं और उनके विचार में यही भाव जब शब्दों का रूप धारण कर लेते हैं तो शैर कहलाते हैं। वह शायरी का उद्देश्य किसी विचार-धारा का प्रचार नहीं समझते। इनके विचार में यदि एक कविता पढ़कर किसी को आनन्द मिल जाय और उसकी आत्मा जाग उठे तो वही उसका उद्देश्य है। उन्होंने बहुत-सी ऐसी बातों की खोज की जिनसे लोग परिचित नहीं थे और उन पर लेख लिखकर उर्दू-साहित्य के इतिहास को अधिक उन्नति दी। इसके अतिरिक्त उनका आलोचना लिखने का ढंग पूर्वीय और पाश्चात्य नियमों का अच्छा सन्तुलन प्रस्तुत करता है।

प्रभाववादी आलोचना का उदाहरण 'नियाज़' फतेहपुरी हैं। उन्होंने १६२२ से एक रिसाला 'निगार' भोपाल से निकालना शुरू किया, जिसे बाद को लखनऊ ले आए तथा अब वहीं से निकालते हैं, और अधिकतर उसीमें लिखते भी हैं। शायरी के विषय में उनके विचार स्पिनगार्न (Spingarn) से मिलते हैं। उनका कथन है : "मिस्टर स्पिनगार्न लिखता है कि नज़्म न अख़लाक़ी होती है न ग़ैर-अख़लाकी, बल्कि वह सिर्फ आर्ट का एक नमूना होती है।" यानी वह शायरी की सामाजिक विशेषता के कायल नहीं हैं तथा उसको केवल सौन्दर्यात्मक वस्तु समझते हैं और अपनी पसन्द को आलोचना की कसौटी समझते हैं।

'कला कला के लिए' के मानने वालों में 'नियाज़' फतेहपुरी हैं और उनकी आलोचना में अधिकतर यही रंग मिलता है।

आगरा-कालिज के भूतपूर्व प्रोफेसर हामिद हसन क़ादिरी पुरानी परम्परा के समर्थक अधिक हैं। उनके विचार से साहित्य में नये अनुभव अधिकतर अच्छे नहीं। वह उस साहित्य को भी अच्छी दृष्टि से नहीं देखते जो साहित्य के लिए ही हो। उनकी राय में साहित्य में सुन्दरता (Asthetics) का महान् स्थान है और शायर का कमाल यही है कि वह ऐसे ठीक और उचित शब्द अपनी कविता में लाए कि उसकी कविता सुन्दर हो। शायर क्या बात कहता है इसका महत्त्व उनके निकट अधिक नहीं।

मौलाना सुलेमान नदवी और अब्दुल माजिद दरियाबादी भी उर्दू-साहित्य के अनुशीलन

और आलोचना में रुचि रखते हैं। इन लोगों पर धार्मिक साहित्य का अधिक प्रभाव है और उर्दू में ज़्यादा काम इनका धर्म-शास्त्र ही से सम्बन्धित है।

इन लिखने वालों के साथ-साथ आलोचकों का एक ऐसा वर्ग था जो पश्चिम से प्रत्यक्ष प्रभाव ग्रहण कर रहा था। इन लोगों ने अफ़लातून से लेकर बाद तक के पाश्चात्य आलोचकों के सिद्धान्तों का उर्दू में अनुवाद किया और साथ ही कुछ अपने विचार भी प्रकट किये। फिर उन भावों से प्रभाव लेकर इन्होंने जो आलोचना लिखी उसका रंग उन लेखकों से भिन्न है जिनके सम्बन्ध में हम ऊपर लिख चुके हैं।

हैदराबाद के डॉक्टर महीउद्दीन 'ज़ोर' ने आठ-दस किताबें प्रस्तुत की हैं, जिनमें हमारे विचार से 'रूहे तनक़ीद' सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसमें उन्होंने जो अध्याय बनाये हैं उनसे इस पुस्तक का अनुमान हो जायगा। वह हैं आलोचना की विशेषता, उसका उद्देश्य, आलोचना की परिभाषा, उसकी आवश्यकता, साहित्य से उसका सम्बन्ध, उसका जन्म आदि। इसके बाद पाश्चात्य साहित्य में अरस्तू से लेकर मैथ्यू आर्नल्ड तक के आलोचनात्मक विचारों की विवेचना की गई है।

डॉक्टर 'ज़ोर' ने लिखा है कि आलोचना को लोग हर ज़रा-सी बेतुकी बात की पकड़ और बुराई खोजना समझते हैं, जो ग़लत है। यह उस कला का नाम है जिसमें खरे और खोटे को परखा जाता है और किसी चीज़ की अच्छाइयाँ तथा बुराइयाँ दोनों का विवेचन करके उसका ठीक स्थान बताया जाता है। उन्होंने आलोचना की इस बहस में अनातोले फ्रान्स, स्विनबर्न, वाल्टर राली, सांत-बाफ़ आदि के विचार बयान किये हैं। डॉक्टर 'ज़ोर' के अपने विचार तो कम ही हैं; उन्होंने अंग्रेज़ी की किताबों को सामने रखकर उनके बयानों को अपने शब्दों में दोहरा दिया है। 'रूहे तनक़ीद' में बहुत से पाश्चात्य समीक्षकों के विचारों का वर्णन किया गया है और इसके कारण यह किताब कुछ उलझ-सी गई है। इसमें गहराई, चिन्तन और उपज की कमी है।

डॉक्टर 'ज़ोर' ने 'रूहे तनक़ीद' १९२७ में लिखी थी। इसके बाद उन्होंने अपनी और किताबें भी प्रकाशित कीं, जिनमें इन्हीं नियमों को सामने रखकर उर्दू की कुछ किताबों पर आलोचना लिखी गई है। इन किताबों की आलोचना नियमों के प्रतिबन्ध के कारण यान्त्रिक होकर रह गई है।

डॉक्टर 'ज़ोर' के बाद हामिदुल्लाह 'अफ़सर' ने भी 'नक़्दुल-अदब' के नाम से समीक्षात्मक नियमों पर एक पुस्तक लिखी। इस किताब के आरम्भ में बड़े लम्बे-लम्बे विवाद किये गए हैं, लेकिन वास्तव में इसका अधिकतर भाग हडसन के 'Introduction to the Study of Literature' और वर्स फोल्ड के 'Judgement in Literature' के भिन्न-भिन्न भागों का अनुवाद या सारांश है।

हैदराबाद के प्रोफ़ेसर अब्दुल क़ादिर 'सरवरी' के लेखों में भी पाश्चात्य प्रभाव पाया जाता है। उन्होंने अलग से आलोचना पर तो कोई किताब नहीं लिखी लेकिन उनकी पुस्तक 'जदीद उर्दू शायरी' (१९२८) के आरम्भ में विशेषतः समीक्षा के सिद्धान्तों की विवेचना है। इसके अतिरिक्त भी उनकी तीन किताबों में उनके भाव मिलते हैं। इन विचारों में पश्चिम का प्रभाव अधिक मिलता है। उन्होंने उर्दू में कथा-साहित्य से सम्बन्धित आलोचना प्रस्तुत की और इसी क्रम में यूरोप के आलोचकों के विचार प्रस्तुत किये; नहीं तो और लोग तो अब तक केवल कविता

ही की चर्चा करते थे।

उर्दू-साहित्य का इतिहास लिखने वालों का भी एक दल है। इसमें कुछ तो पुराने लोग हैं, जिन्होंने 'आबे-हयात' को सामने रखकर केवल उसकी नकल उतारी है। ऐसे लोगों में 'गुले राना' के लेखक अब्दुल हई, 'सैरुल मुसन्निफ़ीन' के लेखक मुहम्मद यहया और 'शैरुल-हिन्द' के लेखक अब्दुस्सलाम हैं। अब्दुल हई का आलोचना से कोई सम्बन्ध नहीं। हाँ, अब्दुस्सलाम पुराने ढंग से आलोचना करते हैं और कवियों के अच्छे-बुरे दोनों पहलू दिखाते हैं। इन लोगों से अलग रामबाबू सक्सेना, एजाज़ हुसैन, नसीरुद्दीन हाशिमी, आग़ा मुहम्मद-बाकर, सय्यद मुहम्मद आदि हैं, जिन्होंने या तो पूरे साहित्य का या किसी विशेष काल का इतिहास लिखा है और इसमें नये तथा पुराने नियमों को मिला दिया है। ये लोग एक-एक युग को लेकर उस समय के कवियों का हाल तथा उन पर आलोचना लिखते हैं और उसमें उन कवियों अथवा लेखकों की विशेषताएँ बयान करते हैं जिनसे उनके पद का अनुमान हो जाता है। मगर उर्दू-साहित्य के आधे दर्जन इतिहास होते हुए भी यह अंग्रेजी की पुस्तकों से घटिया हैं और इस क्षेत्र में अभी उन्नति की अधिक आवश्यकता है।



प्रस्तुत प्रश्न

गिरिजाकुमार माथुर

नई कविता का भविष्य

: १ :

आज हिन्दी की नई कविता उस स्थिति में पहुँच चुकी है जब हमें पिछले चौदह-पन्द्रह वर्षों के उसके विकास और तीव्र आवर्तनों का बारीकी से विश्लेषण और मूल्यांकन करना होगा। हमें देखना होगा कि जिन तत्त्वों को लेकर तेजी से परिवर्तन हुए हैं उनका साहित्यिक और सांस्कृतिक महत्त्व कितना है, हिन्दी-काव्य के विकास में वे सहायक हुए अथवा बाधक, उनके द्वारा नई कविता उस विकास की ऐतिहासिक कड़ी बन सकी या नहीं, इन तत्त्वों में से कौन-से तत्त्व जीवित रह सकेंगे और भविष्य की कविता के बीज साबित होंगे अथवा पिछले पन्द्रह वर्षों की कविता का संक्रान्तिकालीन साहित्य से अधिक कुछ महत्त्व नहीं होगा तथा आगे चलकर वह इतिहास और शोध की सामग्री-मात्र बनकर रह जायगी। सारांश यह कि सन् सैंतीस से जो प्रयोग शुरू हुए और सन् तैंतालीस-चवालीस से आज तक आकर जिनका रूप स्थिर हुआ उनमें भविष्य की कविता का कोई पूर्वाभास भी है या वह तत्कालीन परिस्थिति-जन्य काव्य की एक विशेषावस्था थी जो अधिक दिन नहीं टिक सकी और जैसे आई थी वैसे ही खत्म हो गई। इन सभी मौलिक प्रश्नों पर विचार करना आज आवश्यक है जिससे एक ओर हम नई कविता को अधिक वैज्ञानिक दृष्टि से देखें और दूसरी ओर उन चीजों पर नज़र जमा सकें जिनमें भविष्य की सम्भावनाएँ हैं और जिनके संरक्षण तथा अंगीकरण से हम आगे का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं।

पिछले पन्द्रह वर्षों में किस तरह की कविता हमारे सामने आई है और उसके मूल में कौन-से विशेष कारण रहे हैं, पहले हम इस पर विचार करेंगे। छायावादोत्तर-काल में हिन्दी-कविता में जितनी उथल-पुथल हुई और जिन विविध रीतियों से वह झकझोरी गई उतना आलोडन पहले किसी काल में नहीं हुआ। आरम्भ के अकेले वैयक्तिक प्रयत्नों से लेकर बड़े व्यापक ढंग के सामूहिक प्रयत्न इस काल में हुए। समर्थकों और विरोधियों ने इन नये प्रयत्नों को विभिन्न, विचित्र और तरह-तरह के फैन्सी नाम दिये। हर नये प्रयत्न और प्रयोग को किसी-न-किसी 'वाद' में फिट कर दिया गया। हृदयवाद, अभिव्यञ्जनावाद, भोगवाद, यौनवाद, वस्तुवाद, संकेतवाद, प्रतिक्रियावाद, प्रगतिवाद, अभिनववाद, प्रतीकवाद, प्रयोगवाद, रूपवाद, प्रपद्यवाद

आदि-आदि दर्जनों वादों का हिन्दी में तूफान उठ खड़ा हुआ। हिन्दी के लेखक और आलोचक दोनों ही समान रूप से इसके लिए उत्तरदायी रहे। इतने सभी 'वाद' हिन्दी में अचानक कहीं ऊपर से आ टपके और यह सभी 'स्कूल' ऐतिहासिक परम्परा में अपनी स्थायी जगह बना सके, यह सोचना भूल है। सारे 'वादों' के बवंडर में केवल एक बात स्पष्ट रही कि इन वर्षों में हिन्दी-कविता को विविध तरीकों से बदलने का अथक प्रयत्न किया गया है। ये 'वाद' असलियत में और कुछ नहीं हैं बल्कि जितने नये विषयों को जितने नये तरीकों से लिखा गया और काव्य के विविध पक्षों पर जितने प्रयोग किये गए सबको एक-न-एक नये वाद की संज्ञा दे दी गई। हरेक नई चीज को हिन्दी में 'वाद' कह देने का चलन-सा हो चुका है, 'छायावाद' के नाम से लेकर आज तक के वादों में यही मनोवृत्ति काम करती रही है। फिर इधर का ज़माना तो और भी नारों तथा इश्तहारों का रहा है। धीरे-धीरे नई कविता को गुटों में बाँट दिया गया और उस पर तरह-तरह के लेबिल चिपका दिये गए। कविता को नये रूप में ढालने के लिए जो प्रयत्न और प्रयोग आरम्भिक अवस्था में मुक्त स्वेच्छा से किये गए थे उन्हें बाद में जबरन अलग-अलग कठघरों में खड़ा करने की कोशिश की जाने लगी। गिने-चुने वैयक्तिक प्रयत्न जितने व्यापक और सामूहिक होते गए उतनी ही गुटों की गिनती बढ़ती चली गई। लेकिन परिवर्तन इतनी तेजी से होते जा रहे थे कि इन डिब्बों में नई कविता को समेटे रहना आसान नहीं था। इसलिए कुछ ही दिनों के बाद यह कृत्रिम सीमाएँ चटखने लगीं और नई कविता फूटकर चारों तरफ फैलने लगी। आज नई कविता की यही स्थिति है कि वह गुटों की सीमाओं से छितर-छितरकर फैल रही है, उसकी धाराएँ आपस में मिल रही हैं, और एकबारगी बाँध टूटकर महान् शक्ति से एकसार बहने का वक्त पास आता जा रहा है।

छायावाद-काल के बाद से अब तक के सारे प्रयत्न और परिवर्तन तीन-चार मुख्य विभागों में रखकर देखे जा सकते हैं। पहला वर्ग उन सभी रचनाओं का हो सकता है जिनमें विशेष रूप से नये सामाजिक यथार्थ को पकड़ने का आग्रह रहा है, और जिनका मुख्य प्रेरणा-स्रोत देश-विदेश की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियाँ तथा तज्जनित वर्ग-संघर्ष हैं। इस विभाग में हम उन रचनाओं को भी ले सकते हैं जिनमें उपरोक्त प्रेरणा के विभिन्न रूपान्तर वैयक्तिक और सामूहिक दोनों ही ढंग से प्राप्त होते हैं।

दूसरा विभाग उन रचनाओं का है जिनका प्रेरणा-स्रोत व्यक्तिगत परिस्थितियों से उत्पन्न मानसिक अन्तर्द्वन्द्व है, और जिनकी मुख्य गूँज रोमानी असन्तोष, अनास्था, द्विविधा, सन्देह और सामाजिक अवस्था की 'पैसिव' स्वीकृति रही है। इन रचनाओं का केन्द्र व्यक्तिमूलक रहा है और इसीलिए इन रचनाओं में व्यक्ति-संघर्ष की अधिकतर झलक दिखाई देती है। यह इस बात का सबूत है कि आज के युग का व्यक्तित्व खण्डित है और जो कवि उस खंडितावस्था से ऊपर उठने में विवश होते हैं या उठना नहीं चाहते, या उस अवस्था को स्वीकार किये रहना चाहते हैं जो उनके सामाजिक सम्बन्ध-विशेष और स्थिति-विशेष को निर्धारित करती है, या उनकी तत्कालीन स्थिति को सुरक्षित रखती है, ऐसे कवियों का व्यक्तित्व भी समाजोन्मुखी न होकर वैयक्तिक और एकांतिक हो गया है। इस वर्ग के कवि यद्यपि विशिष्ट समाजवादिता और वर्ग-संघर्ष की सीधी अभिव्यक्ति का विरोध करते प्रतीत होते हैं फिर भी अपने को प्रत्यक्षतः सामाजिकता का विरोधी नहीं कहते।

तीसरा विभाग उन रचनाओं का है जिनमें परिस्थिति-जन्य असन्तोष और उदासी है, जीवन-संघर्ष के कारण थकान, हार......और पस्ती भी अक्सर झलकती है। लेकिन फिर भी सामाजिक चेतना पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इन कविताओं में जीवन के रस और रंग के प्रति मोह दिखाई देता है, इसीलिए इन्सानी जीवन के भविष्य में विश्वास भी। ऐसी रचनाओं में एक विशेष प्रकार का समन्वय नजर आता है जो इस बात का प्रमाण है कि मानवता में गहरा विश्वास रखने वाले ये कवि मौजूदा परिस्थितियों के विरोधी तत्त्वों के बीच समाधान पाने का यत्न कर रहे हैं।

चौथे विभाग में वे सद्यजात रचनाएँ आती हैं जिनमें कवि या तो वादों और संघर्ष-रत विचार-धाराओं से अछूता रहने के प्रयत्न में रोमानी गीतात्मकता की पृष्ठभूमि पर लोकप्रिय (पापुलर) चीजें लिखने का प्रयास करते रहे हैं या ताजगी लाने के लिए प्रकृति के यथातथ्य चित्रण ग्राम लैण्डस्केप, जनपदीय शब्दावली, बोल-चाल की भाषा के प्रयोग और लोक-गीतों के प्रकारों को अंगीकार करके नई कविता में स्थानीय रंग भर रहे हैं। ये कवि परिस्थितियों की कटुता से आँख मिलाते हुए कुछ घबराते प्रतीत होते हैं इसीलिए या तो 'नेचर' की रंगीनी की तरफ़ मुड़ते हैं, ऋतुओं के रसमय परिवर्तनों में नये ढंग और शैली से मन रमाते हैं या यथार्थ के पास पहुँचने की कोशिश में जनपदों के रम्य, विशद और 'डिटेल' से भरे चित्र आँकते हैं। 'डिटेल' देने से ही उनके यथार्थ-बोध की तुष्टि हो जाती मालूम पड़ती है, इसलिए वे इस यथातथ्यता से आगे बढ़कर वर्तमान की विविध भावनाओं तथा समस्याओं से अपने कृतित्व का सम्बन्ध नहीं जोड़ पाते।

नई कविता की ये चारों प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे से कहीं-न-कहीं निकट होते हुए भी एक-दूसरे का खुलकर विरोध करती हुई पिछले पन्द्रह वर्षों से अग्रसर होती जा रही हैं।

इन्हीं कुछ मुख्य दृष्टियों (एप्रोच) से आज की सारी नई कविता देखी-समझी जा सकती है। पिछले पन्द्रह वर्षों में इन विभागों के अन्तर्गत विषय-वस्तु और रूप-विधान दोनों ही प्रकार के नये प्रयत्न और प्रयोग किये गए हैं। अब तक आलोचकों द्वारा बनाये हुए नई कविता के प्रचलित वर्गीकरण से हम मोटे तौर पर यह समझते रहे हैं कि जो रचनाएँ समाजवादी-मार्क्सवादी दृष्टिकोण के साथ सामाजिक आग्रह लेकर चलती हैं वे सब प्रगतिवादी हैं और जिनमें व्यक्तिगत रोमानी भावना की प्रधानता के साथ रूप-विधान के नये प्रयोग किये गए हैं वे सब या तो रूपवादी और प्रयोगवादी हैं और यदि कुछ नहीं तो कम-से-कम प्रतिक्रियावादी तो जरूर ही हैं। ऐसा वर्गीकरण त्रुटिपूर्ण और भ्रामक है।

स्पष्ट है कि इस प्रकार की दृष्टि से नई कविता का सही-सही मूल्यांकन नहीं हो सकता, क्योंकि संक्रान्ति-काल में विशेष रूप से जब कि समाज नये परिवर्तनों के बीच से गुजर रहा होता है तब अधिकांश विचार-धाराएँ एक-दूसरे में मिल-गुँथकर, एक-दूसरे से कमो-बेश प्रभावित होकर चलती रहती हैं। इन धाराओं के विभिन्न रूप और गुण जरूर होते हैं लेकिन वे सब-की-सब पुरानी धारा के ही विरोध में उठती और आगे बढ़ती हैं, इसलिए पुराने और नये के दो पूर्णतया विपरीत ध्रुवों के बीच दर्जनों नये तत्त्व विभिन्न होते हुए भी एक अस्पष्ट और मिली-जुली गति से चलते रहते हैं। परिणामतः उन सब तत्त्वों को निश्चयात्मक रूप से अलग-अलग बाँटकर देखना न सिर्फ गलत है बल्कि खतरे से भरा हुआ है, क्योंकि इन्हीं विभिन्न तत्त्वों के सामञ्जस्य

से नई विचार-धारा का रूप आगे चलकर संगठित और व्यवस्थित होता है। जब वे बीज-रूप में हों या अभी अंकुरित ही हो रहे हों तब उन्हें वादों के छोटे-छोटे घेरों में बाँटकर बाँध देना श्रेयस्कर नहीं है। इस बीच वाली 'फ्लूइड' (fluid) अवस्था की धाराओं के जो तत्त्व जन-समाज के लिए स्वस्थ और कल्याणकारी नहीं होते तथा असल जीवन से जिनका लगाव कम होता है वे कमजोर पड़ते जाते हैं और धीरे-धीरे मुख्य वृन्त से छूटते जाते हैं। और चूँकि विचार-धाराएँ प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली स्थूल चीजों की तरह नहीं होतीं इसलिए कमजोर तत्त्व काफी समय तक अटके रहते हैं। वे एकदम टूटकर न तो गिरते ही हैं न काम ही आते, बल्कि पीले पत्ते की तरह मुख्य सूत्र के साथ हिलगे हुए चलते रहते हैं। समय और परिस्थितियों के शक्तिशाली दबाव के कारण उनका गिरकर विलीन हो जाना अवश्यम्भावी होता है। केवल वही तत्त्व बाकी रह जाते हैं जो उन दोनों के अनुकूल होते हैं। ऐसे सभी तत्त्व भिन्न विचार-दिशाओं से आकर इकट्ठे होते जाते हैं और अन्ततः एक स्पष्ट, शक्तिशाली और जीवन्त विचार-धारा को सामने लाते हैं जो टिकाऊ होती है और स्थायी रूप से आगे की प्रक्रियाओं पर असर डाल सकती है।

नई कविता के आलोचकों और प्रत्यालोचकों ने अब तक काफ़ी संकीर्णता से काव्य की नई प्रवृत्तियों को जाँचा-परखा है और दुनिया के सामने प्रकृत रूप के बजाय विकृत रूप को उभारा है। सन् चालीस से छियालीस के बीच समाजोन्मुखी काव्य-प्रवृत्ति का स्वरूप स्पष्ट हुआ, जो नई कविता में प्रगतिवाद के नाम से प्रतिष्ठित हुई। धीरे-धीरे दूसरी ओर 'प्रयोगवादी' कहलाने वाली प्रवृत्ति स्पष्टतया अलग होकर सामने आई। उसके बाद दोनों प्रवृत्तियों की ओर से आलोचना का एक समूचा युद्ध नई कविता की दिशा, स्वरूप, उद्देश्य, प्रतिपाद्य विषय-वस्तु, काव्यगत मूल्य, मान्यताओं, रागात्मक सम्बन्ध, यहाँ तक कि कवि-कर्म, उपकरण और शब्दों के प्रयोगों तक चल पड़ा।

इन दोनों ही पक्षों के कवि और आलोचक बड़े जोर-शोर और विस्तार के साथ दूसरे पक्ष यानी असलियत में दूसरे प्रकार की रचनाओं के रेशे-रेशे उधेड़कर, अपने तर्क के समर्थन और सबूत में उन रचनाओं से सम्बन्धित या असम्बन्धित चीजें निकालकर यह बताने की कोशिश करते रहे हैं कि दूसरे पक्ष की चीज बिलकुल गलत, अस्वस्थ और अकल्याणकारी है। इसलिए दोनों के मत में ऐसी चीजें लिखकर दूसरा पक्ष हिन्दी-कविता को पीछे हटा रहा है, युग-सत्य का विरोध कर रहा है, साहित्य का अहित कर रहा है, ध्वंसात्मक अराजकता फैला रहा है, गलत वैचारिक रास्ता दिखा रहा है और समाज को बरबाद कर रहा है। बड़े-बड़े तर्क प्रत्येक के समर्थन में पेश किये गए हैं। दोनों युद्ध-रत पक्षों के बीच नई कविता के जो अन्य दो विभाग हमने अभी इंगित किये वे सक्रिय रूप से लड़ाई में भाग न लेते हुए भी दूसरे रूप में इनसे सम्बन्धित रहे हैं। इन विभागों की रचनाओं को भी उपरोक्त तर्क-युद्ध में अक्सर शामिल किया जाता रहा है। जीवन के रस-रंग से मोह रखने वाले, पर साथ ही इंसानी भविष्य में विश्वास रखने वाले कवियों को कभी इस पाली में और कभी उस पाली में खींच लिया जाता है। यदि रचना में मानवता और इंसानी भविष्य की अधिक गूँज हुई तो उसे प्रगतिवादी खेमा अपना कहने लगता है और कभी जब रचना में जीवन का रस और रंग बढ़ गया, 'इंसान' और 'मानवता' कुछ कम हो गई तो वह प्रयोगवादी शिविर में घसीट लिया जाता है। यही हाल चौथे विभाग का भी रहा है। जहाँ बोल-चाल की भाषा में सीधे, सच्चे और खरे विचारों की झलक हुई या गाँवों के जीवन का

कुछ अधिक यथार्थ वर्णन हुआ तो वह पहले खेमे की चीज कही गई और जहाँ रम्य लैंडस्केप-भर रह गया अथवा लोक-गीतों-जैसा रोमानी रंग ज़्यादा उभर आया वहाँ दूसरे तम्बू में वह आ गई।

लेकिन किनारे पर खड़े होकर बारीकी से देखने वाले को यह समझते देर नहीं लगेगी कि दोनों ओर से अपने को सच्चा और दूसरे को झूठा या गलत साबित करने का अथक प्रयत्न कोई बहुत रचनात्मक या कल्याणकारी नहीं हुआ। पिछले सात-आठ साल का यह आपसी तर्क-युद्ध और एक-दूसरे को नीचा दिखाने का यत्न नई कविता को लगभग आत्मरोध के खतरनाक कगार तक ले आया था। आप चाहे किसी खेमे में हों पर यदि आपको इस आलोडन-प्लावन का सही-सही अन्दाजा लगाना है और अच्युत मूल्यांकन करना है तो थोड़ी देर को इस आलोडन से अपने को अलग करना होगा, थोड़ा ऊपर उठकर सर्वशः उसे देखना होगा। इस नजर से यदि हम देखें, तो पाएँगे कि यद्यपि कठिन विरोध पाकर कोई भी चीज ज़्यादा मजबूती से पनपती, बढ़ती और फैलती है; पर हमारी नई कविता में वैसा पूर्णतया नहीं हो पाया। वह फैली तो जरूर पर मजबूती से नहीं, उस शान और गरिमा से नहीं जैसा कि उसे सचमुच बढ़ना, फैलना चाहिए था। पिछले पन्द्रह सालों के बीच हमने कोई महान् कविता का निर्माण कर लिया हो या उसका सूत्रपात ही किया हो ऐसा कुछ नहीं हो सका। इसका कारण आपस का सैद्धान्तिक विरोध नहीं है, क्योंकि ऐसा विरोध कल्याणकर भी हो सकता है, बल्कि वह प्रवृत्ति है जो ठोस काव्य-निर्माण छोड़कर अपने मत-प्रचार के लिए स्पष्टीकरण करते-करते कुत्ता-घसीटन में लग गई और लगभग वहीं लगी रह गई। शायद यही कारण है कि इस समय हिन्दी में नई कविता के आलोचक संख्या में अधिक हैं बनिस्बत ठोस रचयिताओं के। इस कथन का अर्थ यह नहीं है कि किसी नई वस्तु या विचार-धारा के विषय में स्पष्टीकरण, विश्लेषण और मूल्यांकन किया ही नहीं जाना चाहिए, अथवा यह कि हमारी नई कविता पर जहाँ भी जो-कुछ आलोचना के रूप में लिखा गया है वह सब बेकार था और वैसा होना ही नहीं चाहिए था। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि नई चीज का पूरी तरह स्पष्टीकरण होना ही चाहिए ताकि हम उसके स्वरूप को भली भाँति समझकर उसे उतना पूरा अपनाएँ, जितना स्वस्थ और श्रेयस्कर है बाकी जो नहीं है उसको त्याग दें। नये रास्ते की उचित और अनुचित बातों से हम परिचित रहें, उसके खड्ड-खाइयों को देख-समझकर पैर बढ़ाएँ। लेकिन नई कविता पर पिछली समस्त आलोचना की व्यापक दृष्टि से समीक्षा करते हुए हम पाते हैं कि कविता के भविष्य में कोई विश्वास या गहरी आशा दिलाने और हाल के उठने वाले कवियों को स्पष्ट दिशा-निर्देशन के बदले उसने प्रगति और प्रयोग का एक विचित्र गोरखधन्धा सामने खड़ा कर दिया। इसका सबूत यह है कि उठती हुई सद्यजात पीढ़ी फिर से काल्पनिक रोमान और दुःखवाद की ओर झुकती दिखाई दे रही है। पत्र-पत्रिकाओं में आये-दिन प्रकाशित होने वाली नये कवियों की कोई भी रचना उठाकर यह बात साफ तौर से देखी जा सकती है। इन बिलकुल ही नये कवियों के कुछ पहले वाले कवि भी, जो अब धीरे-धीरे अपना स्थान बनाते जा रहे हैं अधिकांश गहरी अनास्था से आक्रांत नजर आते हैं। माना कि इस अनास्था के पीछे बड़े सामाजिक कारण हैं, फिर भी यह बात आँखों की ओट नहीं की जा सकती कि पिछली सारी आलोचना ने स्पष्ट 'नेतृत्व' देकर अनास्था कम करने की अथक कोशिश नहीं की। संकुचित आलोचना-प्रत्यालोचना में ही वह लगी रही। सारांशतः

सामाजिक और साहित्यिक दोनों परिस्थितियों का यह परिणाम हुआ कि उत्तर-छायावाद-काल के जो कवि सामाजिक यथार्थ की ओर तेजी से बढ़कर आये थे वे मिटने लगे, प्रगति-प्रयोग के सन्धि-काल वाले अधिकांश कवि बुझ गए और नई पीढ़ी के अधिकतर कवि दुःखवाद, अनास्था तथा पलायनवाद के शिकार होने लगे। एक ओर सामाजिक समस्याएँ प्रश्न-चिह्न बनी रहीं, दूसरी ओर साहित्यिक विवादों ने सही दिशा-संकेत देने के स्थान पर तत्कालीन वैचारिक गतिरोध उत्पन्न कर दिया। सैद्धान्तिक विरोध का जो दूसरा स्वस्थ तरीका हो सकता था, जिसमें दोनों प्रकार की कविताओं के मेहनत और विस्तार से गुणावगुण देखे जाते, एक-एक कवि को लेकर उसकी पूरी तरह छान-बीन की जाती या कि दोनों पक्ष अपनी-अपनी पुष्टि के निमित्त अपने-अपने ढंग का उत्कृष्ट और महान् साहित्य सोत्साह रचते और सबूत में पेश करते। वह तरीका छोड़ दिया गया। उसे दोनों ही पक्ष भूल गए। यदि वह तरीका अपनाया गया होता तो हम अब तक नई महान् कविता और दो-चार नये महान् काव्यों की नींव खोदकर उसमें ईंट भर चुके होते।

यह कठिन काम अभी बाकी है, जिसे हमें तन तोड़कर करना है। अभी तो पन्द्रह साल में जमीन की पूरी गुड़ाई ह। नहीं हुई, जिस पर नई कविता की विराट् खेती क्षितिज-से-क्षितिज तक लहलहाती उठेगी। अभी तो जमीन ही सँवरनी बाकी है। पन्द्रह साल पहले हम एक साथ गेंती-कुदाल लेकर काव्य-भूमि को नये सिरे से खोदने खड़े हुए थे। खुदाई शुरू करते ही बीच में इस बात पर झगड़ने लगे कि जमीन किसकी रहेगी और फसल किसकी उगेगी। जरा मेहनत करते, भूमि को एकसार बनाते, शक्तिशाली बीज डालते और फसल उगने तक प्रतीक्षा करते, फिर जब वह उगती तब प्रत्यक्ष हो जाता कि कौन-से बीज उगे, कौन-से मिट्टी में मिल गए। समय अपने ऐतिहासिक विकास के थपेड़ों से कमजोर बीजों को खुद खत्म कर देता, शक्तिशाली और कल्याणकारी बीज ही उगते। हाँ, उस तरह के मजबूत बीज डालते जाना हमारा उत्तर-दायित्व था। इसलिए अब कम-से-कम इतना ही साथ बैठकर देख लिया जाय कि हमने जो-कुछ अब तक भला-बुरा किया उसका नतीजा क्या है और उसमें भविष्य के लिए कुछ रास्ता नजर आता है या नहीं। आज ऐसे मूल्यांकन के लिए सही वातावरण भी उपस्थित हो गया है। दलीय आलोचना-संग्राम अब करीब-करीब नहीं के बराबर रह गया है। दोनों ही पक्ष या तो यह समझ चुके हैं कि जितने तीर छोड़े जा सकते थे वह छोड़ दिये गए और अब कुछ नया कहने को नहीं रहा या फिर थककर अपनी गलती समझ रहे हैं या यों कहना चाहिए कि परिस्थितियों के ऐतिहासिक विकास और दबाव के कारण वह एक-दूसरे से स्वतः आकर्षित होकर, अन्यमनस्क होते हुए भी, एक-दूसरे के क्रमशः निकट आते प्रतीत होते हैं। इतना अवश्य है कि जहाँ इस तर्क-युद्ध ने एक तात्कालिक गतिरोध पैदा किया वहाँ विचारों का मन्थन भी खूब किया। कम-से-कम चेतन और तटस्थ कृतिकारों का उससे भला ही हुआ, क्योंकि विपक्षी दल की काट करने के लिए जितने ही अधिक विस्तार से तर्क दिये गए उतनी ही खुद उस पक्ष की असलियत खुली, उसके स्वरूप पर से ऊपरी घूँघट हटे, उसके लक्ष्य और उद्देश्य ज्ञात हुए, साथ ही उन दोनों के मर्म-स्थल और कमजोरियाँ तथा अब तक के अज्ञात और सम्भावित गड्ढे नजर के सामने आ गए। इस पिछले मन्थन से आज जो स्थिति पैदा हुई है वह एक सन्तुलित और यथातथ्य मूल्यांकन के लिए अनुकूल है, और आज ही वह पड़ाव आया है जिस बिन्दु पर खड़े होकर हम अपनी सारी सम्भावनाओं को समझते हुए आगे देख सकते हैं, भविष्य में झाँक सकते हैं।

: २ :

नई कविता के प्रादुर्भाव में कौन-कौन-से कारण थे इस पर अब तक आलोचक काफ़ी विचार कर चुके हैं। आज इसे सभी स्वीकार करते हैं कि नई कविता छायावाद के काल्पनिक रोमान, व्यक्तिवादी निराशा और आध्यात्मिक पलायन की प्रतिक्रिया बनकर आई थी। सन् तीस से पैंतीस तक जो सामाजिक, राजनीतिक और वैचारिक परिवर्तन हमारे देश के क्षितिज पर उदित हो रहे थे उन्हें यहाँ ध्यान में रखना आवश्यक है। साम्राज्यवाद के प्रति विरोध और विद्रोह का रूप सुधार और क्रान्ति के दो भिन्न बिन्दुओं का एक समन्वय लेकर शुरू हुआ था। सामाजिक चेतना को व्यापक रूप से जाग्रत करके भी वह उन प्रश्नों का उस समय तक कोई हल नहीं दे पाया था। राष्ट्रीय आजादी का अहिंसात्मक आन्दोलन अभी सफल नहीं हुआ था और साम्राज्यवादी भीषण दमन ने अपना क्रुद्ध फन कुछ और फैला दिया था। संसार-व्यापी मन्दी और आर्थिक संक्रान्ति से बड़े-बड़े देशों की चूल ढीली हो रही थी। बेकारी ने दुनिया को दबोच रखा था, बड़े-बड़े शिक्षितों को नौकरी तथा व्यवसाय मिलना दूभर था। ग्रेजुएट और पोस्ट ग्रेजुएट पच्चीस-तीस रुपये माहवार की नौकरी ढूँढते फिरते थे और वह भी मिलती न थी। आर्थिक संकट से कारखाने चौपट हो गए, औद्योगिक हड़तालें हुईं और देशी पूँजीपति राष्ट्रीय आन्दोलन से तटस्थ होने लगे। उस स्थिति ने समाज में एक भयावह निराशा फैला दी। साहित्य में उसके परिणामस्वरूप घोर मुर्दनी, पस्ती, पराजय, भ्रम, मृत्यु-उपासना, रुग्ण रोमान, क्षणग्रस्त कुण्ठा और अहंवाद की कालिमा छा गई। उत्तर-छायावाद-काल में इसी 'डिकेडेन्स' के प्रत्यक्ष दर्शन हमें होते हैं। 'बच्चन', नरेन्द्र और 'अंचल' की तत्कालीन रचनाएँ इसका प्रमाण हैं। रोमानी विद्रोह के कवि और अधिक तेजी से आत्मचिन्तन, अध्यात्म तथा दर्शन की ओर मुड़ गए थे। 'नवीन'-जैसे विद्रोह के कवि "आज खड्ग की धार कुण्ठिता, है खाली तूणीर हुआ; विजय-पताका झुकी हुई है, लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ" लिखने पर विवश हो गए थे। राष्ट्रवादी कवि भारत के प्राचीन इतिहास के गौरव की याद करके वर्तमान काल की दुर्दशा पर आँसू बहा रहे थे। 'दिनकर' की सन् पैंतालीस में प्रकाशित 'रेणुका' में यही हाहाकार उतरा था।

लेकिन उत्तर-छायावाद-काल की इस पस्ती और पराजय के साथ ही एक दूसरी विचारधारा का उदय होना आरम्भ हो गया। देश की आर्थिक और राजनीतिक अवस्था में अन्तर्निहित अन्तर्द्वन्द्व अब स्पष्टतर होते जा रहे थे। देशी पूँजीवाद ने अपनी जड़ें जमा ली थीं और साम्राज्यवाद तथा सामन्तवाद से उसका गठबन्धन हो रहा था। धीरे-धीरे राजनीति में समाजवादी विचार-धारा पनपने लगी और सन् चौंतीस में कांग्रेस-समाजवादी दल की स्थापना हुई। साहित्य में भी इस नवीन सामाजिक दृष्टिकोण का असर पड़ा। इसके साथ ही रवीन्द्रनाथ के प्रभाव से जिस मानवतावादी दार्शनिकता, सामाजिक न्याय, विश्व-प्रेम, अन्तर्राष्ट्रीयता, पूर्व-पश्चिम के अध्यात्म और भौतिकता के समन्वय का वातावरण वैचारिक जगत् में फैला था उसे लेकर कुछ कवि आगे बढ़े। समाजवाद ने सामाजिक न्याय का एक नया रास्ता दिखाया था, दूसरी तरफ गांधीवाद ने रूढिग्रस्त मानव-आत्मा के संस्कार का। इन्हीं दोनों का मानवतावादी आधार लेकर श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने छायावादी विषय-वस्तु छोड़कर 'युगान्त' की रचना की और नवमानव का प्रथम अभिनन्दन किया। 'युगान्त' की रचनाओं में इस मानवतावादी समन्वय का रूप स्पष्ट देखने को मिलता है।

'युगान्त' की रचनाएँ सन् चौंतीस से छत्तीस के बीच की हैं। पुस्तक का प्रकाशन सन् छत्तीस में हुआ था। उसके बाद पन्तजी की 'युगवाणी' में संग्रहीत रचनाएँ सन् सैंतीस-अड़तीस के बीच पत्रों में प्रकाशित हुईं, विशेष रूप से 'रूपाभ' में, जिसका जिक्र हम आगे चलकर करेंगे। 'युगवाणी' सन् उन्तालीस में प्रकाशित हुई थी। इसमें पन्तजी के अनुसार युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न किया गया था। जिस 'युग की मनोवृत्ति' के मिलने का संकेत पन्तजी ने इसकी भूमिका में किया था वह इसमें एक विशिष्ट रूप में देखने को मिलती है। 'युगवाणी' में नवमानवता, साम्राज्यवाद, धनपति, मध्यवर्ग, कृषक, श्रमजीवी, मार्क्स आदि विषयों के साथ समाजवादी-गांधीवादी दृष्टिकोण का समन्वय नजर आता है। नई कविता की समाजोन्मुखी धारा, जो आगे चलकर प्रगतिवाद कहलाई, उसके प्रथम सोपान में 'युगवाणी' का प्रमुख स्थान स्वीकार किया जाना चाहिए।

नये परिवर्तन के प्रथम चरण में इस प्रकार मानवतावाद का तत्त्व सबसे पहले आया जो कहीं मार्क्स के समाजवाद की ओर उन्मुख था, कहीं सीधा प्रकृतवादी यथार्थ की ओर। सन् चौंतीस से उन्तालीस के बीच कितने ही अन्य कवियों में यह नवीन मानवतावाद दृष्टिगोचर होता है। ऐसे कवियों में 'निराला', 'नवीन', 'दिनकर', भगवतीचरण वर्मा और सियारामशरण गुप्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें 'निराला' का स्थान भिन्न है, क्योंकि उनका छायावादकालीन रूढ़ियों से विद्रोह अब व्यंग्य और विद्रूप में बदल रहा था। राष्ट्रवादी विचार के कवियों में मानवतावाद आवेग से उठकर सामने आया था यद्यपि उसमें पुराना व्यक्ति-विद्रोह भी मौजूद था :

नवीन :

लपक चाटते जूठे पत्ते
जिस दिन मैंने देखा नर को
उस दिन सोचा क्यों न लगा दूँ
आग आज इस दुनिया-भर को
—'भूठे पत्ते'

दिनकर :

गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो
लगे आग इस आडम्बर में
वैभव के उच्चाभिमान में
अहंकार के उच्च शिखर में
स्वामिन् अंधड आग बुला दे
जले पाप जग का क्षण-भर में
—'तांडव'

भगवतीचरण वर्मा :

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे
कुछ पाँच कोस की दूरी पर
भू की छाती पर फोड़ों से
हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर

पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ
नारियाँ जन रही हैं गुलाम
पैदा होना फिर मर जाना
यह है लोगों का एक काम।

—'भैंसागाड़ी'

भगवतीचरण वर्मा ने जीवन की असफलता और सियारामशरण गुप्त ने दलित वर्ग की करुणा का चित्र उपस्थित किया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावाद की अध्यात्मपरक और राष्ट्रवादी दोनों प्रवृत्तियाँ मानवतावाद की ओर इस काल में उन्मुख हो गई थीं। तीसरी प्रवृत्ति स्वच्छन्दता और रूढ़ि-विद्रोह की थी जिसके परिणामस्वरूप माध्यम और प्रकारों में उथल-पुथल की गई थी और जिसका प्रतिनिधित्व 'निराला' जी करते थे। सन् पैंतीस के बाद की उनकी कविताओं में नये परिवर्तन के धक्के लग रहे थे। छन्द, उपमान आदि के अपने ताज़े प्रयोगों में 'निराला' भी नवीन आशय लाने का यत्न कर रहे थे, यद्यपि वे समाजवादी वर्ग-भावना तथा यथार्थवाद को स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पाते थे। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक की प्रथम कविता-पुस्तक 'मंजीर' (रचना-काल १६३४-३६) की भूमिका में उन्होंने सन् चालीस के प्रारम्भ में स्पष्ट लिखा था:

"इस समय गांधीवाद, समाजवाद, प्रगतिवाद और अत्याधुनिकवाद का हिन्दी-साहित्य में तूफान उठा हुआ है। काव्य में इसके धक्के तेज़ी से लग रहे हैं। बहुतों का ख़याल है कि कुल छायावादी मकान उड़ गए। मैं ऐसे प्रत्यक्षदर्शियों को पहले भी देख चुका हूँ, इस समय भी देखता हूँ। पहले तो यह कहता हूँ कि जो छायावादी थे उनके मकान थे ही नहीं, फलतः तूफान से कायावादी ही उड़े हैं। उन्हें पहले भी छायावाद का ज्ञान नहीं था। इस समय भी उड़ते फिरने वाली हालत में बेहोशी के कारण नहीं। उदाहरण के लिए पहले जीवन की सार्थकता को लेता हूँ। 'जीव' का 'जीवत्व' या 'जीवन' दार्शनिक दृष्टि से बहुत छोटी चीज़ है। उसकी प्राप्ति या बढ़ने की प्रार्थना अज्ञता है। छायावाद इसी सत्याश्रय से निर्गत और इसीमें पर्यवसित है।

"इसके बाद धकापेल, वीर-भाव की रेलगाड़ी चलने लगी, एक-से-एक बढ़कर कर्कश शब्द, भाव का पता नहीं····जो कलम की नोक से निकल गया वही भाव। कला? जिस तरह भी कहिए कला है। दूसरी तरफ से प्रगतिशील आ गए, गांधीवादी जहाँ नाक सिकोड़कर दया-प्रेम-करुणा का पाठ पढ़ा रहे थे वहीं समाजवादी बिना हिचक के टाट उलटने लगे। देखते-देखते हिन्दी-साहित्य में इस तरह काव्य-साहित्य में भी अकाल ताण्डव शुरू हो गया।

"हमारे काव्य-साहित्य में जो प्रश्न हल होने को हैं वे एक तरह के नहीं। हमारा समाजवाद भी एक सीमा में ही बँधा है, क्योंकि देश परतन्त्र है। समाजवाद लिया जाय तो प्रश्न उठता है अध्यात्मवाद को कहाँ जगह मिलेगी? नग्नता को प्रश्रय देते हैं तो देश के सन्त-चरित्र सामने आकर खड़े हो जाते हैं। नये स्वरों की चीज़ अलापी जाती है तो पुराने गाते राग-रागिनियाँ देख देखकर मुस्कराते रहते हैं।"[1]

१. निराला: ('मंजीर' की भूमिका में)।

'निराला' जी के इस वक्तव्य से सन् चालीस के आस-पास का उनका दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। उन दिनों 'निराला' जी का मन 'ऑडेन' से विशेष प्रभावित था। नया यथार्थ उन्हें भोंड़ा, कर्कश, नग्न और कलाहीन ज्ञात होता था, यथार्थ जीवन के उत्कर्ष की कामना अज्ञता। नये स्वरों की चीज पर पुरानी राग-रागिनियों का व्यंग्य से मुस्कराना उनकी आगामी कविताओं के व्यंग्य विद्रूप का पूर्वाभास था, लेकिन यथार्थ के प्रति यह उदासीनता बहुत देर न रह सकी। उनकी सामाजिक चेतना इसी व्यंग्य विद्रूप के माध्यम से निःसृत हुई। सन् चालीस में उन्होंने 'कुकुरमुत्ता' लिखा; जिसे उन्होंने निम्न वर्ग के प्रतीक के रूप में देखा था और उच्च वर्ग को गुलाब के रूप में। 'कुकुरमुत्ता' का प्रकाशन सन् बयालीस में हुआ। इस काल में उनकी जो व्यंग्यात्मक रचनाएँ हुईं उनमें एक ओर वर्ग-भावना का छायाभास नजर आता है, दूसरी ओर नवीन यथार्थ के ऊपर ही कटाक्ष और व्यंग्य भी। इन रचनाओं में यथार्थ का नग्न स्वरूप हमारे सामने आता है। 'गर्म पकौड़ी', 'प्रेम-संगीत', 'खजोहरा', 'रानी और कानी', 'मास्को डायलाग्ज'-जैसी रचनाएँ इसका प्रमाण हैं। इन कविताओं को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे कवि ने यथार्थ का अर्थ भोंड़ापन, फूहड़पन, कुरूपता, नग्नता, कर्कशता समझा है और यथार्थ को पकड़ने के यत्न में उसने यही चित्रित किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ इसी प्रकार की नग्नता, कुरूपता, कर्कशता राष्ट्रीय धारा के कवियों में भी प्रस्तुत सन्धि-काल में आई थी और इसी के साथ व्यक्तिवादी कुण्ठा भी सम्मिलित थी।

अन्य कवियों की भाँति 'निराला' का यह अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट है। वह छायावादकालीन व्यक्तिवादी विद्रोह की भावना ही थी जो एक ओर तो पुरानी परम्पराओं को तोड़-फोड़कर माध्यमों के नये-से नये प्रयोग करती थी, दूसरी ओर सामाजिक यथार्थ को पूरी तरह स्वीकार भी नहीं करना चाहती थी। 'पन्त' जी में यह अस्वीकृति भौतिकता का आत्मसंस्कार के साथ समन्वय करने के यत्न में दिखाई देती है, 'निराला' में ऐंद्रियता के आग्रह और यथार्थ पर बढ़ते हुए व्यंग्य-विद्रूप में। पर दोनों ही में इस आंशिक अस्वीकृति के बावजूद मानवतावाद के तत्त्व पर्याप्त मिलते हैं। सन् उन्तालीस तक निराला 'दान', 'एडवर्ड अष्टम', 'तोड़ती पत्थर', 'वन बेला', 'कुछ न हुआ न हो', 'नर्गिस', 'खुला आसमान', 'किसान की बहू की आँखें', 'नयनों के डोरे लाल'-जैसी कविताएँ लिख चुके थे। इन सबमें नवीन युग की झलक दिखाई दे जाती है। सामाजिकता का आधार यहाँ सीधी मानवता है और दीन-दुखियों के प्रति सहानुभूति। सन् इक्कीस में लिखी गई 'भिखारी' नामक प्रसिद्ध रचना से लेकर 'वह तोड़ती पत्थर' तक 'निराला' जी में मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रमाण मिलता है। परिवर्तन-काल तक आते-आते 'निराला' जी की कविता के तीन मुख्य तत्त्व स्पष्ट हो जाते हैं—एक तो माध्यम के नये प्रयोग और फलतः रूप-विधान का प्रसार, दूसरे ऐंद्रियता, तीसरे व्यक्तिमूलक कुण्ठा के साथ सामाजिक व्यंग्य। इन तीन तत्त्वों में से केवल प्रथम तत्त्व का प्रभाव आगे की कविता पर अधिक पड़ा, शेष दो का तात्कालिक महत्त्व ही रहा। आगे चलकर प्रयोगशील कवियों ने 'निराला' जी से प्रेरणा पाकर ही रूप-विधान में सचेष्ट परिवर्तन किये।

इन पाँच-छः वर्षों के बीच छायावादी डिकेडेन्स की एक और प्रवृत्ति दृष्टि में आती है जिसमें चरम निराशा, मृत्यु-उपासना और रुग्ण-रोमान की प्रधानता थी। साथ ही छायावाद की सीमाओं में रहते हुए भी भाषा का एक नयापन इस प्रवृत्ति की विशेषता थी। कविता

की भाषा को सरल और बोल-चाल के निकट लाने में बच्चन की काफी बड़ी देन है। 'बच्चन' की तत्कालीन लोकप्रियता का यही राज़ था। यह केवल इस बात का सबूत है कि किस प्रकार उस समय का साधारण पाठक या श्रोता भावनाओं को अपनी यथार्थ भाषा में व्यक्त होते देखने के लिए तरस रहा था। इस प्रवृत्ति का प्रतिनिधि रूप 'बच्चन', नरेन्द्र और 'अंचल' की कविताओं में मिलता है। 'बच्चन' के लोकप्रिय संग्रह 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त-संगीत' के गीतों में मरण-भावना का प्राबल्य है। उसका व्यक्तिगत कारण अवश्य है, किन्तु मृत्यु-उपासना को यहाँ एक दर्शन के रूप में स्वीकार किया गया था। "एक मुर्दा रो रहा था बैठकर जलती चिता पर" यह पंक्ति केवल किसी एकान्त घटना की प्रतिक्रिया न होकर इस समस्त गीति-धारा की सार-प्रतीक है। मुर्दनी, रुदन और दहन का वातावरण इन कविताओं को समोये हुए है। अपने काव्य-संग्रह 'प्रवासी के गीत' (प्रकाशित १९३९) में नरेन्द्र ने काव्य की इस क्षयग्रस्त स्थिति और तत्कालीन कवि की चरम विवशता का स्पष्टीकरण किया था। उनकी भूमिका की ये पंक्तियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं :

"'प्रवासी के गीत' में संग्रहीत रचनाएँ आधुनिक हिन्दी-गीति-काव्य के उत्तरार्ध के अन्तर्गत आती हैं। पूर्वार्ध के कवि प्रधानतया सौन्दर्योपासक और असीम तथा अनन्त के अनुरागी थे। सौन्दर्योपासकों में से कुछ की रुचि काव्य की प्रकार-योजना में नयेपन तथा विलक्षणता की ओर भी गई।"

प्रकार-योजना अर्थात् रूप-विधान में नवीनता लाने का यत्न और इस काल में उसका प्रारम्भ एक महत्त्वपूर्ण बात है। नरेन्द्र ने संक्रान्तिकालीन सामाजिक अवस्था और तज्जनित निराशा तथा असन्तोष का संकेत 'प्रवासी के गीत' की भूमिका में किया था और अपनी पुस्तक को मानसिक क्षयग्रस्त युवक कवि के गीतों का संग्रह कहा था।

यह भावना तत्कालीन परिस्थिति का पर्याप्त स्पष्टीकरण करती है। एक ओर इस काल की व्यक्तिवादी निराशा चरम 'फ्रस्ट्रेशन' और ह्रासोन्मुख भावना हमें दिखाई दे जाती है, दूसरी ओर यह भी ज्ञात होता है कि जिस प्रकार उस समय के सौन्दर्योपासक कवि रूप-प्रकारों के लिए यत्नशील हो गए थे। नरेन्द्र की ही रचनाओं में हमें इसका प्रमाण मिलने लगता है। प्रधानतया गीत-कवि होते हुए और फलस्वरूप सधी-जमी परिपाटीगत रूप-योजना को स्वीकार करते हुए भी उनकी रचनाओं में नये प्रयोगों के उदाहरण मिलते हैं। यह प्रयोग उपकरण, भाषा, छन्द और उपमान चारों दिशाओं में परिलक्षित होते हैं। एक-दो उदाहरण देना उचित होगा :

नवीन छवि-चित्र :

गृहिणियों के हेतु ले धन-धान्य आती
हो नगर की ओर जब गोधूलि वेला
देख पाओ यदि कदाचित् क्षितिज-तट पर
कहीं मिटता धूल का बादल अकेला।

फिर धधक बुझ जाय जब दिन की चिता भी
अस्थि-फूलों से खिलें जब शून्य नभ में कुन्द तारक
व्यर्थ भर लाना न लोचन।

नये उपमान :

जग में तो पूर्ण पुष्प-सी यह पूनो, मन आज खिन्न क्यों,
प्रिय भग्न हृदय मेरा देखो तरु छाया छिन्न-भिन्न ज्यों।

पूर्ण पुष्प-सी पूनों की उपमा में एक ताजगी है, साथ ही कविता के छंद को स्वीकृत परिपाटी के बाहर खींचने का प्रयत्न किया गया है। छंद सोलह मात्रा का है जो उच्चरित (एक्सेण्टेड) प्रथमाक्षर से आरम्भ होता है। टेक की पंक्ति को छोड़कर बीच वाले चार-चार पंक्तियों के बंद सोलह मात्रा के तथा उपरोक्त वजन पर लिखे गए हैं, केवल मात्राएँ दुगुनी रखी गई हैं....

सौंदर्य सिंधु में सूनेपन की प्रतिमा-सी शशि-सी नभ में,
तुम, मैं भूपर के विजन विपिन के तरु-सा ही अपलक उदास।

रीत्यनुसार टेक की पंक्तियाँ भी इसी वजन की होनी चाहिए थीं, पर वह भिन्न हैं। उनमें पहले तो दो मात्राओं की कमी है, दूसरे लय-गति का स्पष्ट अन्तर भी है। प्रचलित छंदों की कैद से छूटने का इसमें प्रयास किया गया है।

शैली और प्रकार-योजना :

१. कल दिन में मैं कमरे में था, था चित्र तुम्हारा सन्मुख
क्षण-भर को तो दिन-भर के सब था भूल गया श्रम-सुख-दुख,
सहसा सफेद दीवारों पर आई हल्की-सी छाया
तुम द्वार खड़ी हो, प्राण, तड़ित-सा ध्यान तुरत यह आया,
पर मुड़कर जब देखा बाहर फिर धूप विहँसकर निकली
मेरे मन में सुधि आई थी, छाई थी रवि पर बदली।[1]

२. तुम्हें याद है क्या उस दिन की
नए कोट के बटन-होल में
हँसकर प्रिये लगा दी थी जब
वह गुलाब की लाल कली।
फिर कुछ शरमाकर, साहस कर
बोली थीं तुम, इसको यों ही
खेल समझकर फेंक न देना
है यह प्रेम-भेंट पहली।
कुसुम-कली वह कब की सूखी
फटा ट्वीड का नया कोट भी
किन्तु बसी है सुरभि हृदय में
जो उस कलिका से निकली।[2]

इन उद्धरणों का मिलान यदि आज की प्रयोगशील कविता से किया जाय तो बहुत अधिक अन्तर नजर नहीं आयगा। सिर्फ आज भावुक उदासी की जगह उलझाव कुछ अधिक गहरा है,

१. जुलाई १९३७।
२. फरवरी १९३७।

सूक्ष्मता और तीखापन भी अधिक, साथ ही बौद्धिकता भी कुछ विशेष। प्रस्तुत कवितांश उद्धृत करने का उद्देश्य केवल यही है कि हम अपनी नई कविता को बीच वाली कड़ियों के सन्दर्भ में देख सकें। आगे चलकर जब इस निराशा, पराजय, दुःखवाद, नियतिवाद और अहंवाद के साथ छन्द और माध्यम के प्रयोगों का गठबन्धन हुआ तब वह उस नाम से जानी गई जिसे हम अब प्रयोगवाद कहने के आदी हो गए हैं, यद्यपि समस्त प्रयोगशील कविता के लिए यह परिभाषा नहीं दी जा सकती।

सन् चौंतीस से चालीस के बीच इस प्रकार तीन-चार मुख्य तत्त्व उभर आए थे यानी एक तो मार्क्सीय विचार-धारा का प्रारम्भिक समन्वित रूप, दूसरा मानवतावाद, तीसरे संक्रांतिजन्य असन्तोष और अहंवाद, जो एक ओर माध्यमों के प्रति व्यक्ति-विद्रोह में प्रकट हुआ और दूसरी ओर रुग्ण रोमान, अस्वस्थ ऐंद्रियता और चरम निराशायुक्त गीतात्मकता का रूप रखकर आया। इन्हीं तत्त्वों के विभिन्न रूपान्तर हमारी नई कविता में अब तक विद्यमान हैं। मार्क्सीय समन्वययुक्त सामाजिक दृष्टिकोण परिवर्द्धित और विकसित होकर वर्ग-संघर्ष-प्रधान कविता में उतरा; जिसमें 'निराला' के छन्द और प्रकार के प्रयोगों को भी आगे बढ़ाया गया और छंदोबद्ध योजना में माखनलाल, 'नवीन', 'दिनकर'-जैसे राष्ट्रीय धारा के कवियों की प्रवहमान (ड्राइवयुक्त) बोलचाल की शैली भी अपनाई गई। यथातथ्य मानवतावादी 'एप्रोच' विकसित होकर यथार्थ से अधिकाधिक सम्बद्ध हुआ और साधारण जन के सुख-दुःख, आशा-विश्वास को लेकर मानवतावादी दृष्टिकोण में बदला। संक्रांतिजन्य अहंवाद और 'फ्रस्ट्रेशन' व्यक्ति-विद्रोह की नींव पर माध्यमों के नये प्रयोगों से उलझा और आगे बढ़कर उसने 'फ्राइड' से नाता जोड़ा। या यों कहना चाहिए कि व्यक्तिमूलक समस्याओं का समाधान फ्राइडवादी मनोविश्लेषण द्वारा खोजना आरम्भ किया। दुःखवाद, नियतिवाद और ऐंद्रियता-प्रधान गीतात्मकता रोमानी ढंग के नये गीत-प्रयोगों में परिवर्तित हुई और लोक-गीतों के छंद, लय तथा स्थानीय रंग लेकर सामने आई। अन्तिम दोनों प्रवृत्तियों का एक दूसरा मिश्रित रूप इधर की कुछ ताजी रचनाओं में मौजूद है जिनमें अनास्था का तत्त्व प्रधान है। दो महायुद्धों के विनाशकारी प्रभाव से विदेशों की विचार-धारा में अनास्था का अवतरण हुआ था। टी० एस० इलियट के 'वेस्टलैंड' और 'हालोमैन' से लेकर सार्त्र के अस्तित्ववाद की पीड़ा तक जीवन के प्रति इसी अनास्था से निःसृत हुई। हिन्दी-कविता की यह नई प्रवृत्ति भी इलियट और सार्त्र के विचारों से मेल खाती है।

: ३ :

हमने अब तक यह देखा कि छायावादी परिपाटी के ह्रास-काल में किस प्रकार तात्त्विक परिवर्तन हुए जिससे हिन्दी-कविता में एक नया मोड़ आया। हमने यह भी देखा कि नई कविता अब तक किन-किन मंजिलों से होकर गुजरी है और आज ही मुख्य प्रवृत्तियाँ संधि-काल में किस तरह बीज-रूप या पूर्वरूप में मौजूद थीं। विभिन्न तथ्यों से यह भी प्रत्यक्ष है कि सन् पैंतीस से सैंतीस के बीच पुरानी धार ने मोड़ खाया और सैंतीस के बाद वह स्पष्ट रूप से उभरने लगी। 'रूपाभ' का प्रकाशन सैंतीस से शुरू हुआ था। उस समय कितने ही नये कवि सामने आये थे। 'युगवाणी की लगभग सारी कविताएँ 'रूपाभ' में प्रकाशित हुईं, साथ ही नरेन्द्र की नई रचनाएँ, 'बच्चन' के नये गीत, रामविलास शर्मा के सानेट तथा लैंडस्केप, शमशेर बहादुरसिंह के

प्रतीक चित्र और मुक्तगीत, वीरेश्वरसिंह के ग्राम-चित्र, केदारनाथ अग्रवाल की कतिपय रचनाएँ और भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाड़ी' 'रूपाभ' में प्रकाशित हुई थीं। और भी कुछ नये कवि थे जो 'पन्त' जी के कथनानुसार उस काल में उदय हुए थे, पर अब बहुत दिनों से अस्त हो चुके हैं। 'रूपाभ' का दृष्टिकोण अधिकांश रूप से सामाजिक यथार्थ का था। उसमें मार्क्स का प्रभाव गांधीवादी सांस्कृतिक चेतना के साथ मिलकर चला था। सन् उन्तालीस के लगभग 'रूपाभ' बन्द हुआ। इसी बीच फ्राइडवादी मनोविश्लेषण का तेजी से हिन्दी-साहित्य पर असर होने लगा, विशेष रूप से व्यक्तिवादी लेखकों पर जिन्हें व्यक्ति-समस्याओं का उद्गम मानसिक वर्जनाओं में नजर आया और उन्हें लगा कि मानसिक कुण्ठाओं और 'कम्प्लेक्सेज' का परिष्कार ही सारी भौतिक समस्याओं का समाधान है। यौन-सम्बन्धों पर आधारित इस सिद्धान्त में एक थ्रिल थी, रोमांस और रोमांच दोनों ही थे। प्रणय, ऐन्द्रियता और अहं की तुष्टि उसमें थी, इसलिए जिन कवि-लेखकों का प्रेरणा-स्रोत वहाँ था वह मनोविश्लेषण की ओर तीव्रता से झुके। सन् उन्तालीस में नरोत्तमप्रसाद नागर के सम्पादकत्व में एक पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ था जिसका नाम था 'उच्छृङ्खल'। इस पत्र का उद्देश्य मनोविश्लेषण के अस्त्र द्वारा एक साहित्यिक सनसनी मचाना था। हिन्दी के लिए फ्राइड के सिद्धान्तों की साहित्य में अवतारणा उस समय नई चीज थी। छायावादी प्रणय-केलि के रहस्यात्मक प्रतीकों का पर्दा उठाकर यौन-सम्बन्धों को उनके प्रकृत, नग्न स्वरूप में प्रदर्शित कर देना उस समय 'सेन्सेशन' की बात थी। यद्यपि 'उच्छृङ्खल' का महत्त्व या स्थान साहित्यिक इतिहास में नहीं के बराबर है और आज उसका कहीं उल्लेख तक नहीं मिलता फिर भी वह सन्धि-काल की एक विशिष्ट प्रवृत्ति का परिचायक तो है ही। रामविलास शर्मा की कई चीजें इस पत्र में निकली थीं और केदारनाथ अग्रवाल की 'देवताओं की आत्महत्या', 'ग्राम लैंडस्केप' आदि उसमें प्रकाशित हुए थे। अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी इस समय नये ढंग की रचनाएँ निकलने लगी थीं। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक की प्रयोगात्मक कविताएँ, मुक्तछन्द और नये ढंग के गीत-प्रयोग प्रकाशित हो रहे थे। प्रभाकर माचवे के सानेट व्यंग्य-चित्र और 'गारे हरवाहे, दिलचाहे वही तान'-जैसे ग्राम-गीत दिखाई देने लगे थे। अड़तीस से लेकर चालीस तक कितने ही नये कवि काव्य-क्षितिज पर उदित हुए। सन् चालीस में 'पन्त' जी की रोमानी भावना सामाजिक यथार्थ को साथ लेकर नये छन्द और माध्यमों द्वारा 'ग्राम्या' में संग्रहीत होकर आई। 'ग्राम्या' की कविताएँ उन्तालीस के अन्त से चालीस की फरवरी के बीच लिखी गई थीं। हमारी राय में 'ग्राम्या' 'पन्त' जी की रचनाओं में सर्वोत्कृष्ट और संधि-काल की कविता का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

इसी समय देश के सामाजिक और राजनीतिक आकाश में काली घटाएँ उमड़ने लगीं। सन् उन्तालीस में विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया। सन् चालीस के बाद देश पर उसके धक्के बड़ी तेजी से लगने आरम्भ हुए और सामाजिक विपत्ति आरम्भ हुई। सन् बयालीस-तैंतालीस तक आते-आते उसने अपने भीमकाय पंजों में देश को जकड़ लिया। जिन्दगी की जरूरी चीजों की जोरों से कमी होने लगी; अन्न-संकट मुँह फैलाकर सामने आया; कपड़ा, तेल, चीनी, नमक, ईंधन दुर्लभ हो गया; चोरबाजारी, मुनाफाखोरी आसमान को छूने लगीं···भुखमरी फैली, चीजों के दाम इतने आश्चर्यजनक हो गए कि सुनकर विश्वास नहीं होता था। एक व्यापक महानाश उपस्थित हो गया। बंगाल का भीषण अकाल पड़ा, हड़तालें हुईं, हिन्द-सेना बनी, बयालीस का भारी

विप्लव हुआ, नौसैनिकों का विद्रोह हुआ, सैकड़ों प्रकार की सामाजिक हलचलें और उथल-पुथल मचीं। यथार्थ का तूफ़ान एक साथ ही सतह पर आ गया। उसने सबकी नजर बड़ी तेज़ी से अपने पर केन्द्रित कर दी। कविता के क्षेत्र में इसके पहले प्रचलित परिपाटी से छन्द और माध्यमों का विद्रोह चल ही रहा था, उसे अब फूट पड़ने का रास्ता मिल गया। नये ढाँचे को नई आत्मा प्राप्त हुई, रूप-विधान के प्रयोगों को विषय-वस्तु की नई ज़मीन मिली।

इस तूफ़ान में छायावाद बह गया और पुराने कवियों की चमक उतर गई। कविता की पुरानी धातु अपने रूढ़िग्रस्त आवरण और युग-विमुख दृष्टि से यथार्थ की तेज आँच न सह सकी। 'बंगाल के अकाल' और बयालीस-तैंतालीस की उथल-पुथल पर बहुत-सी कविताएँ पुरानी शैली में लिखी गईं, पर सबके जैसे रंग उड़े हुए थे।

नतीजा यह हुआ कि छन्द और प्रकारों के प्रयोग करने वाले अधिकांश कवि, जो अब तक नये विषयों के लिए खेत, खलिहान, ग्राम-चित्र या प्रणय-व्यापारों को टटोल रहे थे, वे एक साथ इस यथार्थ की ओर बढ़े। समाज की तत्कालीन दुर्दशा और उसकी महाजटिल समस्याओं का हल समाजवाद में उन्हें नजर आया। इस गठबन्धन से ही प्रगतिवादी कहलाने वाली कविता-धारा का प्रारम्भ हुआ। माध्यमों पर प्रयोग करने वाले शुरू के बहुत-से कवि इस प्रभाव-वृत्त में आ गए। नरेन्द्र, रामविलास, शमशेर, केदार, भारतभूषण अग्रवाल, नेमिचन्द्र, प्रभाकर माचवे, मुक्तिबोध और कुछ बाद के त्रिलोचन, रांगेय राघव, 'नागार्जुन', 'अंचल', 'बच्चन', सोहनलाल, उदयशंकर भट्ट, सुमन-जैसे गीत-कवि भी इससे अछूते न रहे। 'अंचल' का 'करील' और 'किरणवेला', जिनमें उनकी प्रगतिशील रचनाएँ संग्रहीत हैं, उसी काल में प्रकाशित हुई थीं। इस नई धारा में एक ओर माध्यमों के प्रयोग थे, दूसरी ओर नवीन सामाजिक चेतना। दोनों ही तरह की रचनाएँ फुटकर रूप से इधर-उधर प्रकाशित हो रही थीं पर संग्रहीत रूप से उनका प्रकाश में आना कठिन था। लड़ाई के कारण काग़ज़ की अत्यन्त कमी थी, हिन्दी की पुस्तकों का प्रकाशन लगभग स्थगित था। काग़ज़ की सप्लाई और पुस्तक के प्रकाशन के लिए सरकारी आज्ञा ज़रूरी थी। नियन्त्रण कड़े थे। नये कवियों की कविताएँ, खासकर ऐसी कविताएँ, जो प्रतिष्ठित लेखकों, आलोचकों और प्रकाशकों की नजर में ऊल-जलूल थीं, कौन छापता। परिणामतः सहकारिता के आधार पर कवि-लेखकों द्वारा ही एक संग्रह छपाने का विचार किया गया। हालाँकि बाद में यह सहकारिता नहीं चल सकी। इस स्थिति में सन् तैंतालीस में 'अज्ञेय' द्वारा ग्रहीत 'तार सप्तक' में सात नये कवियों की रचनाएँ एकत्र रूप से प्रकाश में आईं। इन सात कवियों में से पाँच में समाजवादी दृष्टिकोण साफ नजर आता है, जो इस बात का सबूत है कि किस प्रकार माध्यमों पर प्रयोग करने वाले कवियों ने नवीन वस्तु-स्थिति और यथार्थ समस्याओं का सामञ्जस्य रूपगत प्रयोगों के साथ किया था। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि प्रारम्भ में प्रगतिशीलता और प्रयोगशीलता एक-दूसरे से सम्बद्ध होकर चली थीं। इन तथ्यों की रोशनी में यह समझना और कहना बिलकुल गलत है कि स्वयं 'तार सप्तक' ने 'प्रयोग' नाम के किसी 'वाद' को जन्म दिया अथवा यह कि कोई एक कवि उसका प्रवर्तक हुआ। 'तार सप्तक' के सम्पादन और संग्रहीकरण का यही ऐतिहासिक महत्त्व है कि उसके द्वारा काफी वर्षों से कितने ही कवियों के प्रयत्न एकत्र होकर सामने आए, उनकी ओर लोगों का ध्यान खिंचा तथा नई कविता पर केन्द्रित हुआ। यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। प्रयोगों को 'वाद' की संज्ञा देने का श्रेय बाद के प्रगतिशील आलोचक-

प्रत्यालोचकों को है, जिसका प्रचलन 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन के बाद ज़्यादा जोरों से हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि एक ओर समाजवादी आलोचकों ने उन प्रयोगों को प्रतीकवादी, रूपवादी (फारमेलिस्ट) कहना शुरू किया; जिनमें व्यक्तिगत कुण्ठा, यौन वर्जना, सूक्ष्म अन्तर्चेतना आदि की छाप थी, दूसरी ओर खुद कुछ नये प्रयोगशील कवियों ने रचना-वैचित्र्य और विलक्षणता की झोंक में प्रयोगों को एक नारे के रूप में ग्रहण करना शुरू किया। 'नकेन'-वाद या प्रपद्यवाद इसीका एक उदाहरण है। असलियत में प्रयोग-'वाद' शब्द ही गलत है; क्योंकि एक तो किसी भी सचमुच के 'वाद' के पीछे एक समूचा दर्शन होता है, दूसरे प्रयोग समाजोन्मुख और आत्मपरक दोनों ही पक्षों में किये जा सकते हैं, इसलिए एक ही प्रकार के प्रयोगों को 'प्रयोग' मानकर उन्हें 'प्रयोगवाद' कहना फिजूल की बात है।

हम अब तार-सप्तकों की रचनाओं के तत्त्वों का लेख के आरम्भ में बताये हुए विभाग और उनकी कसौटी पर मूल्यांकन करेंगे। इसके साथ ही हम इस काल के उन नये कवियों को भी सामने रखेंगे जो 'सप्तकों' में नहीं आए थे, पर नई शैली की रचनाएँ कर रहे थे। हम यह देख चुके हैं कि सन् तैंतालीस में 'तार सप्तक' के द्वारा नई कविता का एकत्र प्रकाशन एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी। पिछले पाँच-छः वर्षों से विभिन्न शैलियों के जो नवीन प्रयोग किये जा रहे थे वे प्रकाश में आए। सम्पादकीय वक्तव्य में कहा गया था कि ये सात कवि किसी एक ग्रुप या स्कूल के नहीं हैं; वे मंजिल पर पहुँचे हुए भी नहीं हैं, बल्कि राहों के अन्वेषी हैं; यानी कविता के प्रसार के लिए नये रास्ते या 'चैनल' खोज रहे हैं। 'तार सप्तक' की कविताओं में हमें कितने प्रकार के ऐसे रास्ते नजर आते हैं? और वे रास्ते वस्तु और रूप की किन-किन दिशाओं की ओर उन्मुख होते जान पड़ते हैं? छायावाद के ह्रास-काल में जो नवीन तत्त्व उभरे थे उनसे वे कहाँ तक सम्बन्धित हैं? 'तार सप्तक' के बाहर जो नये कवि थे उनकी क्या स्थिति थी?

'तार सप्तक' में हमें तीन मुख्य अन्तर्धाराएँ नजर आती हैं। एक तो समाजवादी यथार्थ की प्रवृत्ति जो रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल, गजानन मुक्तिबोध की रचनाओं में मिलती है। इनमें से अन्तिम अर्थात् मुक्तिबोध की रचनाएँ व्यक्ति-प्रधान, अन्तर्मुखी दार्शनिकता, निराशा तथा समाजोन्मुख यथार्थ बोध के संधि-स्थल पर खड़ी थीं और नेमिचन्द्र की प्रधानतः रूपासक्ति, रोमान, व्यष्टि और समष्टि के अन्तर्द्वन्द्व पर। दूसरी प्रवृत्ति व्यक्ति-विद्रोह के अहं और 'फ्रस्ट्रेशन' तथा उसकी वैयक्तिक, दैहिक, वर्गगत और 'काम'-समस्याओं पर आधारित है, जिसकी मुख्य गूँज आन्तरिक यौन-संघर्ष और बाहरी वर्ग-संघर्ष से उत्पन्न कुण्ठाओं और वर्जनाओं की है। इसके साथ ही बौद्धिक आत्मानुभूति, सूक्ष्म मनोभावों और राग-रेखाओं की अभिव्यक्ति तथा सौन्दर्य-बोध इसका दूसरा पक्ष है। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत 'अज्ञेय' की रचनाएँ आती हैं। तीसरी प्रवृत्ति मध्यवर्गीय, अन्तर्द्वन्द्व, रोमानियत, मानसिक प्यास, स्थूल ऐन्द्रियता, चित्रमयता, भौतिक जीवन के रसमय और रंगीन पक्ष के प्रति लालसा तथा मोह की है। साथ ही इतिहास की 'आब्जेक्टिव' चेतना और विज्ञान-सम्मत आधुनिकता का एक तत्त्व भी इस प्रवृत्ति में दिखाई देता है। यह प्रवृत्ति गिरिजाकुमार माथुर की रचनाओं में हमें मिलती है। 'तार सप्तक' की इन तीनों प्रवृत्तियों का आगे चलकर विकास और रूपान्तर हुआ। पहली प्रवृत्ति प्रगतिवाद के रूप में प्रतिष्ठित हुई, दूसरी 'अज्ञेय' की प्रवृत्ति उपचेतना, सूक्ष्म बौद्धिकता, सन्देह-द्विविधा और नई सौन्दर्य-सृष्टियों में परिवर्तित हुई, तीसरी गिरिजाकुमार माथुर

की प्रवृत्ति आगे सामाजिक यथार्थ से सम्बद्ध होकर नई रोमानियत, रंग-रसमयता, मानवतावाद और भविष्य के विश्वास में परिणत हुई। एक ओर रंग-रोमान और दूसरी ओर सामाजिक यथार्थ का उसमें समन्वय हुआ। तीनों प्रवृत्तियों के उदाहरण देना उपयुक्त होगा....

पहली प्रवृत्ति : सामाजिक यथार्थ

१. विश्व-शान्ति :

ईश के सुवर्ण सिंहासन के पार्श्व से
उड़ चले पुष्पक-विमान पृथिवी की ओर
करते हैं पुष्प-वृष्टि
नष्ट करते हैं नर-सृष्टि कर अग्नि-वृष्टि
दुर्दम नृशंस आततायियों के ध्वंसकारी वायुयान
हरे-हरे खेतों के
काले-काले लोहे के कल-कारखानों के
नीचे कहीं दबा था भूकम्प एक चुपचाप।
हड्डियों का ताप :[1]

२. निम्न-मध्यवर्ग :

नोन तेल लकड़ी की फ़िक्र में लगे घुन-से,
मकड़ी के जाले-से, कोल्हू के बैल-से,
मकां नहीं रहने को, फिर भी ये धुन से
गन्दे, अंधियारे और बदबू-भरे दड़बों में
जनते हैं बच्चे।

बीसवीं सदी ने हमें क्या दिया
मोटर, रेल, विमान, क्रांतियाँ
यह बेतार, सवाक् चित्रपट
काग़ज मुद्रा, आर्थिक संकट
गति अतिशयता, वेगातुरता
कहीं प्रपीड़न कहीं प्रचुरता।

बीसवीं सदी ने यही दिया
मानव को मानव का भक्षण
मानव को निज संरक्षण का
परवाना सबको बाँध दिया
जीवन-संघर्ष बढ़ा याँ तक
उस हाथ दिया इस हाथ लिया;

१. रामविलास शर्मा।

देखा न पुण्य अथवा पातक
जिसने मारा बस वही जिया ।[1]

३. पूँजीवादी समाज के प्रति :

तेरे रक्त में भी सत्य का अवरोध
तेरे रक्त से भी घृणा आती तीव्र
तुझको देख मितली उमड़ आती शीघ्र
तेरे हास में भी रोग-कृमि हैं उग्र
तेरा नाश तुझ पर क्रुद्ध, तुझ पर व्यग्र
मेरी ज्वाल, जन की ज्वाल होकर एक
अपनी उष्णता से धो चले अविवेक
तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ ।[2]

दूसरी प्रवृत्ति : 'अज्ञेय'

१. अहं और वर्गीय अन्तर्द्वन्द्व :

अवतंसों का वर्ग हमारा
खड्ग-धार भी न्यायकार भी
हमने क्षुद्र तुच्छतम जन से
अनायास ही बाँट लिया
श्रम-भार भी सुख-भार भी
हम लोगों का एक-मात्र श्रम है, सुरति-श्रम
उस अन्त्यज का एक-मात्र सुख है····मैथुन-सुख ।[3]

नूतन प्रचण्डतर स्वर से
आततायी आज तुझको पुकार रहा मैं
रणोद्यत दुर्निवार ललकार रहा मैं
कौन हूँ मैं ?
तेरा दीन, दुखी, पददलित, पराजित
आज जो कि क्रुद्ध सर्प से अतीत को जगा
मैं से हम हो गया ?

मैं ही हूँ वह पदाक्रांत रिरियाता कुत्ता
मैं ही हूँ वह मीनार-शिखर का प्रार्थी मुल्ला
मैं वह छप्पर तल का अहं-लीन शिशु भिक्षुक ।[4]

---

१. प्रभाकर माचवे ।
२. मुक्तिबोध ।
३. 'वर्ग भावना'—'अज्ञेय' ;
४. 'अज्ञेय' ।

२. सूक्ष्म बौद्धिक आत्मानुभूति :

नहीं मुझमें तीव्र कोई अहं की अभिव्यंजना जागी
नहीं चाहे प्राण तुम प्रत्येक स्पंदन की
बनो बेबस फेन-सी उच्छ्वसित समभागी
चेतना की दो प्रवाहित पृथक् धारों-सी
जो कि संगम के अनन्तर भी
रंग अपने पृथक् रखती हैं

और जिनके
घुले उलझे, परस्पर वलयित
द्रवित देहों में
शांति में गति से परम कैवल्य में संवेदना से
भँवर हैं उद्भ्रांत मँडराते……।[1]

उस महा व्याकुल अनावृत ज्ञान-लिप्सा
के क्षितिज पर
जो खिंचा है स्वप्न
श्रावण-साँझ के वितरित घनों पर
अमित नीला, जामुनी, अतिलाल, सुन्दर
दिवस की बरसात का सूर्यास्त का चुम्बन

वह ज्ञान-लिप्सा क्षितिज-सपना
रे वही तुझमें अनेकों स्वप्न देगा।
औ' अनेकों सत्य के शिशु
नव हृदय के गर्त में द्रुत
आ चलेंगे।
आत्मा मेरी
उस ज्वलन की भूमि में तू स्वयं बिछ जा
देख, जलते स्पन्दनों में क्या उलझता ही गया है।[2]

३. यौन-प्रतीक और सौंदर्य-बोध

जब कि सहसा तड़ित के अघात से घिरकर
फूट निकला स्वर्ग का आलोक
बाध्य देखा···
स्नेह से आलिप्त
बीज के भवितव्य से उत्फुल्ल

१. 'अज्ञेय'।
२ 'खोल आँखें'—मुक्तिबोध।

बद्ध
वासना के पंक-सी फैली हुई थी
धारयित्री सत्य-सी निर्लज्ज, नंगी,
औ' समर्पित ।[1]

चरण पर धर
सिहरते-से चरण
आज भी मैं इस सुनहले मार्ग पर
पकड़ लेने को पदों से
मृदुल तेरे पद-युगल के अरुण तल की
छाप वह मृदुतर
जिसे क्षण-भर पूर्व ही निज
लोचनों की उछरती-सी बेकली से
मैं चुका हूँ चूम बारम्बार ।[2]

तीसरी प्रवृत्ति : गिरिजाकुमार माथुर

१. रंग, रस, रोमान

उन्हीं रेडियम के अंकों की लघु छाया पर
दो छाँहों का वह चुपचाप मिलन था
उसी रेडियम की हल्की छाया में
चुपके का वह रुका हुआ चुम्बन अंकित था
कमरे की सारी छाँहों के हल्के स्वर-सा
पड़ती थीं लो एक-दूसरे से मिल-गुँथकर
सूनी आधी रात ।[3]

एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा
गिरा रेशमी चूड़ी का छोटा-सा टुकड़ा
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहने थीं
रंग-भरी उस मिलन-रात में

दूज कोर से उस टुकड़े पर
तिरने लगीं तुम्हारी सब लज्जित तसवीरें
कसे हुए बन्धन में चूड़ी का झर जाना ।[4]

१. 'सावन मेघ'—'अज्ञेय'।
२. 'चरण पर धर चरण'—'अज्ञेय'।
३. 'रेडियम की छाया'।
४. 'चूड़ी का टुकड़ा'।

जीवन में फिर लौटी मिठास है
गीत की आखिरी मीठी लकीर-सी
प्यार भी डूबेगा गोरी-सी बाँहों में
ओठों में आँखों में
फूलों में डूबे, ज्यों
फूल की रेशमी-रेशमी छाँहें ।

२. *चित्रमयता :*

सेमल की गरमीली हल्की रुई समान
जाड़ों की धूप खिली नीले आसमान में
झाड़ी झुरमुटों से उठे लम्बे मैदान में
रूखे पतझार-भरे जंगल के टीलों पर
काँपकर चलती समीर हेमन्त की
लम्बी लहर-सी
दूरी के ठिठुरे-से भूरे-भूरे पेड़ों पर
ठंडे बबूले बना धूल छा जाती थी ।[1]

३. *आकांक्षा और उदासी :*

सुन्दर चीजें ही मिटती हैं सबसे पहले
यह फूल, चाँदनी, रूप, प्यार
आँसू के अनगिन ताजमहल
रागों की ठहरी गूँज
असम्भव सपनों की मनहर मिठास
सृष्टा तक मिटता कलाकार के मिटने से
पर गीतों के इन पिरामिडों,
इन धौलागिरि, सुमेरुओं पर
मिट जाती स्वयं मृत्यु आकर ।

ऐतिहासिकता :

'अधूरा गीत', 'विजय दशमी', तथा 'बुद्ध' में ऐतिहासिक दृष्टि का उदाहरण मिलता है। 'तार सप्तक' की इन तीनों प्रवृत्तियों का आगे की कविता पर असर पड़ा ।

रूप-विधान की दृष्टि से भी 'तार सप्तक के कवियों की महत्त्वपूर्ण देन है । नये विषयों के साथ उपमान, प्रतीक, चित्र, रंग, छंद, लय, अन्तःसंगीत, भाषा और शब्द-योजना के नवीन प्रयोग स्थिर हुए । इन कवियों ने एक विस्तृत केनवेस काव्य-प्रयोगों के लिए प्रस्तुत किया । उपमान यथार्थ जीवन से लिये गए, उनमें आधुनिक युग का वातावरण उतरा, परिपाटीगत प्रतीकों को ठुकराकर ताजे नये प्रतीक और प्रतीक-चित्र जुटाये गए, भाषा की सधी-जमी संकीर्णता का कलेवर चीरकर दैनिक बोल-चाल की भाषा, मुहावरे, पेरेन्थेसेस, जनपदीय-स्थानीय शब्द, उर्दू-अँग्रेजी के प्रचलित शब्द, नाम आदि अंगीकार किये गए और नये शब्द भी गढ़े गए, छंदों में मुक्त

१. 'कुतुब के खण्डहर'।

छंद, छंदमुक्त (फ्रीवर्स), नई मात्रिक छंद-योजना, रूबाई के ढंग के प्रयोग, लोक-गीत और जन-गीतों के छंद, कवित्त और सवैये को तोड़कर नये मुक्त छंद आदि प्रयोग में लाये गए, प्रकारों में सानेट, बैलेड, एकालाप (मोनोलॉग), परिसंवाद, मुक्त-गीत, ग्राम-गीतों की योजनाएँ अपनाई गईं।

इन सबने मिलकर रूप-विधान की दिशा में एक व्यापक क्रान्ति उत्पन्न कर दी।

'तार सप्तक' से बाहर के कवि भी सचेतन दृष्टि से नये विषयों और शैलियों की रचना में यत्नशील थे। नरेन्द्र में प्रगतिशीलता की लहर वेग से आई थी और वे "नील लहरों के पार, लगी है चीन देश में आग"-जैसी कविताएँ लिख रहे थे। 'अंचल' में भी सामाजिकता, साम्राज्य-विरोध और वर्ग-भावना तेज़ी के साथ आई थी, उधर उनके गीतों की रंगीन भावुकता और ऐन्द्रियता में भी निखार बढ़ रहा था, नये 'शरबती' प्रतीक और उपमान आ रहे थे। राष्ट्रीय कवियों की प्रवहमान शैली और विद्रोह की ललकार के साथ समाजवादिता, साम्राज्य-विरोध तथा वर्ग-संघर्ष की भावना मिलाकर 'सुमन' प्रगतिशील कवियों में स्थान बना रहे थे। शमशेरबहादुर-सिंह ने 'फ्रीवर्स' में कितनी ही नई रचनाएँ, प्रतीक-चित्र, तथा मनोविज्ञान के 'फ्री-एसोसिएशन' का टेक्नीक लेकर कविताएँ लिखी थीं। भवानी मिश्र व्यावहारिक बोल-चाल की चुभती हुई भाषा में 'सतपुड़ा के जंगल'-जैसे रम्य विशद वर्णन, 'सन्नाटा'-जैसे बैलेड प्रकार और "पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री"-जैसे गीत रच रहे थे। त्रिलोचन शास्त्री गेय गीतों के ढंग की कविताएँ लिखकर उनमें गाँव, खेत, खलिहान, फसलों की ताज़गी और जीवन लाने का यत्न कर रहे थे। केदारनाथ अग्रवाल ने प्रकृति-चित्रण, लैंडस्केप, दैनिक जीवन के यथार्थ चित्रों के साथ वर्ग-संघर्ष-सम्बन्धी व्यंग्य आदि लिखे थे। रांगेय राघव की मुक्त छन्द में लिखी कितनी ही शक्तिशाली रचनाएँ सामने आ रही थीं। नागार्जुन सीधी अभिधायुक्त भाषा में व्यंग्य-चित्र लिखकर कविता को उसके ऊँचे शासन से नीचे उतार रहे थे। और भी कितने ही कवि इस उथल-पुथल से प्रभावित हो रहे थे तथा उनके काव्य की मूरत के हाथ-पाँव बन रहे थे। सन् तैंतालीस के बाद के छः वर्षों में नई कविता का प्रसार तेज़ी से बढ़ता गया।

इन वर्षों के बीच 'तार सप्तक' की मुख्य धाराओं का रूप और अधिक स्पष्ट हुआ तथा निखरा।

उनकी शैलियाँ अधिक प्रौढ़ तथा परिपक्व होकर सामने आईं। 'अज्ञेय' की रचनाओं में एक ओर ज़्यादा गहनता, सूक्ष्मता और गूढ़ता आई, दूसरी ओर नई सौन्दर्य-सृष्टियाँ उसमें हुईं। 'कलगी बाजरे की', 'माघ-फागुन-चैत', 'आषाढस्य प्रथम दिवसे', 'ओ पिया पानी बरसा', 'छिटक रही है चाँदनी', 'भेड़ा घाट की साँझ', 'हवाई यात्रा'-जैसी रचनाओं में पहले की बनिस्बत अधिक निखार उतरा। गिरिजाकुमार माथुर में मानवता, आशावादिता, इन्सानी जीवन और भविष्य में विश्वास का स्वर ज़्यादा उभरकर रंग-रोमान के समन्वय के साथ आया।

उधर प्रगतिशील कविता कट्टरपन्थी उसूलों के कारण नारों के वाग्जाल में सीमित होती गई, और केवल 'रियलिज़्म' का एक तत्त्व अपने दायरे के बाहर छोड़कर स्वयं संकुचित और संकीर्ण हो गई।

इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त इस जमाने में गीति-काव्य के माध्यम से भी नये प्रयोग किये गए। ऐसे कवियों में हम जानकीवल्लभ शास्त्री, शंभूनाथसिंह, ठाकुरप्रसादसिंह, हंसकुमार तिवारी और इधर बिलकुल ही नये नीरज तथा वीरेन्द्र मिश्र आदि को ले सकते हैं। इन कवियों के

गीतों में अधिकांश रूप से रोमानी भावना के दर्शन हमें होते हैं। इनमें से रंग-योजना तथा नये उपमानों का प्रयोग शम्भूनाथसिंह में सबसे अधिक मिलता है, और गीतों को बोल-चाली चलताऊ भाषा में लिखने का प्रयोग 'नीरज' में।

: ४ :

शताब्दी के अर्ध चरण तक आते-आते नये कवियों की एक और पीढ़ी उठकर साहित्य-क्षितिज पर आई। धर्मवीर भारती, हरि व्यास, नरेश मेहता, रघुवीरसहाय, शकुन्त माथुर, महेन्द्र भटनागर, सर्वेश्वरदयाल, मदन वात्स्यायन, विजयदेव साही, नामवरसिंह, सिद्धनाथ 'कुमार' तथा राजनारायण बिसारिया आदि कितने ही नये कवि हमारे सामने हैं। और बहुत-से सद्यः कवि हैं जिनकी रचनाएँ अक्सर पत्रों में आजकल प्रकाशित होती रहती हैं तथा जिनमें नई कविता के तत्त्व झलकते हैं। हालाँकि ये कवि अभी निर्माणावस्था में ही हैं। नाम गिनाना यहाँ इष्ट नहीं है और न ही वह सम्भव है; क्योंकि यह पीढ़ी आजकल ही उठ रही है। नाम गिनाने में दो कठिनाइयाँ हैं। एक तो वह सूची कहाँ तक बढ़ाई जाय तथा उसको खत्म कहाँ किया जाय? दूसरे आज नये कवियों की हालत यह है कि जहाँ एक बार नाम लिया या कुछ ताजगी अथवा नयापन देखकर लोगों ने नई कविता से सम्बन्धित पत्रों में उनकी रचना प्रकाशित की वहाँ उन्हें अपने बारे में गलतफहमी होने और गलत रास्तों पर चले जाने की पूरी सम्भावना होती है। नई उठान के कवियों में से सात को फिर लेकर 'अज्ञेय' ने 'दूसरा सप्तक' का संकलन किया। 'दूसरा सप्तक' सन् इक्यावन में प्रकाशित हुआ और उसमें दो पिछली पीढ़ी के तथा पाँच नये कवियों की रचनाएँ संग्रहीत की गईं। पिछली पीढ़ी के शमशेर और भवानी मिश्र तथा नई पीढ़ी में से शकुन्त माथुर, हरि व्यास, नरेश मेहता, रघुवीरसहाय, धर्मवीर भारती इस सप्तक में रखे गए। कवि किस दृष्टिकोण से संग्रहीत किये गए थे इस पर हम न जाकर स्वयं उन कवियों के कृतित्व को देखेंगे और इस बात का विश्लेषण करेंगे कि ऐतिहासिक परम्परा की कड़ी में इस कृतित्व का क्या स्थान है, पिछले किन तत्त्वों पर वे आधारित हुए हैं, तथा 'दूसरा सप्तक' में उन तत्त्वों का विकास हुआ या नहीं। आखिर में यह कि इस समस्त नई पीढ़ी की कविता जिन्दा रहेगी या नहीं और यदि रहेगी तो उसकी कौन-सी चीजों के विकसित होकर रह जाने की सम्भावना है।

इसके लिए हम 'दूसरा सप्तक' की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके सप्तक के बाहर वाले कवियों को भी परखेंगे। दूसरे सप्तक में यद्यपि प्रगतिशील धारा का भी प्रमाण मिलता है, 'अज्ञेय' की सूक्ष्म आत्मानुभूति तथा बौद्धिकता और उनसे भी पिछले, कुण्ठाग्रस्त तथा अर्ध-समाजोन्मुखी, अर्ध-व्यक्तिवादी कवियों-जैसी शैली के प्रयोग, और गिरजाकुमार माथुर-जैसी रंगीनी, प्रतीक-योजना चित्रमयता और आधुनिकता भी मिलती है, फिर भी यह कहना पूरी तरह ठीक न होगा कि 'दूसरा सप्तक' पहले 'तार सप्तक' के कवियों का सिर्फ 'फॉलो ऑन' है। इसके विपरीत यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि 'तार सप्तक' के कवियों ने कविता-क्षेत्र का नई दिशाओं में प्रसार बढ़ाने के जो अभिनव यत्न किये थे उसका आने वाली पीढ़ी पर स्पष्टतया गहरा असर पड़ा और बहुत-से कवि अपनी-अपनी रुचि, सामर्थ्य तथा मानसिक स्थिति के अनुसार इस प्रयत्न-भूमि पर आकर इकट्ठे होने लगे। 'दूसरा सप्तक' के दो कवि यानी भवानी मिश्र और शमशेर पहले ही से अपनी स्वतन्त्र शैली स्थापित कर चुके थे, अन्य पाँच कवि 'तार सप्तक' का दिशा-संकेत लेकर अग्रसर हुए। इन

पाँच कवियों ने अवश्य ही पिछली नई कविता से प्रेरणा ली और सीखा भी, विशेषकर 'अज्ञेय' और गिरिजाकुमार माथुर के प्रयोगों से। इसका सबूत इन कवियों के वक्तव्य और कृतित्व दोनों से प्राप्त होता है। रघुवीरसहाय में पूर्णतया और एक सीमा तक हरि व्यास में बौद्धिक आत्मानुभूति, मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का सूक्ष्म विवेचन, अन्तर्मुखी चेतना और व्यक्तिगत कुण्ठाओं का आभास 'अज्ञेय' की याद दिलाता है। धर्मवीर भारती के सिर्फ वक्तव्य में 'अज्ञेय' की मान्यताओं-जैसी गूँज है····यद्यपि कृतित्व में उनसे विभिन्नता है। भारती में रोमानियत और प्रणयासक्ति के साथ सामाजिक चेतना तथा यथार्थ की कटु अनुभूति काफी तीव्रता से मिलती है, जिन चीजों के कारण यह अन्तर स्पष्ट होता है। आगे चलकर भारती तथा अन्य कुछ कवियों—जैसे सर्वेश्वरदयाल और विजयदेव साही—में अनास्था का प्रवेश हुआ। दूसरी ओर नरेश मेहता में नये उपमानों की खोज, छवि, रचना का प्रयास, शिल्प-योजना, रूमानियत के साथ सामाजिक यथार्थ का समन्वय, शकुन्त माथुर की रंगीनी और चित्रमयता, हरि व्यास की रोमानी मोहासक्ति से गिरिजाकुमार माथुर का ध्यान आ जाता है। लेकिन इन कवियों में 'तार सप्तक' की उपरोक्त शैलियों का अनुकरण-मात्र ही है और कुछ नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। रचना-काल की आरंभिक अवस्था में सभी कवि अपने पिछले कवियों से प्रभावित होते हैं, उनसे प्रेरणा पाते हैं, अपनी मनोनुकूल शैलियों के कई तत्त्व लेकर अपनी-अपनी मिट्टी की मूरत गढ़ने की कोशिश करते हैं, अपनी अनुभूतियों का रंग उसमें भरते हैं और इस प्रकार अपनी विशिष्टता की छाप उन शैलियों पर लगाते हैं। 'दूसरा सप्तक' के कवियों की रचनाओं में पिछले प्रयोगशील कवियों की दी हुई शैली और शिल्प का यदि स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है तो इसका कारण यही है कि इस संग्रह में उनके प्रारम्भिक प्रयोग ही थे। प्रारम्भिक होने के कारण उनकी रचनाओं में वह प्रौढ़ता नहीं थी जो 'तार सप्तक' के कवियों में थी। उनकी शैलियाँ अभी स्थिर नहीं हो पाई थीं और उनमें कच्चापन नजर आता है। इसलिए 'दूसरा सप्तक' बहुत-से कवियों में से कुछ नये कवियों की कविताओं का संग्रह-मात्र है, वह समस्त नई पीढ़ी का प्रतिनिधित्व नहीं करता और पहले सप्तक की तरह उसका ऐतिहासिक महत्त्व भी नहीं है। इसका एक कारण यह भी है कि पहले सप्तक के संग्रहीकरण और प्रकाशन से हिन्दी-काव्य की एक नूतन धारा स्पष्ट रूप से अलग होकर सामने आई थी, जिसने आगे की कविता पर अपना प्रभाव डाला। उस रूप में 'दूसरा सप्तक' के द्वारा ऐसा कुछ नहीं हुआ, क्योंकि 'दूसरा सप्तक' के बाहर नये प्रयत्न और प्रयोगों की अब तक एक पूरी परम्परा खड़ी हो चुकी थी।

इस निर्णय के बाद हम 'दूसरा सप्तक' के अन्य पक्षों पर विचार करेंगे। 'दूसरा सप्तक' में पहले की प्रयोगशीलता का परिमार्जित और परिष्कृत रूप है, यह कहना यद्यपि ठीक नहीं है तथापि इन कवियों में कुछ और चीजें देखने को मिलती हैं। सबसे पहली बात जो हमारी दृष्टि खींचती है वह इन रचनाओं की शब्द-योजना और भाषा की है। भवानी मिश्र से लेकर धर्मवीर भारती में भाषा और शब्द-योजना का पहले से कहीं अधिक अन्तर नजर आता है। 'दूसरा सप्तक' के कवियों में भाषा को अधिकाधिक दैनिक यथार्थ के पास लाने का स्पष्ट प्रयत्न है। 'तार सप्तक' के कितने ही कवियों पर छायावादकालीन भाषा और शब्द-योजना का प्रभाव था। 'दूसरा सप्तक' के कवियों की भाषा अधिक सरल और सीधी है। वह बोल-चाल के शब्दों से अनुप्राणित है और उसमें दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त की जाने वाली भाषा के निकट आने का स्पष्ट यत्न है। भवानी मिश्र की चुभती हुई सीधी शैली का यही मर्म है। 'दूसरा सप्तक' में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं :

गीत फ़रोश : जी हाँ हज़ूर मैं गीत बेचता हूँ
मैं तरह-तरह के
किसिम-किसिम के
गीत बेचता हूँ
जी बहुत ढेर लग गया हटाता हूँ
गाहक की मर्ज़ी····अच्छा, जाता हूँ
मैं बिल्कुल अन्तिम और दिखाता हूँ
या भीतर जाकर पूछ आइए, आप ।[1]

आज मुझे लगता संसार खुशी में डूबा
माँ ने पाया अपना धन ज्यों
बहुत दिनों का खोया
बहुत बड़ी कुँवारी लड़की को
सुघर मिला हो दूल्हा
मैल-भरी दीवारों पर राजों ने फेरा चूना
किसी भिखारिन के घर में
बहुत दिनों पीछे, मंद जला हो चूल्हा ।[2]

उधर उस नीम की कलगी पकड़ने को
झुके बादल
नई रंगत सुहानी चढ़ रही है
सबके माथे पर
उड़े बगले, चले सारस
हरस छाया किसानों में
बरस-भर की नई उम्मीद
छाई है बरसने के तरानों में ।[3]

कौन आज मुझे खास बात समझाने को
दिल में आता है
और दूर से यह गाता है
सुनता हूँ, साह कोई मरा
और एक चोर मरा नहीं डरा, नहीं डरा
रात हुई खतम, दिन जब आलोक से भरा
उतरी एक लाल परी ।
सुनकर मन पछताता है

१. भवानी मिश्र ।
२. शकुन्त माथुर ।
३. हरि व्यास ।

आह, मैं चोर न हुआ
हाय, मुझे कुछ नहीं आता है
जग से मरने का ही मेरा नाता है।[1]

काला गगन, हवा साँवली, ज़हरीले धुएँ के बादल
चीख़ रही सीटी जिनमें मिल
भद्दी मोटी लालटेन ले घूम रहे गोदामों में ये मोटे वार्डर
जाँच रहे रेलों के पहिये हथौड़ियों से घन-घन करके
मोटे ओठों में चुरुट जल रहा
आसमान की छाती में इंजन का सारा शोर भर रहा
जाने किस राक्षस की आँखों-जैसी लाल हरी लाइटें चमक रहीं
सिगनल-खम्भों की........[2]

मैं कभी-कभी कमरे के कोने में जाकर
एकान्त जहाँ पर होता है
चुपके से एक पुराना काग़ज़ पढ़ता हूँ
वह एक पुराना प्रेम-पत्र है जो लिखकर
भेजा ही नहीं गया, जिसका पाने वाला
काफी दिन पीछे गुज़र चुका।[3]

हर घर में सिर्फ चिराग़ नहीं, चूल्हे सुलगे
लेकिन फिर भी
जाने कैसा सुनसान अंधेरा
रह-रहकर धुँधुआता है
छप्पर से छनता हुआ धुआँ
हर ओर
हवा की पर्तों पर छा जाता है
बढ़ जाती है तकलीफ़ साँस तक लेने में
हर घर में मचता हंगामा
दफ़्तर के थके हुए क्लर्कों की डाँट-डपट
बच्चों की चीख-पुकारें
पत्नी की भुन-भुन........[4]

भूख ने उसकी जवानी तोड़ दी
यों बड़ी ही नेक थी कविता

---

१. शमशेर।
२. नरेश मेहता।
३. रघुवीर सहाय।
४. धर्मवीर भारती।

मगर धनहीन थी, कमज़ोर थी
और बेचारी गरीबन मर गई ।[४]

भाषा का 'रियलिज़्म' और उसे व्यावहारिक बोल-चाल से एक कर देने का प्रयत्न इन सभी नये कवियों की एक विशिष्टता है। इसका अर्थ यह है कि हिन्दी की नई कविता अब अधिकाधिक साधारण जीवन के निकट आती जा रही है, उसके उपकरण और माध्यम दोनों ही सामाजिक यथार्थ की ओर तेज़ी से अग्रसर हो रहे हैं। नई पीढ़ी में भाषा, शब्द-योजना, उपमान, प्रतीक, चित्रों का यह 'रियलिज़्म' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जो भविष्य की काव्य-प्रक्रियाओं पर असर डालेगा। भाषागत यथार्थ गद्य में और विशेषकर कहानी-उपन्यास में प्रेमचन्द के बाद से काफी आ चुका था। कविता में अब वही चीज़ बोल चाल की भाषा को लेकर आ रही है।

दूसरे सप्तक और उसके बाद के लगभग सभी कवियों में भाषा की यह विशेषता मौजूद है। आज के किसी भी कवि की रचनाओं से ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं। सभी में बोल-चाल की भाषा का प्रयोग मिलता है। जनपदीय शब्द, प्रान्तीय पर्याय, प्रादेशिक मुहावरे, स्थानीय, प्रयोग, लटक (मेनेरिज़्म), आधे वाक्य (पेरेन्थेसिस) बड़ी तेज़ी से आते जा रहे हैं, और इस तरह काव्य की भाषा का प्रसार बढ़ता जा रहा है।

पिछले प्रयोगशील कवियों ने यदि कविता के क्षेत्र का एक व्यापक रूप से फैलाव बढ़ाया था तो अब नई पीढ़ी के कवि उसकी भाषा और उपकरणों पर विशिष्ट रूप से काम कर रहे हैं।

इससे स्पष्ट है कि एक ओर तो तथाकथित साहित्यिक भाषा और बोल-चाल की भाषा का व्यवधान बहुत-कुछ मिट जायगा, दूसरी ओर बोल-चाल की भाषा जो हमें असंस्कृत, निम्न और काव्य की गरिमा के अयोग्य लगती है और जिसका उपयोग करने से यह समझा जाता है कि साहित्य या काव्य नीचा और अभद्र हो जायगा। वह जब स्वयं कविता की भाषा बन जायगी तो अपने-आप प्रतिष्ठा और प्रामाणिकता प्राप्त करेगी।

मैं समझता हूँ भाषा का यह 'रियलिज़्म' भविष्य की कविता का एक प्रधान बीज है, और आने वाली महान् कविता इसी जीवन-यथार्थ की भाषा को ग्रहण करके उस पर अपना भवन उठायगी। भविष्य के महाकाव्य जन-साधारण की इसी बोल-चाली भाषा में यदि लिखे जाएँ तो कोई अचरज की बात नहीं होगी। हमारे विचार में कविता के भाषागत विकास का वही स्वाभाविक, आवश्यक और ऐतिहासिक चरण होगा।

नई पीढ़ी की दूसरी विशेषता उसकी सामाजिक अनुभूति है। यह अनुभूति विश्वास, अनास्था और कटुता तीनों ही रूपों में प्राप्त होती है। 'तार सप्तक' और उसके अन्य समकालीन कवियों में नई सामाजिक चेतना का उदय एक व्यापक ढंग से हुआ था। सामाजिक अर्थ-व्यवस्था की समझदारी, जीवन की विषमता और जटिलता, मध्यवर्ग की मनोवृत्ति, मुसीबत और छीछालेदर, किसान, मजदूर, धनिक, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, अन्तर्राष्ट्रीयता आदि की चेतना 'तार सप्तक' के कई कवियों में हम स्पष्ट पाते हैं। इन बातों का जैसे सहसा उन्हें अपने जीवन में ज्ञान हुआ हो और आँखें खुली हों। नई पीढ़ी के कवियों में यह चेतना ज़्यादा उलझी हुई अनुभूति के रूप में आई है। यद्यपि जीवन के विरोधी और अनुकूल तत्त्व आज बहुत साफ होकर सतह पर

१. धर्मवीर भारती।

आ चुके हैं पर आज उन्हें देखने की दृष्टियों का भेद भी काफी मौलिक रूप से उपस्थित है। दूसरों की अनुभूतियों के आधार पर उठी हुई सामाजिकता अब लगभग बुझ गई है और पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, किसान, मजदूर, शोषित-वर्ग का नाम-भर गिना देना सामाजिकता का लक्षण नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत जीवन के छोटे-से-छोटे पहलू में संघर्ष की जो छाया पहुँची है उसकी अभिव्यक्ति असली सामाजिकता मानी जाने लगी है। अपनी और अपने आस-पास की जिन्दगी में उसकी छाप देखकर, उसे भोगकर आज का कवि सामाजिकता को अपना रहा है।

लेकिन जैसा कि हमने अभी कहा इस सामाजिकता को देखने की दृष्टियाँ आज कई-एक हैं। सामान्य रूप से उसके विरोधी और अनुकूल पक्षों से आज सभी परिचित हैं, कम-से-कम परिचित होने का दावा तो करते ही हैं। इस कारण जहाँ एक ओर विरोधी और अनुकूल ध्रुव अलग-अलग दिखाई देते हैं वहाँ इनके ऊपर एक-सी दिखाई देने वाली किन्तु विभिन्न दृष्टियों ने एक नया उलझाव नये कवि के मन में पैदा कर दिया है। जीवन के विरोधी तत्त्वों से जो आक्रान्त हैं पर जिन्हें उनसे त्राण पाने का मार्ग समझ में नहीं आता, उनमें सामाजिक परिस्थितियों की अनुभूति के साथ एक नये प्रकार की हताशा अथवा अनास्था पैदा होती है। वे मार्ग ढूँढ़ने का यत्न करते हैं पर परिस्थितियों की चट्टानों पर सिर पटककर छटपटाते रह जाते हैं। दूसरी ओर सामाजिक न्याय और कल्याण के विभिन्न स्वर उन्हें सुनाई देते हैं। सामाजिक मुक्ति का दावा करने वाले भिन्न-भिन्न विचारादर्श उन्हें आस-पास दिखाई पड़ते हैं, पर सभी में उन्हें एक-न-एक कमी नजर आती है। कोई थोथा लगता है, कोई कमजोर, कोई ढीला-ढाला, कोई मनगढ़न्त और अव्यावहारिक, कोई बाहर से थोपा हुआ, कोई भयावह, कोई संदिग्ध, कोई प्रच्छन्न, दुकान की बाहरी सजावट-जैसा और इस तरह कोई भी 'एप्रोच' उनकी बौद्धिकता और अनुभूति को स्वीकार नहीं होता। इसलिए हर 'एप्रोच' में कमी अनुभव करके वे सभी पर से आस्था खो बैठते हैं।

धर्मवीर भारती, रघुवीरसहाय, सर्वेश्वरदयाल, विजयदेव साही, राजनारायण बिसारिया तथा कुँवर नारायण की इधर की कुछ रचनाओं में अनास्था और 'निषेध' (निगेटिविज़्म) की छायाएँ देखने को मिलती हैं। भारती में विश्वास और अनास्था का अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट रूप से नजर आता है। एक ओर ऐसी पंक्तियाँ हैं :

ठहरो, ठहरो, ठहरो, ठहरो हम आते हैं
हम नई चेतना के बढ़ते अविराम चरण
हम मिट्टी की अपराजित गतिमय सन्तानें
हम अभिशापों से मुक्त करेंगे कवि का मन।

और दूसरी ओर····

हम सबके दामन पर दाग़
हम सबकी आत्मा में झूठ
हम सबके माथे पर शर्म
हम सबके हाथों टूटी तलवारों की मूठ

दो हमको फिर झूठे युद्ध
दो हमको फिर झूठे ध्येय
हारेंगे फिर यह है तय

फिर उसको मानेंगे हम प्रभु की हार
अपने को मानेंगे फिर अपराजेय।[1]

अथवा

सूनी सड़कों पर ये आवारा पाँव
माथे पर टूटे नक्षत्रों की छाँव
कब तक
आख़िर कब तक
लड़ने वाली मुट्ठी जेबों में बन्द
नया दौर लाने में असफल हर छन्द
कब तक
आख़िर कब तक ?[2]

पर आज सिर्फ भग्नावशेष
बेस्वाद सान्त्वना, धीरज, ढाढस, सब्र, भाग्य
उजियाले की जड़ हँसी
अंधेरे के आँसू

सच मानो प्रिय
इन आघातों से टूट-टूटकर रोने में कुछ शर्म नहीं
कितने कमरों में बन्द हिमालय रोते हैं,
मेजों से लगकर सो जाते कितने पठार,
कितने सूरज गल रहे अंधेरे में छिपकर,
हर आँसू कायरता की खीझ नहीं होता।[3]

इस रचना में भी जीवन के निषेध और विश्वास दोनों का अन्तर्द्वन्द्व मिलता है। आज के कवि की यह अनास्था सामाजिक संघर्ष की कटुता और परिणामगत पस्ती से उपजती है।

इस प्रकार सामाजिक चेतना से उत्पन्न कटुता भी मौजूदा कविता की एक विशिष्टता है। यह कटुता अनास्थामूलक भी है और किसी एक सिद्धान्त को किताबी रूप में अनुदारता, असहिष्णुता और कट्टरता से स्वीकार करने के कारण भी। इसके अलावा सीधी परिस्थिति-जन्य कटुता भी है, जो आवश्यक रूप से अनास्थाजनित नहीं होती। इस प्रकार की कटुता आगे बढ़कर स्वस्थ सामाजिकता में परिवर्तित भी हो सकती है।

तीसरी बात मानवता और जीवन-कल्याण में विश्वास के स्वर की है। विश्वास की आवाज यद्यपि आज कुछ कम है फिर भी जितनी है वह उतनी ही मजबूत और बलवती है। इस मानवतावादी दृष्टि में सामाजिक अवस्था को देखने का पैनापन है; मौजूदा परिस्थितियाँ किस गति

१. धर्मवीर भारती।
२. 'संक्राति'—भारती।
३. 'हिमालय के आँसू'—साही।

से बढ़ रही हैं, किधर बढ़ रही हैं, उनका आज क्या रूप है और यह स्वरूप किस तरह दूसरे रूपों में ढलता जा रहा है इसकी समझदारी यहाँ मौजूद है। इस आवाज में भविष्यवादिता का एक तत्त्व भी दिखाई देता है और यह भविष्यवादिता दिन-दिन अधिक गहरी होती जा रही है। अब वह ज़िन्दगी के छोटे-से-छोटे पहलू की खण्ड-अनुभूति को उठाकर उस पर अपने सिद्धान्तों को कसना और अपने विश्वास की छाप को लगाना चाहती है। हमारे देश की संस्कृति के वह अनुरूप भी है। यही आवाज आगे आने वाली कविता में निरन्तर बढ़ती जायगी ऐसा हमारा निश्चित विचार है।

अन्त में हम नई कविता के उन समस्त पहलुओं की ओर इशारा करेंगे जिनसे बचकर आज के कवि को चलना होगा, यदि उसके सामने केवल साहित्यिक 'लीडर' बनने का लक्ष्य नहीं है और वह मेहनत करके हिन्दी के काव्य-साहित्य का भविष्य सँवारना चाहता है।

सबसे पहली बात तो यह है कि नया कवि 'वादों' और गुटों के फेर में न पड़कर अपना स्वतन्त्र चिन्तन करे और उसे अपने मौलिक ढंग से विकसित करे। जान बूझकर पूर्वाग्रह के साथ एक के पक्ष या दूसरे के विरोध में रचना न करे। सिर्फ देखा-देखी या सुन-सुनाकर मान्यताएँ बनाने का दम न भरे, क्योंकि वे कभी टिकाऊ नहीं होतीं। हाँ, यह बात ज़रूर है कि इसके लिए ज़रा मेहनत के साथ पठन, अनुशीलन, मनन, स्वतः आलोचन और चिन्तन करना पड़ेगा, 'शॉर्ट-कट' नहीं मिल सकेगा। लेकिन श्रेष्ठ रचनाकार को 'शॉर्ट-कट' का मोह तो होना नहीं चाहिए, यदि वह श्रेष्ठ रचनाकार बनना चाहता है, अपनी नई शैली गढ़ना चाहता है और आगे के लिए कुछ छाप छोड़ना चाहता है। इस रास्ते पर चलकर हो सकता है मेहनत में वर्षों निकल जायँ और बहुत जल्दी पाँचवें सवारों में नाम न आ पाए। पर जिसे कोई गम्भीर काम करके आगे की पीढ़ियों के लिए सौंप जाना है उसे यह करना पड़ेगा, दूसरा कोई रास्ता है ही नहीं।

एक और भी आवश्यक बात यह है कि नया कवि प्रयोगों को एक नारे के रूप में ग्रहण न करे। नयेपन के नाम पर वह अस्वाभाविक विशृङ्खलता, विचित्रता, विलक्षणता, कृत्रिम खींच-तान और ऊल-जलूल, शब्द-उपमान-संग्रह करके लोगों को चौंकाने, ध्यान आकृष्ट करने, नई शैली का आभास पैदा करने या सनसनी मचाने का प्रयास न करे। क्योंकि न तो उससे सनसनी मचती है, और न नई शैली का निर्माण होता है; बल्कि स्वयं उसकी रचनाएँ दयनीय अथवा हास्यास्पद हो जाती हैं। छन्दों की व्यर्थ तोड़-मरोड़, जो बिना किसी गम्भीर आधार या सिद्धान्त के की जाती है, जान-बूझकर 'गद्य' बनाने का यत्न, अथवा छन्द, लय, अन्तःसंगीत की अज्ञानता, दूर-दूर के असम्बद्ध उपमानों का संग्रह, रद्दी, छिछोरे, ओछे, निकृष्ट, फूहड़ या शालीनता-रहित वैयक्तिक व्यापारों की अभिव्यंजना, कविता को प्रगतिवादी या प्रयोगवादी बनाने के लिए जबरदस्ती कुछ नाम, नारे, 'कैचवर्ड्स', खोखले प्रतीक, स्थानीय देशज या जनपदीय शब्द अथवा उपमाओं की ठूँस-ठाँस, नई फिलासफी या विचार-आदर्श देने के लिए उलझी-सुलझी अर्थहीन बौद्धिकता और तर्क आदि से न तो कविता में नयापन आता है और न उससे कोई नया चमत्कारी साहित्य-प्रवर्तन होता है; श्रेष्ठ कविता होने या काव्य साहित्य को समृद्ध करने की बात तो दूर रही। आज नये कवियों में इस 'नुस्खेबाजी' का चलन जगह-जगह दिखाई देता है जिससे स्वयं उन्हीं कवियों को खतरा है। इस गम्भीर खतरे से आज के कवि को सचेत रहकर मेहनत से अपना स्वस्थ विकास करना होगा।

इधर के नये कवियों के लिए एक और चेतावनी देना भी हम जरूरी समझते हैं। आज इसकी अत्यधिक आवश्यकता है कि नया कवि कुछ ठोस रचना और साहित्यिक निर्माण की ओर ध्यान दे, अपने मत और मान्यताओं का स्पष्टीकरण और पुनर्स्पष्टीकरण जरा कम करे। हो सकता है उसके मत और मान्यताएँ अपरिपक्व ही हों, और इसीकी सम्भावना अधिक है। हमारे देश में बात करने और नुक्ताचीनी करने की आदत दूसरों से कुछ ज़्यादा ही है, मेहनत करने और रचनात्मक कार्य करने की कम। पर यदि हम अपने काव्य-साहित्य के भाण्डार-गृह को नई कविता की एक अभूतपूर्व भेंट देना चाहते हैं, तो हमें छोटी-छोटी बातें, अधकचरे सिद्धान्त, तर्क, फलसफ़े का चक्कर अपने विकास के लिए अपने तक ही रखकर देश और विदेश की कुछ बड़ी बातों और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की ओर उन्मुख होना होगा। उन्हें अपने कृतित्व में उतारना होगा। उदासी, पस्ती, अनास्था, कमजोरी की भावना को दूर हटाकर कविता में विश्वास का स्वर फूँकना होगा। अपने समाज को कमजोरी और निराशा दिलाने के बजाय मजबूती और हिम्मत दिलानी होगी। देश की युगीन परम्पराओं के अनुकूल मानवता के कल्याण में गहरी आस्था पैदा करनी होगी। हम समझते हैं कि भविष्य ऐसी ही कविता के हाथ में है।

अनुशीलन

डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त

'पद्मावत' का पाठ और 'आईन-ए-अकबरी'

जायसी का 'पद्मावत' सन् ९४७ हि० (१५४० ई०) में लिखा गया था, और अबुलफ़ज़ल ने 'आईन-ए-अकबरी' सन् १००३ हि० (१५९५ ई०) में समाप्त किया था। अतः इधर जब मैंने 'पद्मावत' के लेखन-काल के भारतीय जीवन का परिचय प्राप्त करने के लिए 'आईन-ए-अकबरी' का अवलोकन किया तो उसमें मुझे ऐसे अनेक शब्द मिले जो 'पद्मावत' में भी आये हैं।

अब से चार-पाँच वर्ष पूर्व 'जायसी-ग्रन्थावली' के सम्पादन के समय 'पद्मावत' के पाठ-निर्धारण के प्रसंग में ऐसे अनेक स्थल मेरे सामने आये थे जहाँ पर निर्धारित सम्पादन-सिद्धान्त प्रायः ऐसे पाठ की ओर ले जाते थे जो अपरिचित ही नहीं बहुत-कुछ अर्थहीन भी प्रतीत होता था, जब कि दूसरी ओर केवल हस्त-लिखित प्रतियों में ही नहीं सम्पादित संस्करणों में भी इस प्रकार के पाठान्तर मिलते थे जो अधिक परिचित और अर्थयुक्त प्रतीत होते थे। ऐसे स्थलों पर, कहना नहीं होगा, मैंने प्रथम मार्ग का ही अवलम्बन किया था। मुझे हर्ष है कि ऐसे अनेक स्थलों के पाठ 'आईन-ए-अकबरी' के द्वारा नितान्त सार्थक और जायसी के युग के प्रमाणित हो रहे हैं।

नीचे ये स्थल दिये जा रहे हैं। 'पद्मावत' के उद्धरणों के साथ दी हुई संख्याएँ मेरे 'जायसी-ग्रन्थावली'[1] पाठ की क्रमशः छन्द तथा पंक्ति-संख्याएँ हैं। 'आईन-ए-अकबरी' के स्थल-संकेत ब्लाचमैन के किये हुए उसके प्रसिद्ध अनुवाद के द्वितीय संस्करण[2] के अनुसार हैं। पाठान्तर उद्धरणों के सामने ही चौकोर कोष्ठकों में दे दिये गए हैं, और जिन अंशों के वे पाठान्तर हैं उन्हें उल्टे 'कामों' से इंगित कर दिया गया है। जिन प्रतियों में ये पाठान्तर मिलते हैं, उनका निर्देश प्रस्तुत लेख के लिए अनावश्यक समझकर नहीं किया गया है, जिज्ञासु पाठक उन्हें उपर्युक्त मेरे संस्करण तथा अन्य संस्करणों में देखकर जान सकते हैं।

१. प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, प्रयाग, १९५२ ई०।
२. प्रकाशक—रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल, कलकत्ता, १९३९ ई०।

[१, २] बारह बानि और बनवारी

'पद्मावत' में पहला शब्द अनेक स्थलों पर आया है, यथा :

काह कसौटी कसिए 'कंचन बारह बानि'।[१] [अधिक चढ़ै तेहि बान]

कुन्दन कया दुवादस बानी।[२]

'कनक दुवादस बानि होइ' यह सोहाग वह माँग।[३]

[कनक दुवादस माँगतेहि]

'आईन-ए-अकबरी' में कहा गया है, "भारत में सोने की सर्वोच्च कक्षा की शुद्धता को 'बारह बानि' कहा जाता है, क्योंकि भारतीय शुद्धता की बारह कक्षाएँ मानते हैं।"[४]

दूसरा शब्द यद्यपि एक ही बार आया है किन्तु उसीसे सम्बद्ध है :

दीन्हि कसौटी 'औ बनवारी'।[५] [ओपनवारी]

आ० अ० में कहा गया है, "कुछ लम्बी शलाकाओं के सिरों पर, जो पीतल या वैसी ही किसी धातु की बनी होती हैं, सोने के छोटे-छोटे टुकड़े लगे होते हैं जिन पर उनकी शुद्धता अंकित रहती है। जब कारीगरों को सोने के किसी नवीन टुकड़े की शुद्धता जाँचनी होती है, वे इस नवीन टुकड़े से और फिर उक्त शलाकाओं से कसौटी पर रेखाएँ खींच लेते हैं और दोनों प्रकार की रेखाओं का मिलान करके वे उक्त सोने की शुद्धता जान लेते हैं [इन्हीं शलाकाओं को बनवारी कहा जाता है।]"[६]

[३] सूरजक्रान्त

यह शब्द 'पद्मावत' में दो बार आता है, किन्तु दोनों बार अत्यधिक पाठान्तर-बाहुल्य के साथ :

'सूरुज क्रान्ति करा जसि' निरमल नीर सरीर।[७]

[सुरुज किरिन तें आगरि, सु० क्रान्ति तें आगरि, सू० रानी तसकरा,
सु० करा तेइँ निरमल, सु० करा लित करा जस, सु० कराँ जस निरमल,
सु० क्रान्ति जस निरमल, सु० कीता कातिक जस, सु० करा नित आवै,
सु० करा नित आगरि, सु० किरिन जसि निरमल]

'सूरुज क्रान्तिकरा' निरमली।[८]

[सुरुज क्रान्ति ते सुठि, सु० क्रान्ति हुति गिव, सु० के करा ताहि,
सु० करा नित करा, सु० किरिनि हुतिगियँ, सु० क्रीति करा,
सु० कराँ हुति गियँ]

---

१. २७३.६।
२. ४६८.१।
३. १००.१।
४. जिल्द १, पृष्ठ १८।
५. ८३.५।
६. जिल्द १, पृष्ठ १६
७. ४६८.८।
८. ४८१.६।

यह 'सूर्यकान्त' है, जिसका विवरण 'सूरजकान्त' करके आ० अ० में इस प्रकार दिया गया है, "दोपहर के समय लोग एक गोल टुकड़ा, एक श्वेत और कान्तियुक्त पत्थर का, जिसे हिन्दी में 'सूरजकान्त' कहते हैं, धूप में रख देते हैं और तदनन्तर वे एक रुई का टुकड़ा उसके पास रख देते हैं जो कि उक्त पत्थर की आँच से जल उठता है।"[1]

[४-६] अवरंग, ओरँगा और ओरँगाना

पहला शब्द 'पद्मावत' में इस प्रकार आता है :

राघौ चेतनि चेतनि महा। 'आइ ओरँगि' राजा के रहा।[2] [आऊसरि]

आ० अ० में राज-सिंहासन को 'अवरँग' कहा गया है।[3] अतः 'ओरँगि' का अर्थ कदाचित् होगा, 'राज-सिंहासन के निकट'। 'पद्मावत' के उपर्युक्त शेष दो शब्द भी इसी अवरंग' से व्युत्पन्न प्रतीत होते हैं, यद्यपि इनमें से अन्तिम को 'अरकान-ए-दौलत' से व्युत्पन्न माना गया है :

'ओरँगा' केर कठिन है जाना।[4] [ओरिरँग]
सबै छत्रपति 'ओरँगन्ह' राजा।[5] [औगढ़]
छतिस लाख 'ओरँगन्ह' असवारा।[6] [दरिगह, तुरुक]
जाँवत अहै सकल 'ओरँगाना'।[7] [अरकाना]
अष्टौ कुरी नाग 'ओरँगाने'........।[8]
[वै, सब, सब ओरँगे, सब अरुझे, सब ढरिकै, सब वारगे,
ओरंगावन, अरघानी]

[७] बारगाह

'पद्मावत' में आता है :

चितउर सौंह बारिगह तानी।[9]

आ० अ० में खेमों-शामियानों के साथ इसे इस प्रकार वर्णित किया गया है, "बारगाह जब बड़ा होता है, १०,००० से अधिक व्यक्तियों के लिए पर्याप्त होता है। इसके लगाने में एक हज़ार फ़र्राश लगते हैं, जो यन्त्रों की सहायता से इसे एक सप्ताह में लगा पाते हैं।... सादा बारगाह (जिसमें सोने आदि का काम नहीं होता है) बनाने में १०,०००) या अधिक ही रुपये लगते हैं, और यदि वह अलंकृत बनाया जाता है, तो उसका मूल्य अपरिमित होता है।"[10]

१. जिल्द १, पृष्ठ ४०।
२. ४४६.१।
३. जिल्द १, पृष्ठ ४२।
४. ५२४.६।
५. २६.३।
६. ४५७.३।
७. १२८.२।
८. ६६.६।
९. ४६५.५।
१०. जिल्द १, पृष्ठ ५५।

[८-१०] देवजीरा, मधुकर और झिनवाँ

'पद्मावत' में अनेक प्रकार के चावलों के साथ इनका भी उल्लेख हुआ है :

मधुकर ढेला 'जीरा' सारी ।[१] [झीना]

'झिनवा' रौदा दाउद खानी ।[२] [छेउअन]

आ० अ० में 'देवजीरा' को उत्कृष्ट कोटि के चावलों में बताया गया है, और कहा गया है कि वह राजकीय भोजनालय के लिए ग्वालियर से आता था ।[३]

और, अन्यत्र उसमें कहा गया है, "सुखदास, मधुकर और झिनवाँ, जो अपनी सफ़ेदी, कोमलता, सुगन्धि और उत्कृष्टता में प्रायः अतुलनीय होते हैं, अवध में उत्पन्न होते हैं।[४]

[११] चुक

'पद्मावत' में यह इस प्रकार आता है :

चुक्क लाइ कै रींधे भाँटा ।[५]

आ० अ० में राजकीय भोजनालय की सामग्री में इसका भी उल्लेख करते हुए कहा गया है कि "यह एक अम्ल पदार्थ होता है, जो नारंगी और नींबू को इकट्ठा उबालकर बनाया जाता है ।"[६]

[१२-१५] पेड़ी, गड़ौता, नौनी और करहँज

'पद्मावत' में पान की पत्तियों के ये नाम इस प्रकार आते हैं :

पेंडी हुत सुनि रास बखानू ।[७]

जोग लीन्ह तन कीन्ह गड़ौना ।[८]

'कर भँज' किंगरी लै बैरागी ।[९] [करहिंजो]

'नेवती भएउँ' बिरह कै आगी ।[१०]

[नौतन होइ, ज्योतिन होइ, नेवती होहिं]

आ० अ० में कहा गया है, "पान की सात प्रकार की पत्तियाँ होती हैं जो नौ नामों से प्रसिद्ध हैं : (१) पेड़ी अर्थात् वह करहँज जो गवे के लिए छोड़ दिया जाता है, (२) नौती, (३) बहुती, (४) छीव, (५) अधिनीड़ा, (६) अगहनिया या लेवार, और (७) करहँज ।"[११]

१. ५४४.३ ।
२. ५४४.२ ।
३. जिल्द १, पृष्ठ ६० ।
४. जिल्द २, पृष्ठ १८१ ।
५. ५४८.३ ।
६. जिल्द २, पृष्ठ १८२ ।
७. ३०६.२ ।
८. ३०६.३ ।
९. ३०९.४ ।
१०. वही ।
११. जिल्द १, पृष्ठ ७७ ।

[१६] बाँक

'पद्मावत' में दो स्थलों पर आता है :

बाँका आनि छुवावहिं हेले ।[१]

आवहिं डोंब छुवावहिं बाँका ।[२]

आ० अ० में इसे शस्त्रों में गिनाया गया है[३] और तत्कालीन शस्त्रों के बनाये गए चित्रों में यह दो बल की खंजर के समान दिखाया गया है। टीकाओं में इसे धरिकारों का एक औजार बताया गया है।

[१७] जेबा

'पद्मावत' में आता है :

'जेबा' खोलि राग सो मढ़े।[४] [जीभा]

आ० अ० में इसे कवचों की सूची में गिनाया गया है।[५]

[१८] नारीं

'पद्मावत' में यह शब्द एक से अधिक बार आता है, यथा :

धरीं विषम गोलन्ह की 'नारीं'।[६] [मारा]

कहौं सिंगार सो जैसी नारीं।[७]

आ० अ० में दो सामान्य प्रकार की तोपों का उल्लेख किया गया है, "गजनाल—जो एक हाथी के द्वारा ले जाई जा सकती है, और नरनाल—जो एक मनुष्य के द्वारा ले जाई जा सकती है।"[८] और उसमें यह भी कहा गया है, "आजकल बहुत-सी तोपें इतनी बड़ी बनाई जाती हैं कि उनके गोले १२-१२ मन के होते हैं और उनमें से एक-एक को खींचने के लिए अनेक हाथी और एक हज़ार जानवर चाहिएँ।"[९]

[१६] चौरासी

'पद्मावत' में आता है :

चँवर मेलि चौरासी बाँधे।[१०]

आ० अ० में कहा गया है, "चौरासी बहुत-सी घंटियों का बना होता है जो एक कपड़े पर गुथी रहती हैं।"[११]

१. ५८०.४।
२. ६४२.६।
३. जिल्द १, पृष्ठ ११७।
४. ४६६.४।
५. जिल्द १, पृष्ठ ११८।
६. पृष्ठ ५०४.३।
७. पृष्ठ ५०७.१।
८. जिल्द १, पृष्ठ ११६।
९. वही।
१०. ५१३.५।
११. जिल्द १, पृष्ठ १२५।

[२०] टैया

'पद्मावत' में आता है :

टैया चँवर बनाए....।[१] [तैसे, नय्या, तैस]

आ० अ० में कहा गया है, "टैया पाँच लोहे की पट्टियों का बना होता है, जो एक-एक बित्ता लम्बी और चार-चार अंगुल चौड़ी होती हैं।" टैया के बाँधने की विधि भी उसमें दी हुई है।[२]

[२१] पाखर

'पद्मावत' में आता है :

गज मैं मत 'पखरे रजबारा'।[३] [सो राजा बारा, बिखरे रजबारा]
बरन बरन 'पखरे' अति लोने।[४]

आ० अ० में कहा गया है, "पाखर कवच (armour) के समान होता है, और फौलाद का बनाया जाता है; सिर और सूँड के लिए वह अलग-अलग होता है।"[५] टीकाकारों ने 'पाखर' का अर्थ 'झूल' किया है।

[२२] गज झाँप

'पद्मावत' में आता है :

—औ डाले 'गज झाँप'।[६] [गज झाँप, सब झाँप, गल झाँप, जगहस्त]

आ० अ० में कहा गया है, "गज झाँप एक प्रकार के मज़बूत कपड़े का बना होता है जो अलंकरण के लिए पाखर के ऊपर डाला जाता है। यह भव्य प्रतीत होता है।"[७]

[२३, २४] चौगान और हाल

'पद्मावत' में इनके सम्बन्ध की उक्तियाँ दो बार आती हैं :

तब पावौं बा दिल असनाऊँ। जीति मैदान गोइ ले जाऊँ।
आजु खरग चौगान गहि करौं सीस रन गोइ।
खेलौं सौहे साहिसों हाल जगत महँ होइ॥[८]
होइ मैदान परी अब गोई। खेल हाल दहुँका कर होई।...
हाल सो करै गोइलै बाढ़ा। कूरी दुहूँ बीह कै काढ़ा।....
मुहमद खेल पिरेम का खरी कठिन चौगान।
सीस न दीजै गोइ जौं हाल न होइ मैदान॥[९]

---

१. ५१२.८।
२. जिल्द १, पृष्ठ १३६।
३. ५१४.१।
४. ५१३.४।
५. जिल्द १, पृष्ठ १३६।
६. ५१२.८।
७. जिल्द १, पृष्ठ १३६।
८. ६२६.७-६।
९. ६२८. १, ४, ८, ९।

आ० अ० में कहा गया है, "चौगान का खेल दो प्रकार से खेला जाता है, जिनमें से एक यह है कि गेंद को चौगान के डण्डे के मुड़े हुए सिरे के द्वारा बढ़ाते हुए (मैदान के) बीच से हाल तक (उन स्तम्भों तक जो मैदान के सिरे पर उसकी सीमा चिह्नित करने के लिए गड़े रहते हैं) ले जाते हैं। इस प्रकार के खेल को रोल कहते हैं।....जब गेंद हाल तक पहुँच जाती है, तब नक्कारा बजाया जाता है, जिससे कि दूर और निकट के सभी सुन लें।....कभी-कभी बाज़ियाँ भी बदी जाती हैं, खिलाड़ी आपस में बाज़ियाँ जीतते हैं, और जो खिलाड़ी गेंद को हाल तक पहुँचा देता है, वह सबसे अधिक बाज़ियाँ जीतता है।"[1]

[२५-२८] अश्वपति, गजपति, नरपति और गढ़पति

'पद्मावत' में ये नाम दो बार आए हैं :

असुपतीक सिर मौर कहावा। गजपतीक आँकुस गजनावा।
नरपतीक कहाव नरिन्दू। भुअपतीक जग दोसर इन्दू।[2]
गढ़ पर बसहिं चारि गढ़पती। असुपति, गजपति 'औ नरपती।'[3]

[भुअनपति औ नरपती, भूनरपती]

आ० अ० में अश्वपति, गजपति, नरपति और गढ़पति—चार प्रकार के राजा बताये गए हैं—यद्यपि ये ताश के खेल के राजों के प्रसंग में बताये गए हैं : "अश्वपति वह कहलाता है जिसकी शक्ति घोड़ों की संख्या में सन्निहित होती है; गजपती वह जिसकी शक्ति हाथियों की संख्या में सन्निहित होती है, और नरपती वह जिसकी शक्ति पैदल सेना में सन्निहित होती है।"[4] यद्यपि 'गढ़पती' का लक्षण उसमें नहीं दिया गया है, किन्तु उपर्युक्त से यह अनुमान किया जा सकता है कि 'गढ़पती' वह कहलाता है जिसकी शक्ति अपने सुदृढ़ गढ़ में सन्निहित होती है।

[२९-३२] आउज, सुरमण्डल, पिनाक और अँबिरती

'पद्मावत' में आता है :

जन्त्र पखाउझ 'आउझ' बाजा।[5] [औजत, आवजो]
'सुरमण्डल' रबाब भल साजा।[6] [सुर मादर]
'बीन पिनाक' कुमाइच कहे।[7] [बीना बेनु]
'बाजि अँबिरती' अति गह गहे।[8] [बाजे अंब्रित]

आ० अ० में ठोंककर बजाए जाने वाले बाजों में 'पखावज' के साथ ही 'आवज' तथा

१. जिल्द १, पृष्ठ ३०६।
२. २६.६, ७।
३. ४४.१।
४. जिल्द १, पृष्ठ ३१८।
५. ५२७.३।
६. ५२७.२।
७. ५२७.३।
८. वही।

तन्त्र-वाद्यों में अन्यों के साथ 'सुरमण्डल', 'पिनाक' तथा 'अंब्रिती' भी हैं।[१]

प्रत्येक प्रयोग में भूलें होने की सम्भावना होती है, और किसी भी विकृत प्राचीन वस्तु को उसके अपने मूल रूप में पुनर्निर्मित करने में तो यह सम्भावना और भी अधिक होती है। अतः 'पद्मावत' के मेरे पाठ-निर्धारण और पाठ-पुनर्निर्माण-सम्बन्धी प्रयोग में भी भूलें हो सकती हैं। ऊपर आये ३२ विशिष्ट शब्दों में से अन्तर केवल (१३) तथा (१५) के सम्बन्ध में है। मेरे संस्करण के 'गड़ौना' के स्थान पर आ० अ० में शब्द 'गड़ौता' है, और मेरे संस्करण के 'करभँज' के स्थान पर आ० अ० में शब्द 'करहँज' है। आ० अ० के 'गड़ौता' पाठ की शुद्धता के सम्बन्ध में तो मैं नहीं कह सकता, किन्तु मेरे संस्करण के 'गड़ौना' पाठ की शुद्धता प्रमाणित है; क्योंकि 'गड़ौता' पाठ से तुक बिगड़ जाता है :

सुनि तुम्हार संसार बड़ौना। जोग लीन्ह तन कीन्ह गड़ौना।

असम्भव नहीं कि आ० अ० में प्रतिलिपि की भूल से 'नूँ' का 'ते' हो गया हो—अन्तर केवल एक और दो बिन्दुओं का है। मेरे 'करहँज' पाठ की शुद्धता इतने स्पष्ट रूप से प्रमाणित नहीं है, फिर भी जहाँ छूटने और बढ़ने का प्रश्न आता है, प्रतिलिपि-क्रिया में छूटने की सम्भावना कहीं अधिक होती है। अतः असम्भव नहीं कि आ० अ० के भी मूल पाठ में 'करभँज' ही रहा हो, और प्रतिलिपि-क्रिया में उसका 'वे' छूट गया हो। किन्तु यदि भूल मेरी ही ओर हो तो भी बत्तीस में से एक के सम्बन्ध में भूल—और वह भी इतनी साधारण भूल—मुझे हर्ष है कि मेरे उन सम्पादन-सिद्धान्तों की यथार्थता ही प्रमाणित करती है जिनके आधार पर मैंने 'जायसी-ग्रन्थावली' के अपने उक्त संस्करण में 'पद्मावत' का पाठ-निर्धारण और पुनर्निर्माण किया है।



अगरचन्द नाहटा

'पृथ्वीराज रासो' का विस्तार

साधारणतया जो वस्तु २५-३० हजार से ऊपर की संख्या में चली जाती है, उसे हम लाख की संख्या में सम्बोधित करते हुए लोगों को पाते हैं। 'महाभारत' और 'सूरसागर' के श्लोकों एवं पदों का परिमाण भी लाख की संख्या में कहा व सुना जाता है। यही बात 'पृथ्वीराज रासो' के सम्बन्ध में भी हुई। वर्तमान शोधक विद्वानों में सर्वप्रथम श्री जेम्स कर्नल टॉड ने अपने 'एनल्स एण्ड एण्टीक्यूटिस ऑफ राजस्थान' में रासो का परिमाण लाख श्लोक परिमाण का बतलाया है। उन्होंने ३० हजार श्लोकों के अनुवाद करने का भी उल्लेख किया है।

पाश्चात्य विद्वानों में रासो पर मुग्ध और उसके मर्मज्ञ सर्वप्रथम विद्वान् टॉड ही थे।

तदनन्तर माननीय गौरीशंकर ओझा ने 'कोशोत्सव-स्मारक संग्रह-ग्रन्थ' में प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो का निर्माण-काल' शीर्षक अपने लेख में एक प्राचीन प्रमाण के आधार पर रासो के एक लाख पाँच हजार श्लोक प्रमाण होने के प्रवाद को दोहराया। वे लिखते हैं—"भाषा-

१. जिल्द ३ पृष्ठ २६९-७०।

साहित्य के आधुनिक इतिहास-लेखक जब 'पृथ्वीराज रासो' की घटनाएँ अशुद्ध बताते हैं तब यह कहते हैं कि मूल 'पृथ्वीराज रासो' छोटा होगा और पीछे लोगों ने उसे बड़ा दिया हो, यह सम्भव है।" परन्तु यह कथन भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि चन्दबरदाई के वंशधर कवि यदुनाथ ने करौली के यादव राजा गोपाल पाल (गोपालसिंह) के राज्य-समय अर्थात् वि० सं० १८०० के आस-पास 'वृत्त विलास' नामक ग्रन्थ बनाया। उसमें वह अपने वंश का परिचय देते हुए लिखता है कि "चन्द ने एक लाख पाँच हज़ार श्लोक के परिमाण का 'पृथ्वीराज रासो' के चरित्र का रासो बनाया।

एक लाख रासो कियो सहस पंच परिमाण।
पृथ्वीराज नृप को सुजसु जाहर सकल जहान॥

यह कथन नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित रासो के परिमाण से मिल जाता है। यदुनाथ के यहाँ अपने पूर्वज का बनाया हुआ मूल ग्रन्थ अवश्य होगा, जिसके आधार पर ही उसने उक्त ग्रन्थ का परिमाण लिखा होगा। ऐसी स्थिति में 'पृथ्वीराज रासो' के छोटे होने की कल्पना होनी ही निर्मूल है।"

पता नहीं ओझाजी-जैसे संशोधक विद्वान् ने, नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित रासो का परिमाण 'वृत्त विलास' के उल्लेख से मिलान खाता है, यह बिना जाँच के कैसे लिख दिया। सभा के प्रकाशित संस्करण का भी परिमाण उससे आधा भी नहीं है।

मुझे और भी अधिक आश्चर्य होता है जब कि हमारे विद्वान् बिना किसी तरह की जाँच किये रासो के परिमाण के सम्बन्ध में वही बात अब तक दोहराते जाते हैं। उदयपुर के डॉक्टर मोतीलाल मेनारिया की थीसिस 'राजस्थान का पिंगल साहित्य' के नाम से सन् १९५२ में प्रकाशित हुई, उनमें वे लिखते हैं कि जो भी हो 'पृथ्वीराज रासो' से हमारा अभिप्राय यहाँ उस रासो से है जिसमें एक लाख छन्द और ६९ सर्ग हैं, जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा तथा बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की तरफ से प्रकाशित हुआ है।

कर्नल टॉड ने जो ३० हजार श्लोकों का अनुवाद करने की बात लिखी है वह भी कहाँ तक ठीक है, कहा नहीं जा सकता। पर मेनारिया जी ने अपने इस ग्रन्थ के पृष्ठ ३३ में टॉड के कथन का हिन्दी-अनुवाद दिया है, उसमें ३ हजार छन्दों का अंग्रेजी-अनुवाद करने का लिखा है। पता नहीं ३० हजार का ३ हजार उन्होंने अपनी कल्पना से किया है अथवा मूल या किसी आधार से। सन् १९५२ में प्रकाशित पण्डित दुर्गाशंकर मिश्र 'पारिजात' की 'हिन्दी कवियों की काव्य-साधना' पुस्तक के पृष्ठ ११ में ३० हजार पद्यों का अनुवाद करने का उल्लेख किया गया है। जहाँ तक मेरा खयाल है कर्नल टॉड का रासो का परिमाण एक लाख 'छन्द' और अनुवाद ३० हजार पद्यों का करने का अभिप्राय न होकर इतने श्लोक परिमाण का है। ३२ अक्षरों का एक श्लोक अनुष्टुप छन्द का श्लोक माना जाता है। रासो के कई-कई छन्द तो बहुत ही बड़े हैं। उनके एक छन्द या पद्य में अनेक श्लोक माने जायँगे।

अब सर्वप्रथम हम रासो के परिमाण के सम्बन्ध में प्रकाशित संस्करण प्राप्त प्रतियों के आधार से विचार करते हैं। सबसे पहले नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण को ही लें। सभा के संस्करण के कुल २६१५ पृष्ठ हैं। प्रत्येक पृष्ठ में करीब २० से २४ पंक्तियाँ हैं और प्रति पंक्ति में १६ से ४२ तक अक्षर छपे हैं। इसीसे मध्यवर्ती शब्द-संख्या गिनने से रासो का परिमाण ३६००० श्लोक

होने की गणना बैठती है। इसमें से अन्तिम 'महोबा समय' तो वास्तव में रासो से अलग ही है। इसलिए 'महोबा समय' को बाद में दे देने से पृष्ठ-संख्या २५०६ ही रहती है और उसका परिमाण तो ३४००० के करीब ही रहता है। बहुत-से पृष्ठों में पंक्तियों व अक्षरों की संख्या कम है, इसलिए वास्तव में परिमाण ३० से ३२ हजार के बीच में ही समझना चाहिए। बृहद् संस्करण की हस्त-लिखित प्रतियों की जाँच करने से भी यही बात सिद्ध होती है। श्री मोतीलाल मेनारिया यदि अपने 'राजस्थान में हिन्दी के हस्त-लिखित ग्रन्थों की खोज' भाग (एक) में रासो में दिये हुए अपने विवरण पर ही ध्यान देते तो वे रासो का परिमाण १ लाख छन्द बतलाने का कभी भी प्रयत्न नहीं करते। उनकी प्रति नम्बर ४ के विवरण में श्लोक-संख्या २६००० स्पष्ट लिखी हुई है। अन्य प्रतियों की गणना करने से भी इसीके करीब व इससे कम ही परिमाण निकलेगा। उदाहरणार्थ संवत् १७६० वाली जिस प्रति को वे सबसे अधिक महत्त्व की मानते हैं और जिसमें पूरे ६६ समय होने की सूची भी दी गई है, उसकी पृष्ठ-संख्या ८४६ है, प्रति पृष्ठ पंक्ति ११ और प्रति पंक्ति ३३ से ३६ अक्षर होना कहा गया है। इससे तो परिमाण और भी कम बैठता है, यों हमारी गणना से २७॥ हजार श्लोक का ही परिमाण बैठता है।

रासो की हस्त-लिखित प्रतियों का सबसे अधिक विवरण इन पंक्तियों के लेखक ने ही संग्रहीत किया है। उनमें अभी तक ३०००० श्लोक से अधिक परिमाण की कोई भी प्रति कहीं भी जानने में नहीं आई। कई प्रतियों में तो परिमाण प्रति के लेखकों ने भी दे दिया है, अन्य की गणना कर ली गई है।

रासो के परिमाण के सम्बन्ध में दो प्रकार के प्रमाण मिलते हैं। प्रथम तो रासो के अन्दर उल्लिखित है और दूसरा प्रति के लेखकों ने गणना करके लिखा है। जहाँ तक स्वयं रासो के उल्लेखों का सम्बन्ध है उसके लघुतम संस्करण में पाँच हजार मध्यम और बृहद् संस्करण में ७००० श्लोक होने का सूचक पद्य पाया जाता है।[1] पंडित मथुराप्रसाद दीक्षित को रासो का मध्यम संस्करणल ही प्राचीन प्रतियों में प्राप्त हुआ था और उसमें 'सत सहस रासो' वाला पाठ मिला।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि रासो को लक्षाधिक श्लोक परिमाण बतलाने की परम्परा कितनी प्राचीन है। सं० १८०० के आस-पास के रचित 'वृत्त विलास' का उद्धरण तो ऊपर दिया ही जा चुका है, मुझे इससे भी कुछ प्राचीन उल्लेख प्राप्त हुआ है।

गत वर्ष जैन मुनि विनयसागर जी से मुझे रासो की दो खण्डित प्रतियाँ प्राप्त हुई। उनमें से 'कणवज खण्ड' वाली प्रति में १३८४ पद्य हैं और इस प्रति के अनुसार इस समय का परिमाण ४०३४ श्लोकों का व इस समय की संख्या ५८वीं है। यह प्रति संवत् १७७७ के माघ कृष्णा ५ शनिवार को सीतामऊ में खरतरगच्छ के उपाध्याय अमरनन्दन के शिष्य घनसुन्दर के द्वारा लिखी हुई है। इसका श्लोक परिमाण ४०३५ लिखने के पश्चात् २ पद्य कुछ पीछे से लिखे हुए इस प्रकार मिलते हैं :

संवत शिव पैंतीस में अष्टम रवि उजियाल।
चन्द विरुदय कवि यणह ग्रन्थ सुरच्यो विसाल। १३८५

१. दो प्रतियों में ३२ एवं ४२ हजार परिमाण दिया है पर गणना करने पर वह बैठता नहीं है।

सवा लक्ख संख्या सकल, अधिक अपूरव वत्त।
वेद सुक्त पुराणमय वरणि वार्ता सत्य ॥ १३८७

इनमें से पहले पद्य में रासो का रचना-काल ११३५ बतलाया है, जो अब तक कहीं भी देखने में नहीं आया और दूसरे में उसका परिमाण सवा लाख श्लोक का। कहना नहीं होगा कि ये दोनों ही बातें भ्रान्त एवं कल्पित हैं। वास्तव में रासो की आज तक कहीं भी, कोई भी प्रति लाख श्लोक परिमाण की नहीं मिलती।



डॉक्टर टीकमसिंह तोमर

जटमल और उसकी 'गोरा-बादल की कथा'

जीवन-वृत्त

जटमल ने अपने विषय में लिखा है कि "मोरछड़ो के शासक पठान सरदार, नासिरनन्द अलीखाँ न्याजीखाँ के समय में धर्मसी के पुत्र नाहर खाँ जटमल ने सिंबुला ग्राम के बीच अपने ग्रन्थ की रचना की!" सम्भवतः नाहरखाँ जटमल की उपाधि थी अथवा वह मुसलमान हो गया था। श्री ओझाजी ने कवि जटमल-रचित 'गोरा-बादल की बात' शीर्षक लेख में लिखा है कि ओसवाल महाजनों की जाति में नाहर एक गोत्र है, अतएव सम्भव है कि जटमल जाति का ओसवाल महाजन हो।[1]

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की सन् १९४० की हस्त-लिखित ग्रन्थों की अप्रकाशित खोज-रिपोर्ट में गोरा-बादल की कथा की एक नई प्रति का उल्लेख किया गया है। यह हस्त-लिखित ग्रन्थ पण्डित मदनलाल जी ज्योतिषी मिश्र, लक्ष्मण जी के मन्दिर के पीछे, भरतपुर के पास सुरक्षित है। इस ग्रन्थ में जटमल का यह वृत्त दिया है :

"आणद उछब होत घर-घर देषता नहीं सोक।
राजा तिहा अलीषान नु' षानना सुर नन्द ॥
सकल सरदार पाठाण माहे अनु नषत्र मां चन्द।
घरमसीहुँ नन्द नाहर जाट जटमल नाम।
कही कथा वरण्य कें विच साँवेला गाम ॥
कहाँ यकाँ आणंद उपजत सुणत सब सुष होइ।
जटमल हो गुणी अणाँ विघन न लागे कोइ ॥"[2]

इस उद्धरण के अनुसार नासिरखाँ के पुत्र अलीखाँ के समय में धर्मसिंह के आत्मज नाहर जटमल जाट ने साँवेला ग्राम में इस कथा की रचना की। इस विवरण से नाहर जटमल की उपाधि प्रतीत होती है और उनकी जाति जाट ठहरती है।

"संबला (सुबुला, साँवेला) गाँव कहाँ है इसका पता अभी तक नहीं चला, पर

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १३, पृष्ठ ४०२।
२. का० ना० प्र० सभा की अप्रकाशित खोज-रिपोर्ट, १९४०, M. S. ७१/१९९।

इतना तो निश्चित है कि वह (जटमल) मेवाड़-निवासी नहीं था। यदि ऐसा होता तो चित्तौड़ के राजा रत्नसेन को जो गुहिल वंशी था, कदापि वह चौहान-वंशी न लिखता।"[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि श्री ओझाजी का उक्त मत केवल अनुमान पर अवलम्बित है। जटमल की इस ऐतिहासिक भूल का कोई और भी कारण हो सकता है।

जटमल-कृत 'गोरा-बादल की कथा' की प्राप्त हस्त-लिखित प्रतियों में उसके विभिन्न नाम मिलते हैं, यथा 'गोरे-बादल की कथा', 'गोरा-बादल री कथा', 'गोरा-बादल की बाता'।

जटमल ने इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० १६८५ फाल्गुन पूर्णिमा (१६२८ ई०) अथवा १६८० वि० (१६२३ ई०) में की थी।[2]

जटमल ने अपने उक्त ग्रन्थ में अलाउद्दीन के चित्तौड़-दुर्ग के आक्रमण के अवसर पर गोरा-बादल के द्वारा वीरता प्रदर्शित करने का वर्णन किया है।

कथानक

जटमल-कृत 'गोरा-बादल की कथा' का कथानक ऐतिहासिक होते हुए भी उसमें रोचकता लाने के लिए पर्याप्त काल्पनिक अंश वर्तमान है। ग्रन्थ के आरम्भ में राणा रत्नसेन और भाट की वार्ता में नाटकीय त्वरा के दर्शन होते हैं। योगी का आगमन, उसकी सहायता से मृग-चर्म पर उड़कर सिंहल द्वीप पहुँचना तथा रत्नसेन को पद्मावती की प्राप्ति के उपाय, एकदम असम्भव तथा आकस्मिक घटनाएँ हैं, पर इनसे कथानक में विस्मय, चित्ताकर्षकता और रोचकता का समावेश हो गया है। इस प्रकार की घटनाएँ काल्पनिक जगत् में ही होती हैं, व्यावहारिक क्षेत्र में उनका होना सम्भव नहीं। जटमल ने चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी कथानक में परिवर्तन किये हैं। अनेक स्थलों पर कवि अधिक स्वाभाविक कारण उपस्थित करता है।

जटमल ने पात्रों के भावों—कृतज्ञता, वीरता, वात्सल्य आदि—के सफल चित्रण के लिए कथानक का समुचित प्रयोग किया है, पर उसने स्त्री-पुरुष-जाति-वर्णन द्वारा कथानक की शृङ्खला को नष्ट कर दिया है। इससे कथावस्तु को भारी आघात पहुँचा है। जटमल ने कतिपय स्थलों पर कथानक के निर्वाह में भयंकर भूलें भी कर दी हैं।

ऊपर के विवेचन के पश्चात् ज्ञात होता है कि जटमल ने कथानक के प्रयोग में कुछ त्रुटियाँ की हैं, पर उसके अधिक रोचक बनाने के लिए कल्पना-शक्ति की भी पूर्ण सहायता ली है। कथानक-चित्रण में उसे पर्याप्त सफलता मिली है।

जटमल ने 'गोरा-बादल की कथा' में प्रचलित वीर-काव्य-शैली का प्रयोग किया है, पर नाम गिनाने, नादात्मक और द्वित्व-वर्ण वाली पद्धति का नहीं के बराबर प्रयोग किया है। ऐसा करने से ग्रन्थ की रोचकता में वृद्धि हुई है। पर अनुप्रास के फेर में पड़ने के कारण 'गोरा-बादल की कथा' कहीं-कहीं पर नीरस और अरोचक हो गई है। जहाँ पर जटमल ने नाम गिनाने की चेष्टा की है वहाँ पर भी काव्यगत गुणों की हानि हुई है। कहीं-कहीं पर शब्दों की तड़क-भड़क ही के जाल में दृष्टि फँस जाती है।

इस ग्रन्थ में ब्रज भाषा का प्रयोग हुआ है पर उस पर सर्वत्र राजस्थानी का प्रभाव वर्तमान है। यदि यह कहा जाय कि 'गोरा-बादल की कथा' की भाषा कतिपय स्थलों पर राजस्थानी

---

१. का० ना० पत्रिका, भाग १३, पृष्ठ ४०२।

२. 'गोरा-बादल की कथा', छं० १४६ (पाद-टिप्पणी सहित)।

के भार से इतनी दब गई है कि उसके वास्तविक स्वरूप का जानना कठिन हो जाता है, तो अनुचित न होगा। जटमल ने संस्कृत की शब्दावली के अपभ्रंश-रूपों का प्रयोग किया है, जैसे खेत (क्षेत्र), लक्खण (लक्षण), प्रापत (प्राप्त) इत्यादि।

इसके साथ ही फारसी-अरबी आदि के अमली (शासक), हरम, दीदार शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार जटमल की शैली और भाषा कतिपय दोषों और त्रुटियों से युक्त होते हुए भी काव्योचित गुणों से ओत-प्रोत है। वास्तव में जटमल और उसका काव्य 'गोरा-बादल की कथा' हिन्दी-साहित्य में कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।



मूल्यांकन

बच्चनसिंह

संस्कृति और सभ्यता के रूप

स्वातन्त्र्य-संग्राम के जागरण-काल में, जब देश राजनीतिक दृष्टि से ही विदेशियों का दास नहीं था, बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से भी दासता की ओर तेजी से बढ़ रहा था, जयशंकर 'प्रसाद' ने सांस्कृतिक जागरण का तूर्य-नाद किया। उनके कई प्रमुख ऐतिहासिक नाटकों में भारतीय तथा अभारतीय संस्कृतियों का संघर्ष चित्रित हुआ है।

देश की स्वतन्त्रता के बाद-युग की करवट के साथ, हमारी समस्याएँ भी बदलीं। राष्ट्रीयता का जो स्वर 'प्रसाद' के नाटकों में पाया जाता है वह बहुत-कुछ मन्द पड़ गया। उसके स्थान पर देश के सांस्कृतिक गौरव तथा उसके पुनर्मूल्यांकन की ओर लेखकों और विचारकों की दृष्टि गई। अंग्रेजों के डेढ़ सौ वर्षों के शासन में देश को पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क में आना पड़ा। उनके अनेक गुण-दोषों का प्रभाव हमारे ऊपर पड़ा। इसके फलस्वरूप कुछ नई समस्याएँ भी उत्पन्न हो गई हैं। यहाँ पर हम जिन नाटकों का मूल्यांकन करने जा रहे हैं वे किसी-न-किसी रूप में पूर्वीय और पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता से सम्बद्ध हैं। 'वितस्ता की लहरें' दो विभिन्न जातीय आदर्शों और संस्कृति के संघर्ष की कहानी है। 'धर्म की धुरी' गांधीवादी आदर्शों पर, जो मूलतः आध्यात्मिक और सांस्कृतिक हैं, टिकी हुई है। 'अपना-पराया' के बीच खींची जाने वाली विभाजक रेखा वंश-परम्परा को अपना आधार न मानकर वातावरण-सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से उन्नत या अनुन्नत समाज को अपना आधार बनाती है। 'पर्दे के पीछे' के अधिकांश एकांकी आधुनिक सभ्यता के विकृत पक्षों तथा भ्रान्तिपूर्ण सांस्कृतिक मूल्यों पर व्यंग्य हैं।

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र मूलतः आदर्शवादी कलाकार हैं। भारतीय संस्कृति में अपनी अटूट आस्था और अडिग विश्वास को उन्होंने 'वितस्ता की लहरें' में व्यक्त किया है। उक्त नाटक के कथा-संकेत में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—"वितस्ता के तट पर दो विभिन्न जातियों और संस्कृतियों की टक्कर हुई थी जो अपने विधि-विधान और जीवन-दर्शन में एक दूसरी के विपरीत थीं। यवन-सैनिकों में विजय का उन्माद था तो पुरु और केकय जनपद के नागरिकों में देश के धर्म और पूर्वजों के आचरण की रक्षा का भार। दोनों ने एक-दूसरी को जाना और समझा और बहुत अंशों में वैर और द्रोह मिटाकर शील और

सहयोग के बढ़ने का अवसर दिया गया....''

अपने उपर्युक्त दृष्टिकोण को मूर्त रूप देने के लिए मिश्रजी ने परम्परा-मुक्त कथा को नया मोड़ दिया है। मिश्रजी की कल्पना के अनुसार पुरु अलिक सुन्दर से हारता नहीं बल्कि परिस्थितियाँ स्वयं विजयी को सम्मानजनक सन्धि करने पर बाध्य करती हैं। यूनानी इतिहास-लेखकों के आधार पर पुरु की पराजय सर्वथा असन्दिग्ध नहीं मानी जा सकती। नाटक के दूसरे अंक में पुरु यूनानी दूत टियोनस से उसके इतिहास-लेखकों पर सन्देह प्रकट करते हुए कहता है—"कितनी बातें जो इनकी समझ में न आयँगी—नीचे-ऊपर कर लिख दी जायँगी। तुम्हारी स्तुति और दूसरों की निन्दा होगी इनके इतिहास में। आगे आने वाले विचारक इस इतिहास से भ्रम में पड़ेंगे....।" ऐतिहासिक घटनाओं को नाटकीय रूप देने के लिए उसके कुछ तथ्यों को नया रूप दिया गया है। अलिक सुन्दर की प्रेयसी ताया का अपहरण तथा अभागे दारयहु की कन्या आर्त्तकाया की दो छोटी बहनों का यवन-शिविर से उद्धार ऐसी ही घटनाएँ हैं। पुरु के पुत्र का अन्त तक जीवित रखना ऐतिहासिक प्रमाणों के विरुद्ध है। इसे भारतीय नाट्य-सिद्धान्त की सुखात्मक परिणति का तकाज़ा समझना चाहिए। काल्पनिक स्वच्छन्दता का यथोचित उपयोग करते हुए भी उन्होंने इतिहास के मूल ढाँचे को बनाए रखा है।

यों भारतीय संस्कृति की भाँति यूनानी संस्कृति भी प्राचीन और महत्त्वपूर्ण स्वीकार की गई है। फिर भी अलिक सुन्दर का ध्वंसमूलक बर्बरतापूर्ण आक्रमण उसे बर्बर और विश्वासघाती सिद्ध करता है। दारयहु की कन्याओं का अपहरण, अश्मक नेता अश्वकर्ण की पत्नी को छीन लेना, सुन्दरी ताया का पशा पोलस के विशाल भवनों में आग लगाना और स्वयं विजयी का इसकी प्रशंसा करना आदि घटनाएँ उसकी सांस्कृतिक हीनता का परिचय देती हैं। आयुधजीवियों को किले के बाहर सुरक्षापूर्वक निकल जाने का वचन देकर भी उन पर विश्वासघाती आक्रमण करना उसके चरित पर अमिट दाग है। यूनानी इतिहासकार प्लूटार्क लिखता है—"यह आचरण उसके सामरिक यश पर काला धब्बा है"[१]—"खेत में काम करते हुए मालवों पर टूट पड़ना सामरिक नीति के विरुद्ध था"[२]—यूनानी संस्कृति का यही इतिहास-सम्मत दृश्य इस नाटक में अंकित हुआ है। यूनानी संस्कृति का यह चित्रांकन मिश्रजी के प्रथम नाटक 'अशोक' की याद दिलाता है। उक्त नाटक में मिश्रजी का दृष्टिकोण इसके ठीक विपरीत था। वहाँ पर ऐतिहासिक तथ्यों के साथ भी खिलवाड़ किया गया था। इस नाटक में उसका पूरा प्रायश्चित्त कर दिया गया है। किन्तु भारतीय संस्कृति का जो उदात्त सांस्कृतिक चित्र खींचा गया है वह कोरा आदर्शात्मक तथा एकांगी हो गया है। चरित्रों की स्वाभाविकता पर भी इसका बहुत अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा है।

'प्रसाद' के नाटक भी मूलतः भारतीय संस्कृति का चित्र उपस्थित करते हैं। किन्तु उनसे हमें सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की प्रेरणा मिलती है। प्राचीन ऐतिहासिक आच्छादन में उन्होंने वर्तमान और भविष्य के संकेत भी दिए हैं। मिश्रजी का दृष्टिकोण इतना व्यापक नहीं है। भारतीय संस्कृति का व्यामोह उन्हें इस प्रकार जकड़े हुए है कि उनकी पुनरुत्थानवादी (revivalist) प्रवृत्ति अपनी सीमाओं के बाहर नहीं झाँक पाती। संस्कृति के गत्यात्मक पक्ष पर ध्यान न देने

१. मैक क्रण्डल, पृष्ठ ३६०।
२. एरियन। ६,६।

से उसका अंकन बहुत-कुछ स्थिर और जड़ हो गया है। भूमर्ध सामन्तीय संस्कृति (बालक ब्राह्मण का वृद्ध क्षत्रिय से श्रेष्ठ मानना 'पुत्रार्थे क्रियते भार्या' मिहर-परम्परा में अटूट आस्था आदि) वीर-पूजा के संकेत हैं। भारतीय संस्कृति के इन महान् आदर्शों के साथ-साथ उन्हें तक्षशिला के बाजारों में निर्धन पिताओं का पशुओं की भाँति अपनी कन्याओं का बेचना भी देखना चाहिए था। वहाँ की बहु-विवाह-प्रथा पर भी दृष्टि डालनी चाहिए थी।

जातीय धर्म और गौरव की रक्षा के लिए पुरु ने जिस अदम्य उत्साह, अभूतपूर्व पौरुष और रण-नीति का परिचय दिया है उसे नाटककार ने पूरी सफलता से अंकित किया है। उसका समर्थ व्यक्तित्व सामाजिकों का आकर्षण-बिन्दु है। उसके व्यक्तित्व की महनीयता नाटकीय वातावरण को गम्भीर बनाती गई है। किन्तु भारतीय संस्कृति के प्रति आग्रह और अतिशय निष्ठा (जिसे मिश्रजी ने कथा-संकेत में अस्वीकार किया है) पुरु को मानवीय दुर्बलता की भूमि पर खड़ा होने भी नहीं देती। जबरदस्त प्रतिद्वन्द्वी के अभाव में उसका चरित्र उतना निखर नहीं पाता। 'प्रसाद' ने 'चन्द्रगुप्त' में पुरु को अपेक्षित महत्त्व नहीं दिया तो मिश्रजी ने अलिक सुन्दर को। अलिक सुन्दर की विजय की पूर्वगाथाएँ मोलियर के चरित्रों की भाँति पुरु को 'लिलीपुट द्वीप' में जाने से बचा लेती हैं, फिर भी एक हद तक अन्य पात्र उसके सामने बौने ही दिखाई पड़ते हैं। विष्णुगुप्त ऐसे नीतिज्ञ और कूट के पंडित से उसका मत-वैभिन्न्य उसको एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करता है। यवन-नीति को आत्मसात् करने वाला विष्णुगुप्त अपनी कूटनीतिज्ञता, संघटना-क्षमता और कार्य-कुशलता में काफी अच्छी तरह अंकित किया गया है।

ताया के शब्दों में लेखक ने मानवता को नया संदेश देते हुए लिखा है—"कुछ ऐसा हो कि मानवता के घाव पर शीतल विलेपन लगे और वितस्ता की लहरों में अनुराग का जल हो।" किन्तु क्या आज के युद्ध-लोलुप स्वार्थी-राष्ट्र अपने उन्माद को भूलकर शत्रु की वीरता, क्षमा, दया को वही मान्यता देंगे? आज की बहुमुखी समस्याएँ पहले की अपेक्षा अधिक उलझी हुई हैं। हृदय-परिवर्तन के सरल ढंग आज की भयग्रस्त और संत्रस्त मानवता की पीड़ा दूर करने में बहुत अधिक समर्थ नहीं हैं। इसके लिए जबरदस्त ऑपरेशन की आवश्यकता है।

'वितस्ता की लहरें' में एक स्थान पर पुरु ने कहा है—"शरण से जो सम्भव नहीं है उससे कहीं अधिक दया और शील से सम्भावित है।"

राजा राधिकारमण प्रसादसिंह की 'धर्म की धुरी' की टेक भी वही है। इस नाटक में विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न साम्प्रदायिक दंगों को क्षमा और शील से शान्त किया जाता है। अहमद गांधीवादी मुसलमान है। वह कहता है—"मुहम्मद साहब अपनी नमाज में बराबर कहा करते थे कि ऐ अल्लाह! मैं गवाही देता हूँ कि सब आदमी भाई-भाई हैं।" सन्तशरण गांधीवादी हिन्दू हैं। वे हिन्दू-धर्म और संस्कृति की व्यापक व्याख्या करते हैं—"एक ईश्वर—राम, अल्लाह या गॉड—जो कहो। हर आदमी उसका बन्दा, और आपस का मेल-जोल-भाई चारा। धर्म का प्राण ही ठहरा प्रेम—विश्व प्रेम।" यह विश्व-प्रेम मानवतावाद की नई पुकार है। अहमद एक हिन्दू की रक्षा करता हुआ साम्प्रदायिकता की अग्नि में जलकर राख हो जाता है। संतशरण उसकी बीबी और बच्चे की रक्षा करते हैं। एक हिन्दू शरणार्थिनी महिला का विवाह कराने में भी वे सफल होते हैं। अन्त में लोगों का साम्प्रदायिक उन्माद शान्त हो जाता है और वे सन्तशरण के मुरीद हो जाते हैं।

एक पूर्वनिश्चित योजना और आदर्शवादी परिणति के कारण कथानक बहुत-कुछ यान्त्रिक और सपाट हो गया है। जीवनगत वक्रता, जो इस योजना का अंग नहीं बन सकती थी, जान-बूझकर बहिष्कृत कर दी गई है। सिद्धान्तों के ऊहापोह में उत्सुकता का पता नहीं चलता। नाटक का परिपाटीग्रस्त अंत (conventional ending) उसी प्रकार का है जिस प्रकार 'एक था राजा' की कहानी के अन्त में कहा जाता है—"जैसा उनका राज-पाट लौटा वैसा सात घर सुहई हों तो उनका भी लौटे।"

नाटक के सभी पात्र किसी-न-किसी सिद्धान्त को ढोते फिरते हैं। उनकी प्रतीकात्मक ठठरियों पर मानवीय मांसलता नहीं दिखाई पड़ती। रक्त-मांसहीन छाया-पुत्तलिकाओं की भाँति वे सूत्रधार के हाथ में नाचते रहते हैं।

राजा साहब का दूसरा नाटक 'अपना-पराया' 'धर्म की धुरी' की अपेक्षा अधिक नाटकीय और कार्यपूर्ण है। इसका कथानक भी अपेक्षाकृत कम पिटा हुआ है। इस नाटक का सम्बन्ध भी हिन्दुओं और मुसलमानों से है, दो भिन्न-भिन्न समाजों से है। आवारागर्द यूसुफ़ का तथा-कथित पुत्र गुलाब सुरेश से निरन्तर आर्थिक सहायता उपलब्ध करके, समय-समय पर उससे उपदेशामृत पान करता हुआ भी यूसुफ के स्तर से आगे नहीं बढ़ता। अन्त में सुरेश की ही लड़की को उड़ा ले जाता है। एक विशेष सामाजिक वातावरण में पलने के कारण उसके संस्कार नहीं बदल पाते। सुरेश का पुत्र, जो वास्तव में यूसुफ के संसर्ग से पैदा हुआ है, एक सुसंस्कृत समाज में रहता है। अपने उच्च संस्कारों के कारण वह प्राणों की बलि देकर अपनी बहन की रक्षा करता है। रानी और सुरेश के अन्तर्द्वन्द्व, रानी की करुण स्थिति, यूसुफ की टिपिकल आवारागर्दी हमें अपने बीच के मनुष्यों में पहुँचा देती है। प्रेमनाथ संतशरण की भाँति आदर्श-वादी सुधारक हैं। ऐसे व्यक्ति समाज में बहुत कम दिखाई पड़ते हैं। प्रेमनाथ को छोड़कर इसके शेष चरित्र मानवीय आशा-निराशा और दुश्चिन्ताओं से नहीं छूट पाते। इस नाटक में भी जो आदर्शवादी हल प्रस्तुत किया गया है वास्तविक जीवन से उसका मेल नहीं बैठता। प्रेमनाथ की तरह आदर्शवादी व्यक्ति हमारे समाज में कितने होंगे? आज की नारी-समस्या कुछ गिने-चुने व्यक्तियों के दाक्षिण्य, दया तथा आदर्शों द्वारा नहीं सुलझाई जा सकती। उसे अपनी रक्षा अपने-आप करनी होगी।

पहले ही कहा जा चुका है कि पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता से भी हमारी संस्कृति और सभ्यता प्रभावित हुई है। देश के स्वतन्त्र हो जाने पर भी हमारा उच्च-मध्यवर्ग पाश्चात्य सभ्यता को छोड़ने को कौन कहे उसे और भी अधिक अपनाता जा रहा है। भट्टजी के 'पर्दे के पीछे' के अधिकांश एकांकी पाश्चात्य सभ्यता पर तीखे व्यंग्य हैं। पाश्चात्य सभ्यता और पूँजीवादी व्यवस्था किस प्रकार हमारी संस्कृति का मूल्यांकन कर रही है इस पर भट्टजी की दृष्टि गई है। भट्टजी न तो सांस्कृतिक पुनरुत्थानवाद में विश्वास करते हैं और न पाश्चात्य सभ्यता की अतियों में। वे नये-पुराने मूल्यों के संतुलन में ही जीवन की वास्तविकता देखते हैं।

व्यंग्य-विधान आज के एकांकी नाटकों का सर्वप्रधान वैशिष्ट्य है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ जीवन की कृत्रिमताएँ बढ़ती जाती हैं। ज्यों-ज्यों सभ्यता के कृत्रिम उपादान बढ़ते जायँगे त्यों-त्यों व्यंग्य-साहित्य का महत्त्व भी बढ़ता जायगा। यह व्यंग्य-विधान अपने सम्पूर्ण तीखेपन में जीवन को अपेक्षित दिशा में मोड़ने का एक जबरदस्त साधन है। कहना न होगा कि इस

संग्रह के अधिकांश एकांकी तथाकथित आधुनिक सभ्यता और विदेशी मूल्यों पर तीव्र व्यंग्य हैं।

'नई बात' इस संग्रह का पहला एकांकी है। आज श्रेष्ठता भी एक-मात्र मापक अर्थ है। इस आर्थिक श्रेष्ठता तथा तज्जन्य सामाजिक मर्यादा ने सांस्कृतिक मूल्यों को इस प्रकार ढँक लिया है कि वे अत्यन्त हीन दृष्टि से देखे जाते हैं। सुनन्दा, कुन्तल और किशोरीलाल कवि का सांस्कृतिक मूल्य नहीं समझ पाते। उसकी महत्ता से अभिभूत होकर एक दिन सुनन्दा उसे सहायतार्थ कुछ नोट भेंट करती है। कवि उन्हें गरीबों में बाँट देता है। इसीको सब लोग 'नई बात' कहते हैं। पूँजीवादी वर्ग के लिए यह नई बात हो सकती है। यह वर्ग उसका त्याग और औदार्य देखकर आश्चर्यचकित हो गया है, जैसा कि नाटककार ने इस एकांकी के अन्त में दिखलाया है। किन्तु यह वर्ग इतना भोला-भाला नहीं है। उस वर्ग के आश्चर्य-चकित होने के मूल में बौद्धिक वर्ग की आत्म-चेतना को दूसरी दिशा में भटका देना है। इस प्रकार का परम्परायुक्त conventional हल जीवन की यथार्थता के विपरीत है। निर्धनता की चक्की में पिसता हुआ कवि-दार्शनिक कितने दिनों तक साधना करता रहेगा? उसके घर और परिवार के लोग तथा स्वयं कवि और विचारक भी प्रशंसा की द्राक्षा में कब तक डुबकी लगाते रहेंगे?

'यह स्वन्त्रता का युग' पाश्चात्य शिक्षा-संस्कृति में पली हुई नवयुवतियों की काम-मूलक स्वच्छन्द प्रवृत्ति पर गहरा व्यंग्य है। 'मायोपिया' में विवाह न करने वाली उच्च शिक्षा-प्राप्त स्त्रियों की आत्म-प्रवंचना का पर्दाफाश किया गया है। नारी-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण के चिरंतन सत्य को झुठलाकर पुरुष के प्रति क्षोभ और उपेक्षा का भाव उनकी अपनी हीनता का द्योतक है। यह कृत्रिम अहं अपने में कितना खोखला है इसे सुधी के अन्तर्द्वन्द्व में देखा जा सकता है। 'वार्गेन' भोग-वृत्ति पर आधारित वैयक्तिक स्वतन्त्रता का निकृष्ट रूप है।

'पर्दे के पीछे' एक सामाजिक व्यंग्य है। सेठ लोग तो चोरबाजारी, बेईमानी के लिए बदनाम हैं ही। किन्तु जनता के कांग्रेसी सेवक चोरबाजारी न करके भी सेठों से कम पैसे वाले नहीं हैं। गांधीजी का नाम बेचकर स्वार्थ के लिए ये क्या नहीं करते? सेठ के शब्दों में इसका व्यंग्य नग्न हो उठा है—"ये हैं कांग्रेस के लोग। मेरे समान ही स्वार्थी और अर्थ-लोलुप। इनके भी वैसे ही ठाट हैं—मकान, कोठी, मोटर, नौकर-चाकर, फिर मज़ा यह कि काम कुछ नहीं करते। व्यापार कोई नहीं करते.........।" 'बाबूजी' पारिवारिक स्वार्थपरता पर कड़ा व्यंग्य है।

परम्परा-पालन के निमित्त रंगमंच की दृष्टि से भी इन नाटकों पर विचार कर लेना चाहिए। 'परम्परा-पालन के निमित्त' मैंने इसलिए कहा कि हिन्दी का अपना रंगमंच न होने के कारण अभिनेता की दृष्टि से हिन्दी-नाटकों पर विचार करना बहुत-कुछ उपहासास्पद दिखाई पड़ता है। आज हिन्दी के नाटक रंगमंच को दृष्टि में रखकर जरूर लिखे जाते हैं किन्तु कितने नाटकों को रंगमंच पर अभिनीत होने का सुअवसर प्राप्त होता है? हिन्दी-नाटकों की रंगमंचीय कल्पना केवल बौद्धिक होती है। फिर भी लक्ष्मीनारायण मिश्र ने हिन्दी को नई रंगमंचीय टेकनीक दी है। 'वितस्ता की लहरें' के रंग-निर्देश कहीं पर अनावश्यक नहीं हैं। नाटक केवल दो स्थानों पर सिमटा हुआ है। अतः केवल तीन पर्दों से काम चल सकता है। संवाद स्पष्ट, व्यंजनापूर्ण, संक्षिप्त तथा प्रभावोत्पादक हैं। इस नाटक में मिश्रजी के संवादों में और भी निखार आया है।

राजा साहब की संवाद-योजना अपनी रूमानियत के कारण नाटकीय यथार्थता को व्यक्त करने में समर्थ नहीं प्रतीत होती। फिर आज का सामाजिक एक विशेष सैद्धान्तिक पद्धति तथा परम्परायुक्त अन्त को रंगमंच पर नहीं देखना चाहता। नाटकों का रेडीमेड हल वास्तविकता से दूर होने के कारण अपेक्षित प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकता। कार्य-व्यापार की योजना के कारण 'अपना-पराया' अपेक्षाकृत रंगमंच के अधिक अनुकूल है। रंगमंच की दृष्टि से भट्टजी के एकांकी सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं। भाषा का सहज प्रवाह, संवाद की स्वाभाविकता इनमें सर्वत्र पाई जाती है। कुछ एकांकियों की घटनाएँ और कार्य-व्यापार उद्देश्य की एकता में सम्यक् योग नहीं पाते। इसलिए प्रभावान्विति भी त्रुटिरहित नहीं हो सकी है। उदाहरण के लिए 'पर्दे के पीछे' में कांग्रेस-कर्मियों का प्रसंग किरायेदार और इन्कमटैक्स-ऑफिसर के प्रसंग से जुड़ा हुआ नहीं है तथा 'बाबूजी' में भोलानाथ और कान्ता का प्रसंग कथा-प्रवाह में कोई विशेष योग-दान नहीं करता। शेष एकांकी वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टियों से भट्टजी की सजगता, जागरूकता और प्रौढ़ता के द्योतक हैं।

हिन्दी-कथा-साहित्य की दौड़ में हिन्दी का नाट्य-साहित्य सबसे पीछे रह गया है। हाँ, एकांकी नाटक संख्या तथा गुण दोनों दृष्टियों से हिन्दी-साहित्य की श्री-वृद्धि कर रहा है। भट्टजी का नया संग्रह इसी बात का द्योतक है। हिन्दी-एकांकियों की वृद्धि का सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण कारण है रंगमंचों पर उनका खेला जाना। रेडियो-विभाग ने भी इसके विकास में उचित योग दिया है। बड़े नाटकों की ओर से जनता और लेखक दोनों उदासीन दिखाई पड़ते हैं। मिश्रजी-जैसे प्रख्यात नाटककार कई छात्रोपयोगी नाटक लिखने के पश्चात् 'वितस्ता की लहरें'-जैसा महत्त्वपूर्ण नाटक लिख सके हैं। इस उत्साहहीनता के मूल में रंगमंच का अभाव ही मानना होगा। व्यावसायिक तथा अव्यावसायिक दोनों दृष्टियों से हिन्दी का रंगमंच नगण्य-सा है। हिन्दी-रंगमंच की अनुपस्थिति में हिन्दी नाटकों की उन्नति की बहुत आशा नहीं की जा सकती।[1]



1. 'वितस्ता की लहरें', लेखक—लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।
'धर्म की धुरी' और 'अपना-पराया', लेखक—राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, प्रकाशक—श्री राजराजेश्वरी साहित्य-मन्दिर, पटना–६।
'पर्दे के पीछे', लेखक—उदयशंकर भट्ट, प्रकाशक–मसिजीवी प्रकाशन, नई दिल्ली।

लक्ष्मीकान्त वर्मा

पलायनवाद : दो स्थितियाँ

किसी भी कला-कृति में वर्तमान सत्य की अभिव्यंजना उतनी ही स्वाभाविक है जितना कि प्रचलित सामाजिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक कुण्ठाओं एवं आस्थाओं द्वारा कलाकार का प्रभावित होना। कभी-कभी इनकी अभिव्यक्ति अपवाद रूप से भी प्रकट होती है। ईपिक्यूरियन्स (epicureans), सिनिक्स (cynics), स्कैपटिक्स (sceptics) के बारे में उनकी असंतुलित और अमर्यादित कृतियाँ केवल एक ही बात बताती हैं कि वे वस्तु-स्थिति के वास्तविक रूप को जानते हुए भी वास्तविकता से जान-बूझकर पलायन करना ही अपनी विशेषता मानते थे। नीत्शे-वादी मान्यताएँ यदि एक ओर वैयक्तिक संकीर्णता और असन्तुलन को जीवन का स्वर्णिम लक्ष्य चित्रित करने की चेष्टा में अतिवादी संकीर्ण दर्शन प्रस्तुत कर सकती हैं, तो साम्यवादी विचार-धारा का तथाकथित बृहत् समाजवादी दर्शन भी आधुनिक युग में अपनी चरम सीमा पर संकीर्ण-ताओं में कुछ कम नहीं है। वस्तुतः मार्क्सवादी सिद्धान्तों की अतिवादी प्रगतिशील परिणति उस व्यापक अनास्था की संकीर्ण मनोवृत्ति की परिचायक है, जो संस्कारगत संक्रमण एवं मूल्यगत भ्रान्तियों के कारण विकसित हुई है। वास्तव में इन अपवादपूर्ण कृत्रिमताओं का न तो कोई स्थायी महत्त्व रहा है और न रहेगा। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है उनके थोथे तर्क-जालों और अस्पष्ट नारों में जीवन को ऊपर से छू लेने की क्षमता चाहे जितनी हो, लेकिन जहाँ तक जीवन के आन्तरिक स्तरों और व्यापक चेतना के सूत्रों को प्रभावित करने का प्रश्न है, मनुष्य और उसकी आन्तरिक अनुभूतियों को नये मूल्यों और नई व्यवस्थाओं से सम्बद्ध करने का प्रश्न है, यह निश्चय है कि अपनी अतिवादी एवं एकांगी मनोवृत्ति के कारण उनको सफलता मिलना कठिन है। जीवन न तो स्थिर रेखाओं में बद्ध केवल वस्तुपरक स्नैप शॉट है और न ही वह एक ऐसा चलचित्र है जिसमें केवल गति-ही-गति हो, और रेखाओं के बीच केवल शून्य हो या शून्य भी न रहकर केवल एकांगी चित्र हो जिसमें देश, काल (time and space) अथवा आयामों (dimensions) का सर्वथा अभाव हो। जीवन में मूलतः एक गहराई (deepness) है। जो कला-कृति केवल लम्बाई-चौड़ाई को लेकर व्यक्त होती है और गहरी अनुभूतियों को उचित स्थान नहीं दे पाती वह केवल सामयिक होती है। उसका समाचारगत मूल्य चाहे जितना हो, विचारशील विकास की वह कृतियाँ मापने में सदैव असफल ही रहती है। वस्तुतः इस प्रकार की कला-कृतियों में केवल उन्मूलित भावनाओं का संशय और उनकी द्विविधा ही अधिक झलकती है और ये द्विविधाएँ, ये संशय उस पलायनवादी प्रवृत्ति की प्रतीक होती हैं जिसमें आस्थाहीन जीवन की झुँझलाहट ही प्रश्रय पाती है। 'फ़िराक' गोरखपुरी का 'धरती की करवट' नाम का संग्रह इन्हीं अतिवादी संकीर्णताओं एवं अति साहसिकतावादी भ्रान्तियों का प्रतीक है।

शायद इन्हीं मूल्यगत भ्रान्तियों का एक दूसरा रूप हमें वैरागी के काव्य-संग्रह 'बदली की रात' में मिलता है। यह संग्रह आत्मपरक होने के नाते 'फ़िराक' गोरखपुरी की काव्य-कृति से कई दृष्टियों में ऊपर उठ जाता है। यद्यपि इस संग्रह में संशय है, दुविधा है, पलायन और अनास्था की मार्मिक संवेदना है, दिग्भ्रम है और असन्तुलित संक्रामक हृदय की धड़कनों की

आहटें हैं; लेकिन फिर भी भावनाओं के प्रति ईमानदारी, उनकी आत्मपरक अनुभूति और आत्म-संशय की बेचैनी से भरा हुआ दर्द उसकी कला को अधिक प्रभावपूर्ण बना देता है। कवि का संशय केवल नारों से सन्तोष नहीं पाता। वह किसी पताका के नीचे, चाहे वह जैसी भी हो, मनुष्य को खड़ा करके उसका नीलाम करने को तैयार नहीं है। वह इन पृष्ठभूमियों से मुक्त मनुष्य की आत्मनिष्ठा को देखना चाहता हैं, उन नये सूत्रों को संग्रहीत करना चाहता है जो स्वयं आस्था के स्वर पर विकसित हो सकें,....जिनमें केवल अपने स्वर हों, अपनी अनुभूति हो और संशय भी हो तो ऐसा कि जो सामाजिक चेतना को केवल डंके की चोट पर न जगाये, बल्कि उसमें एक ऐसा दर्द पैदा कर दे जो जीवन को सार्थक और गतिशील बनाने में नारों की अपेक्षा आत्मानुभूति की भावना जाग्रत कर सके। और यही कारण है कि उस नये सत्य और उन नये मूल्यों के अभाव में कवि का संशय पलायन के रूप में भी गहराई से व्यक्त हो सका है।

लेकिन इसका यह मतलब कदापि नहीं है कि केवल इस संशय के कारण ही वैरागी की कला-कृति का कोई महत्त्व नहीं है। वस्तुतः संशय ही जिज्ञासा को जन्म देता है और इसीलिए बहुधा इसका भ्रम विचित्र रूप से अभिव्यक्त होता है। जब संशय संकीर्णताओं में विकसित होकर अमर बेल के समान समस्त जीवन पर छा जाता है तो निर्मूल निराधार होने पर भी वह समूचे जीवन के विकास को गतिरुद्ध कर देता है, उसमें कृत्रिमता ला देता है, उसे कुरूप और बेढंगा बना देता है। लेकिन जब यही संशय उस आत्माभिव्यक्ति की गहराई लेकर उभरता है, जो अपने चारों ओर के विशृङ्खल जीवन को अर्थ देना चाहती है, तब वह अपने मूल की गहराई में उन तत्त्वों को जानना चाहता है जो संवेदनशील अनुभूतियों के साथ उस दृष्टिकोण की खोज में डूबना चाहते हैं—जो व्यापक हो, सार्वभौम हो, सर्वहितेच्छु हो; और इन सबके अतिरिक्त मानवीय हो ताकि नये मूल्यों और नई मान्यताओं का व्यापक आकार बन सके और नई परम्पराओं को विकास के साथ सम्बद्ध कर सके।

यद्यपि मूलतः उपर्युक्त दोनों स्थितियाँ पलायन की मानी जायँगी लेकिन इन दोनों में अन्तर होगा, इन दोनों के उद्देश्यों में अन्तर होगा, माध्यम और अभिव्यक्ति में अन्तर होगा।

प्रथम स्थिति वह है जिसमें मिथ्या साहसिकता, आक्रोश, आतंकजन्य शौर्य, बौखलाहट और आवश्यक द्विविधा के स्वर विकसित होते रहते हैं और इस दिग्भ्रम के साथ व्यक्त होते हैं जैसे वे स्वयं युग के मसीहा हों, सृष्टि के संरक्षक हों और मानव-जीवन को ऊपर उठाने के लिए केवल वही रास्ता ठीक समझते हों जिसका कि वे स्वयं अनुसरण करते हों। वे उस पेटेण्ट दवा की तरह कुछ पेटेण्ट नारों तक मानव-बुद्धि को सीमित कर देना चाहते हैं जो सरदी-जुकाम से लेकर थाईसिस तक में काम दे सकती है। लेकिन यह पेटेण्ट दवा अक्सर काम नहीं देती, क्योंकि जो दवा बाँटते हैं उनकी जबान रटी हुई होती है, उनका अभिनय और उनकी भावना उधार ली हुई होती है इसीलिए उसमें 'अपील' भले हो उपचार तो नहीं ही होता और आज के इन्सान को न तो अपील करने वाली वकालत की भाषा चाहिए, न लबादे पहने हुए उपचारक। आज उसे ऐसा साहित्य और ऐसे साहित्यकार-कलाकार की आवश्यकता है जो केवल उसका दर्द एक इन्सान के नाते अनुभव कर सके, और उस अनुभव में न तो सुधारक का वक्तव्य हो और न बाल की खाल निकालने वाला तर्क ही। आज के विक्षिप्त जीवन को केवल एक मानसिक (psychic) संवेदनशील सहानुभूति की आवश्यकता है। लेकिन जो इस स्थिति के वास्तविक रूप की उपेक्षा

करते हैं वे कुछ ऐसे संकुचित नारों को ही साहित्य और दर्शन का सत्य और लक्ष्य मान लेते हैं जिनकी विवेचना में तथ्य कुछ नहीं मिलता, ऐसा लगता है जैसे कोई हिस्टीरिक नृत्यकार ढोल की ताल पर अपनी विचित्र-विचित्र मुद्राएँ बना रहा हो, लेकिन वे मुद्राएँ इतनी सन्दर्भहीन हों कि उनका वास्तविक मर्म केवल एक मज़ाक़ बनकर रह जाय।

किन्तु इस प्रथम स्थिति के अतिरिक्त इस संक्रमण युग में एक दूसरी भी स्थिति है जिसमें अतिवादी संकीर्णताओं के बावजूद कलाकार जीवन के मूल प्रश्नों से विपथ नहीं होता। यद्यपि उसके भीतर भी परम्परागत रूढ़ियों के प्रति खीझ होती है, स्वीकार की हुई सीमाओं से ऊब मालूम होती है, भ्रान्तियों के प्रति विद्रोह की भावना जागरूक होती है। लेकिन यह सब होते हुए भी वह वस्तु-स्थिति से पलायन करता है—नये मूल्यों के लिए, व्यापक मानवीय संवेदनाओं के लिए, उन तथ्यों के लिए जो मात्र अनुसरण न होकर विवेक-प्रधान होते हैं। मनुष्य को केन्द्र मानकर उसकी आत्म-उपलब्धि की जिज्ञासा ही इस पलायन को उन कुण्ठित, संकीर्णतावादी प्रवृत्तियों से अलग करती है जो केवल मन्त्र के रूप में स्वीकार की जाती है। इसकी मूल भावना अपनी श्रेणी में उन सभी को समेट लेती है जिन्होंने 'मत-प्रचार' की अपेक्षा उन जीवन्त सृजनात्मक सृष्टि-चेतना के स्रोतों को ही श्रेयस्कर माना है जो परम्परा को तोड़ते हुए भी उन सूक्ष्म मानवीय संस्कारों को स्वीकार करते हैं जो सदैव जीवन के विकासशील तत्त्वों को प्रोत्साहित करते रहते हैं।

इस पृष्ठभूमि में 'फ़िराक़' गोरखपुरी की नवीनतम पुस्तक 'धरती की करवट' और श्री वैरागी की 'बदली की रात' स्पष्ट रूप से आज की उन्मूलित भावनाओं के अन्तर्गत विस्थापित पलायनवादी प्रवृत्तियों की दो विभिन्न स्थितियों को प्रदर्शित करती हैं। लेकिन दोनों ही में वर्तमान तिक्त परिस्थितियों से ऊबकर किसी नई दिशा की ओर संकेत किया गया है। दोनों ही वस्तु-स्थिति के प्रति विद्रोह करते हैं। लेकिन अन्तर वहाँ पैदा होता है जहाँ एक रूस और चीन तक ही मानव-विकास की कल्पना सीमित कर देता है और दूसरा उनके अतिरिक्त भी मानव-मूल्यों को स्थापित करने की सम्भावना रखता है। वैरागी की निर्वासित भावनाएँ मानव-मूल्यों के बिखरे तत्त्वों को जोड़ने में क्रियाशील होना चाहती हैं, 'फ़िराक़' गोरखपुरी की भावनाएँ रूस और चीन की प्रशस्तियों तक सीमित होने के कारण खोखली और पोली-सी लगती हैं। वैरागी में मानवता के प्रति आस्था है, 'फ़िराक़' की सारी आस्था साम्यवाद और प्रगतिशील संकीर्णताओं तक ही सीमित है। 'फ़िराक़' की आस्था है :

"हमारे देश में इसकी भारी आवश्यकता है कि हमारी जातीय चेतना बीसवीं सदी के सबसे बड़े सन्देश को ग्रहण कर ले—यह सन्देश है रूस और चीन की क्रान्ति का··· मेरी कविताओं के इस संग्रह में कई कविताएँ अनेक शीर्षकों से मिलेंगी जिनमें मैंने भारतीय चेतना को उकसाकर यह अनुभव कराना चाहा है कि ये क्रान्तियाँ इस सदी की सबसे महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं···अब हम आपको चीन ले चलते हैं·······"

चीन और रूस की क्रान्ति का समर्थन या उनको अस्वीकार करने की अपेक्षा यदि 'फ़िराक़' साहब ने आज की संक्रान्ति-ग्रस्त और विस्थापित आस्थाओं के सामने उन सूक्ष्म मूल्यों की अपील की होती, जो मानवता के निकट हैं, तो शायद वह उस चेतना को ज्यादा सही रास्ते की ओर उकसा पाते। रूस और चीन को मानवता के विकास की चरम सीमा मानने में सन्देह होना

तर्क-संगत भी है......इसलिए अपनी आस्था की घोषणा के बजाय यदि उनकी प्रतिभा रूसी साम्यवाद और अमरीकी डालर के आगे भी मनुष्य की कल्पना और आस्था पर विश्वास करती तो निश्चय ही उससे हमारी जातीय चेतना को ज्यादा बल मिलता।

"हथौड़े में हसिये में इर्फ़ानियत है, वहाँ हर अमल ऐन रूहानियत है।
है चीन की जीत हर तमन्ना की जीत, है चीन की जीत सारी दुनिया की जीत।"

स्पष्ट है कि 'फ़िराक़' साहब ने अपने और अपने साथ तमाम इन्सानियत की तमन्ना को चीन की क्रान्ति और रूस के हँसिये-हथौड़े तक ही सीमित कर रखा है। चीन की क्रान्ति इतिहास की एक घटना है और कोई भी घटना जीवन के सशक्त तत्त्वों से बड़ी होती है, यह स्वीकार करना ग़लत है। हँसिया-हथौड़ा केवल एक प्रतीक है, और प्रत्येक प्रतीक की अपनी एक सीमा होती है। इसलिए यह कहना कि संसार की और मनुष्य की सीमा केवल एक घटना और एक प्रतीक में ही सम्पूर्ण है, सर्वथा ग़लत है। जिन्दगी इन सीमाओं के आगे भी पनपती और बढ़ती है इसलिए कला, साहित्य और दर्शन को केवल इन्हीं सीमाओं में बाँधकर रखना मानवीय विकास की भर्त्सना करना है।

"जब रूस के मतलअ से हुआ नूर का तड़का, सरमाया परस्ती का चिराग़ और भी भड़का।
हिटलर का गर्जना है कि बिजली का है कड़का, सुनकर वरे आज़म भी जिसे काँप उठेंगे।
हम ज़िन्दा थे, हम ज़िन्दा हैं, हम ज़िंदा रहेंगे।"

प्रथम पंक्ति की आत्महीनता अन्तिम पंक्ति के आत्मविश्वास को नपुंसक बनाकर छोड़ देती है। विस्थापित भावनाओं के संघर्ष में अपने ऊपर विश्वास की कमी की ही प्रतिक्रिया रूस की रोशनी में विकसित होती है। 'फ़िराक़' साहब की यह दिमाग़ी दासता इस बात को पुनः पुष्ट करती है कि वह स्वतन्त्र रूप से कुछ भी सोचने में असमर्थ हैं। समस्त मानवता का संशय रूस और चीन के 'निर्णय-सिन्धु' में ही है और उसके अतिरिक्त उनकी आस्था किसी भी दूसरी चीज पर नहीं है; यहाँ तक कि अपने पर भी नहीं है।

इस सम्बन्ध में बर्नर्ड शॉ की एक पंक्ति का उल्लेख कर देना आवश्यक है। उसका कहना था कि "Decadence can find agents only when it wears the mask of progress"[1] और इस कथन का एक-मात्र कारण यह है कि विस्थापित भावनाओं की संकीर्णता समस्त चेतना को इतनी नृशंसता से जकड़ लेती है कि हर वह नारा, हर वह ध्वनि, जो केवल गूँज पैदा करके इन्सान के दिमाग़ को छोड़ देती है, वही सत्य मालूम पड़ने लगती है। कहना न होगा कि 'फ़िराक़' साहब अपनी भावनाओं को इस स्वाभाविक असंगति से बचाने में असफल ही रहे।

इसके विपरीत इन्हीं स्थितियों की प्रतिक्रिया दक्षिण के कवि वैरागी में दूसरे प्रकार से व्यक्त हुई है। न तो वैरागी संशय और दुविधा की स्थिति में संकीर्णता ही स्वीकार करते हैं और न अपनी जिज्ञासा के कौतूहल को नये मानव-मूल्यों के अनुसंधान से ही पृथक् करते हैं। उनकी स्थिति है कि :

---

१. In moments of progress the noble succeed because things are going their way: in moments of decadence the base succeed for the same reason: hence the world is never without the exhilaration of contemporary success." —Bernard Shaw.

"आज खड़ा तू चौराहे पर
संगी-साथी गये बिछुड़कर
प्रात गगन हँसता है सिर पर।"

लेकिन उनकी व्यापक चेतना यह है कि :

"चारों ओर अनन्त दिशाएँ—आगे जीवन का पथ फैला।"

और तब सन्देश यह है कि—

"चल रे मानव आज अकेला।"

वाद और विवादों की इस भ्रान्तिजनक स्थिति में आज मनुष्य को केवल उसका ही आत्मविश्वास ऊपर उठा सकता है। जिस अपवाद के बीच संतप्त जीवन की आस्थाएँ चूर-चूर हुई जा रही हैं, उस स्थिति में शायद वैरागी जी की यह वाणी उनको शक्ति और सम्बल प्रदान करने में सफल होगी, जो इन दोनों अतिवादी विचारधाराओं के अतिरिक्त केवल मानवीय चेतना पर विश्वास करके आगे बढ़ना चाहते हैं। जहाँ 'फ़िराक़' साहब केवल एक वर्ग-विशेष यानी अमरीका को ही दोषी ठहराकर मानवता की बात न करके रूस की प्रशस्ति लिखते हैं, वहीं निरपेक्ष कलाकार के स्वत्व को सुरक्षित रखते हुए वैरागी का कथन है कि :

"खून और आँसू के कीचड़ बीच खिला जीवन जल जाता।"

और

"मानव रत विनाश लीला में, पर मानवता सृजनशील है।"

लेकिन आज वह मानवता ही जैसे भेदों के आडम्बर में खो गई है और वैरागी को सारा संसार और सारा समाज ही ऐसा लगता है जैसे :

"मानवता है कहाँ अरे यह गूँगों-पशुओं की जमात है।"

वैरागी की इन पंक्तियों में युग के मसीहों को चौंका देने की क्षमता है। वस्तुतः उनकी यह आवाज आज उस चेतन और सजीव आत्मा की सप्राण आवाज है जिसने दो महायुद्धों के बीच उन समस्त प्रचारकों का असली रूप देख लिया है। कभी इसी आवाज ने कोरिया से लेकर क्रेमलिन और वाशिंगटन तक की प्रस्तर-मूर्तियों को पूजा था, उनको अपनी श्रद्धा और स्नेह अर्पित किया था, लेकिन आज के मनुष्य के सामने आज वे मूर्तियाँ मूक और बधिर-सी प्रतीत होती हैं। आज उनके स्थापित मूल्य नष्ट हो चुके हैं और यही कारण है कि सचेत आत्मनिष्ठ मानव आज इन्सान के लिए कुछ नये मूल्यों और नई मर्यादाओं को स्थापित करने में जिज्ञासु और जागरूक है।

और जहाँ इन नये मूल्यों को स्थापित करने की भावना है, वहीं आज मनुष्य इस बात को भी ध्यान में रखना चाहता है कि ये मूल्य मनुष्य को लक्षित करके बनाये जायँ, उसकी आस्था पर बनें, क्योंकि यह निश्चय है कि किसी अतिवादी विचारधारा के अनुसार किसी भी प्रकार के आरोपित मूल्य आज के मनुष्य को ऊपर उठाने में असफल होंगे। आज के लिए यह आवश्यक है कि इस समूचे जीवन को सर्वथा मनुष्य की दृष्टि से देखें और उन समस्त संदर्भों से अलग मानव-मूल्यों का मूल्यांकन करें, जिन्होंने आज उसे उस आत्महीन, निरीह यन्त्र के समान बना दिया है जो खोखला, रोग-ग्रस्त, घावों से भरा हुआ, निर्जीव हाथों को उठा-उठाकर केवल जय-जय की ध्वनि गुँजाना जानता है—जिसके पास अपना कुछ नहीं है, यहाँ तक कि उसकी अपनी

चमड़ी भी नहीं है।

'फ़िराक़' साहब और वैरागी में यही मौलिक अन्तर है। 'फ़िराक़' शायरी की मजज़ूबियत की अपेक्षा विषय की मजज़ूबियत में अधिक विश्वास करते हुए मालूम पड़ते हैं। उनका विषय विशुद्ध मानव नहीं है, उनका स्वर उस मनुष्य के लिए है जो आदमी से ज़्यादा और आदमी से कहीं बड़ा उन मान्यताओं को मानता है जो रूस और चीन में प्रचलित हैं।

यह तो रही वैरागी और 'फ़िराक़' गोरखपुरी के जीवनगत मान्यताओं में अन्तर और उसकी प्रतिक्रिया की बात। 'फ़िराक़' गोरखपुरी की कला की विज्ञप्ति के सामने 'धरती की करवट' एक छोटी कला-कृति है। वैरागी को अभी हिन्दी-संसार शायद ही जानता हो। इस बात को स्वीकार करने में हमें हर्ष होता है कि उर्दू के विद्वान् और विख्यात शायर ने हिन्दी में भी लिखना प्रारम्भ किया है। वैसे 'फ़िराक़' की ग़ज़लों और रुबाइयों ने उर्दू-शायरी में एक विशेष क्रान्ति पैदा की थी। ग़ज़ल के क्षेत्र में उनके प्रयोग अद्वितीय माने जाते हैं। शैली, भाषा, भाव और अभिव्यक्ति के साथ-साथ बौद्धिक जागरूकता 'फ़िराक़' की उर्दू-शायरी की जान है, लेकिन अपने उस्तादाना अन्दाज़ में जब 'फ़िराक़' साहब उर्दू के वज़न पर हिन्दी में लिखने का प्रयास करते हैं तो उनकी काव्य-रचना शिथिल पड़ जाती है। कहीं-कहीं अटपटेपन के साथ-साथ असंस्कारी प्रयोग बड़े ऊबड़खाबड़ लगते हैं। काव्य की कोमल अभिव्यक्ति के अनुकूल भाषा की स्वाभाविकता नहीं निभ पाती। मुहावरे इतने अधिक हो जाते हैं कि भावनाएँ चुटीली होने की अपेक्षा अधिक बाज़ारू हो जाती हैं और इन सबका एक-मात्र कारण यह है कि हिन्दी की अपनी एक शैली ढल चुकी है। कम-से-कम काव्य के क्षेत्र में वह शैली काफ़ी आगे बढ़ चुकी है। हो सकता है किन्हीं कारणों से 'प्रसाद' जी की 'कामायनी' या 'अज्ञेय' की भाषा-शैली, या जैनेन्द्र का गद्य 'फ़िराक़' साहब को नापसन्द हो, लेकिन हिन्दी ने उन्हें स्वीकार कर लिया है और आज अधिकांश लेखक उन्हींके आधार पर लिख भी रहे हैं। काफ़ी साहित्य लिखा भी जा चुका है; इसलिए उर्दू का अच्छे-से-अच्छा अन्दाज़े-बयान भी आज की शैली में खप नहीं पाता। 'धरती की करवट' की अधिकांश कविताओं की शैली अपरिचित और भौंडी मालूम पड़ती है।

आत्मपरकता (subjectivity) काव्य की आत्मा है। 'फ़िराक़' साहब की अधिकांश कविताएँ इतनी राजनीतिक हैं कि उनका काव्यगत सौन्दर्य नष्ट हो गया है। 'धरती की करवट' की अधिकांश कविताएँ सूचनाएँ अधिक देती हैं, भावना कम। 'फ़िराक़' साहब से हम यह आशा करते थे कि इस रचना-संग्रह में उनकी अधिकांश पंक्तियाँ निम्नलिखित स्तर की होंगी। जैसे :

"इक हल्क़ए ज़ंजीर तो ज़ंजीर नहीं है
इक नुक़्तए तस्वीर तो तस्वीर नहीं है
तक़दीर तो क़ौमों की हुआ करती है
इक फ़र्द की क़िस्मत कोई तक़दीर नहीं है।"

यद्यपि हम व्यक्ति को इतना गण्य नहीं मानते फिर भी यदि इसी विश्वास और गहराई के साथ 'फ़िराक़' साहब ने अपनी भावनाएँ प्रस्तुत की होतीं तो शायद यह पुस्तक अधिक प्रिय होती। लेकिन अफ़सोस तो यह है कि अधिकांश रचनाओं में 'इस दुनिया की ऐसी-तैसी' ही बहुत है, अपनी अनुभूतियों के बारे में कहीं कुछ नहीं। लगता है जैसे पूरी किताब एक

ग्रामोफ़ोन-रिकार्ड हो, जिसमें तवे में जकड़ी हुई आवाज़-ही-आवाज़ है, व्यक्तित्व की छाया कहीं भी नहीं है।

भाषा और लिपि के बारे में केवल इतना ही कहना है कि पुस्तक के आरम्भ में 'ये कविताएँ कैसे पढ़ी जायँ' शीर्षक से जो-कुछ 'फ़िराक़' साहब ने लिखा है वह एकांगी है। प्रमाण के लिए हिन्दी में 'फ़', 'ज़' इत्यादि के नीचे से बिन्दी हटाने की बात बहुत पहले उठाई गई थी जिसको 'फ़िराक़' साहब ने स्वीकार करने से शायद कोई हानि समझी है लेकिन 'ऋ' को 'रि' लिखने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं हुई। अगर 'फ़िराक़' लिखकर बिन्दी मिटा दी जाय तो वही उतना ही अनुपयुक्त होगा जितना कि ऋषि को 'रिशि' कर देना। लिपि के विषय में व्यावहारिक रूप से इन मान्यताओं को स्वीकार कर लेना भिन्न बात है।

जैसा कि कहा जा चुका है ग़ज़ल के 'तख़ैयुल', 'तगज्ज़ुल' और उसके शिल्प-विधान में नये प्रयोग करने वालों में 'फ़िराक़' साहब का विशेष स्थान है। लेकिन नई शक्तियों के प्रतीक के रूप में उर्दू-शायरी के इन्क़लाबी शायर का यह मत है:

"आजकल प्रयोगवाद की एक फुलझड़ी हिन्दी-कविता में कुछ लोगों ने छोड़ रखी है.... इन लोगों ने प्रयोगवाद की जैसी मिसालें पेश की हैं उसे मैं झखमारवाद कहता हूँ।"

जहाँ तक 'फ़िराक़' साहब का यह वक्तव्य है वह इतना खोखला है कि कम-से-कम उर्दू के प्रतिष्ठित शायर की कलम से यह शब्द शोभा नहीं देता। पता नहीं प्रयोगवादी रचनाएँ 'फ़िराक़' साहब ने कहाँ तक पढ़ी हैं, लेकिन 'प्रयोगवादी' जिसे हम नई कविता भी कहते हैं, उसमें हिन्दी-प्रतिभा की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों का सशक्त और स्वस्थ परिचय मिलता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। वैसे बिना पढ़े राय क़ायम कर लेना बात दूसरी है।

'धरती की करवट' के विषय में अन्तिम वाक्य कहने की अपेक्षा, 'फ़िराक़' साहब की यह रूबाई ही काफ़ी है:

"लफ़्ज़ों की दुकाँ को अब बढ़ाना होगा
कुछ करके मुअल्लिम को दिखाना होगा।
तालीम को ख़ल्लाके अमल होना है
पंजों में दिमाग़ अब बसाना होगा।"

ताकि पंजों में सृजन-पिण्ड का आकार बन पाए न कि वह केवल एक सलाम का प्रतीक बनकर भूल जाय।

'बदली की रात' के लेखक वैरागी दक्षिण भारत के हैं। हिन्दी का उनके लिए 'फ़िराक़' साहब से ज़्यादा कठिन प्रतीत होना स्वाभाविक है। फिर भी जिस शिल्प-निपुणता और शैली का सफल प्रयोग 'बदली की रात' में मिलता है वह इस बात का सन्देश देता है कि हिन्दी भाषा का संस्कार समस्त भारत में आत्मानुभूति के साथ ग्रहण किया जा रहा है।

'बदली की रात' मूलतः आज के संक्रमण का प्रतीक है। यद्यपि उसमें 'संशय' और 'पलायन' की संदिग्ध वाणी पर्याप्त है, लेकिन वह संशय व्यक्ति का संशय ही नहीं वरन् इस युग के संशय के साथ सम्बद्ध है। जहाँ एक ओर वैरागी टूटती हुई मान्यताओं के बीच घुटन अनुभव करते हैं वहीं वह नई मान्यताओं के प्रति जिज्ञासु भी हैं। उनकी टूटी हुई आस्था नई आस्था की याचक अवश्य है, लेकिन नई आस्था के प्रति जागरूक होने के कारण उनकी वाणी

में नास्तिकता अथवा आस्थाहीनता नहीं है।

समस्त काव्य-संग्रह में चार प्रकार की कविताएँ हैं। पहली तो वह जो कवि की आत्म-चिन्तना को प्रदर्शित करती हैं। इन कविताओं में वैरागी की जीवन के प्रति दृष्टि अधिक साफ़ और स्पष्ट रूप से उभरी है। सामूहिक चेतना को स्वीकार करते हुए वह व्यक्ति की मर्यादा को भी सुरक्षित रखना चाहते हैं। शायद उनकी भावना आजकल की दलगत समूहवाद की विषमताओं से अछूती नहीं है। तभी उनके स्वरों में सहसा ही पलायन की भावना जाग्रत होती है; लेकिन यह पलायन कायरता का पलायन नहीं है और न ही इसमें अतिरंजित करने वाली बन्धनहीन नृशंसता है।

दूसरी प्रकार की कविताएँ भावना-प्रधान आत्म-उद्बोधन से सम्बद्ध हैं। इस वर्ग में कवि की आत्मपरक भावनाएँ सृष्टि और व्यक्ति की समस्याओं को लेकर चलती हैं। इनमें मनुष्य का खोखलापन भी मिलता है; उसके आडम्बर और बहुरंगी कलेवर के साथ उस दर्द की अनुभूति है जो सृजन को शक्ति प्रदान करती है।

तीसरी प्रकार की कविताएँ गीत-शैली के अन्तर्गत आती हैं। यद्यपि इन गीतों में काफ़ी शिथिलता है और इनके शिल्प-निर्वाह में कहीं-कहीं शिथिलता भी दिखाई पड़ती है लेकिन यह सब होते हुए भी इनकी प्रेक्षणीयता मार्मिक है। ऐसा लगता है जैसे कवि जीवन को एकांगी न बनाकर समस्त तथ्यों और सत्यों को अपनी रागात्मिक शक्ति के साथ समेटता चलता है। गीतों में निराशावादी प्रवृत्तियों का प्राचुर्य है। सूचियों की शैली में भी कुछ गीत हैं, जो एकात्मानुभूति के महत्त्व को शिथिल कर देते हैं।

चौथी प्रकार की कविताएँ 'आधुनिका' के अन्तर्गत आजकल की नई कविता की विषय-वस्तु और शिल्प-निर्माण से प्रभावित हैं। इस शीर्षक के अन्तर्गत 'पलायन' कविता महत्त्वपूर्ण है। इसमें वह सभी नये तत्त्व हैं जो आधुनिक हिन्दी-कविता की नवीनतम शैली के अन्तर्गत आते हैं। कहीं-कहीं बिम्बों और प्रतीकों का बड़ा सफल चित्रण मिलता है। मानवीय संवेदनाओं के साथ जहाँ कहीं भी कवि की जागरूक अन्तर्वेदना व्यक्त हुई है वह स्थल बड़े मार्मिक और हृदय-ग्राह्य हैं।

लेकिन जहाँ हमें वैरागी में प्रतिभा के सूत्र स्पष्ट दिखलाई देते हैं वहीं ऐसा लगता है जैसे उनके चिन्तन में बहुत-कुछ कच्चापन और अर्ध सत्य है जो उनकी चेतना को भ्रमित करने में अधिक सफल हुआ है। इस भ्रम और भ्रान्तिजनक (confused) स्थिति में से जो आस्था और विश्वास के सूत्र यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं, उनको एकत्र करके एकरूपता देने का दायित्व वैरागी जी का है। कला न तो केवल भाव है, न केवल चिन्तन है, वह भाव और चिन्तन के साथ-साथ कुछ चिह्न अंकित करती चलती है जिसमें भविष्य की सम्भावनाएँ प्रश्रय पाती हैं और विकसित होती हैं। वैरागी जी में जहाँ दृष्टि है, भाव है, चिन्तन है और शिल्प है वहाँ उनके थिराये हुए विचारों को और अधिक उभार से व्यक्त होना चाहिए, उनकी निखरी हुई सद्भावना और अधिक आस्थावान होनी चाहिए और उनका संशय आज की सीमाओं को लाँघकर समाप्त होना चाहिए। मानव-अनुभूतियों से द्रवित उनका भावना-प्रधान व्यक्तित्व यदि अधिक संतुलित रूप से व्यक्त होता तो थोड़ी-बहुत आतंकजन्य विस्थापित प्रवृत्तियाँ, जो सहज ही उभर आई हैं, न होतीं और कवि अपनी कला को केवल—

"कैसे भाग जाएँ हम ?
कैसे जाग जाएँ हम ?
काल की मुट्ठी से बालू बन
कैसे खिसक पाएँ हम ?"

की भावना तक सीमित रखने की अपेक्षा, उसे मुट्ठी में पिण्ड रूप देकर उस प्राण-प्रतिष्ठा के मन्त्र का आह्वान करता जिसमें धीरता और सहनशीलता ही जीवन के नये मूल्यों को विकसित और प्रस्तुत करती हैं।[१]



रामखेलावन पाण्डेय

प्रेतों की शव-परीक्षा

इस उपन्यास में निम्न-मध्यवर्ग और उसके रूढ़िबद्ध संस्कारों की कथा है जिनकी संस्कृति समझने की भूल की जाती रही है। इन संस्कारों के प्रेत ही यहाँ बोलते हैं, इनकी आत्माएँ हमारी आत्माएँ हैं। अतः 'प्रेत बोलते हैं' में उनकी साँसों का स्पंदन है, जो साँस लेते हैं पर जीवित नहीं; जिनमें गति है किन्तु जीवन की स्फूर्ति और प्रेरणा नहीं। निम्न-मध्यवर्ग आज संस्कारों का खण्डहर है जिसमें उल्लू बसते हैं और प्रेत बोलते हैं। मृतप्राय निम्न-मध्यवर्ग का प्रतिनिधि और प्रतीक है 'समर'—समाज-भीरु, स्वप्निल, आदर्शात्मक एवं काल्पनिक महत्त्वाकांक्षी, किन्तु दब्बू और ऐसा दब्बू जो कायरता की सीमा का स्पर्श कर ले। इसकी कथा संयुक्त हिन्दू-परिवार की दयनीयता के परिपार्श्व में विकसित होती है जिसके मरणशील-ह्रासोन्मुख संस्कार व्यक्ति को आकुञ्चित कर रहे हैं। वस्तुतः अतीत का मोह, जिसे हम अखण्ड भारतीय संस्कृति की संज्ञा देते रहे हैं, प्रेत और भूत बनकर मानवीय चेतना को कुण्ठित कर रहा है और अतीत-मोही पुनरावर्तनवादी इन्हें आदर्श का महत्त्व देकर नई समस्याएँ खड़ी कर रहे हैं। इसमें प्रेतात्माएँ नहीं बल्कि जीवित प्रेत साँस ले रहे हैं, वे निम्न-मध्यवर्ग के प्रेत हैं। नवीन मानवता के उन्मेष के लिए इन वास्तविक प्रेतों से मुक्ति चाहिए, इन सांस्कारिक भूतों से मुक्ति। लेखक इस मुक्ति के मसीहा के रूप में 'प्रगतिशील मानवता' की अवतारणा करता है जो कम्युनिस्ट मानवतावाद ही है और कुछ नहीं। लेखक के इन विचारों से सहमत नहीं होना दूसरी चीज है, और आलोचक इस समाधान से सहमत भी नहीं है, किन्तु लेखक अपने विचारों के कारण अपराधी नहीं ठहराया जा सकता। फिर भी इस धारणा में संगति नहीं कि अगली व्यवस्था की चिन्ता किये बिना ही आज की स्थिति त्याज्य है। इसे प्रगतिमूलक भी नहीं माना जा सकता। लेखक कुछ ऐसा मानता हुआ दीख पड़ता है कि अभाव स्वयं अपनी पूर्ति का अन्वेषण कर लेगा, क्योंकि उसके प्रतिरूप शिरीष का कथन है : "···कुछ भी सही पहले एक

१. 'धरती की करवट', लेखक—'फ़िराक' गोरखपुरी, प्रकाशक—इलाहाबाद लॉ जरनल प्रेस, इलाहाबाद। 'बदली की रात', लेखक—वैरागी, प्रकाशक—नीलाभ प्रकाशन, प्रयाग।

अवस्था को तो छोड़िए तभी तो दूसरी में आ पाएँगे। साफ बात तो यह है कि अगली अवस्था चाहे जो हो, न तो इन परिवर्तन-विरोधियों द्वारा दी गई होगी, न कोई पुरानी होगी—वह बिलकुल नई होगी, बिलकुल नई होगी।"[1]

वस्तुतः 'समर' का अतीताविष्ट धूमिल आदर्शवाद शिरीष के 'प्रगतिशील मानवतावाद' के साथ टकराता नहीं, उसे लेखक ने इतना कमज़ोर समझा कि प्रथम संसर्ग में ही चकनाचूर हो जाता है, अतः संस्कार सांस्कारिक बन्धन प्राप्त करने में अक्षम ही रह गए। 'समर' धूमिल आदर्श के सपनों को जीवन में उतार नहीं सका, उसमें क्षमता का अभाव है और अपनी अक्षमता के लिए नारी को बन्धन मानने की मध्यवर्गीय धारणा से वह जड़ीभूत भी है। 'समर' के प्रेत का आत्म-विश्लेषण वस्तुतः लेखक द्वारा निम्न-मध्यवर्गीय समाज का विश्लेषण है : "मेरी भावनात्मकता कभी भी मुझे विश्लेषणात्मक दृष्टि से न देखने को मजबूर करती रही। मैं जानता था यह मुसीबत है, यह कीचड़ है, दलदल है, जो मुझे बाँधे हुए है।....न जाने कैसा एक भावात्मक सम्बन्ध था जो मुझे उससे बाँधे था—मैं तड़फड़ाता, चीखता, चिल्लाता और ठिठुरते पक्षी की तरह अपने-आपमें मुँह छिपाकर पड़ रहता।" और प्रेतों का समवेत विश्लेषण है : "एक लम्बे अर्से से, एक अनादि युग से हमें इन कब्रों और समाधियों में बन्द कर दिया गया था—इन्हें हमारा शरीर बना दिया गया था—और यह सड़ा-गला शरीर हमें घोटे हुए था, हमें दबोचे हुए था! हमारी सिसकियाँ बाहर नहीं आ पाती थीं।"

'प्रेत बोलते हैं' मूल रूप में कथा है यद्यपि इसमें सिद्धान्तों की सघनता और समाधान का निर्देश है जो मौलिक नहीं, उनके प्रकाशन के माध्यम में नवीनता अवश्य है। इस कथा में कथानक बन पाने की क्षमता भी है और गति की क्षिप्रता भी तथा प्रारम्भिक अंशों में कथा-रस का भी संयोग है। समाधान-रूप प्रगतिशील मानवता, साम्यवादी समाज-दर्शन-मात्र है उससे भिन्न नहीं, क्योंकि 'समर' को यह भर्त्सना खाए जा रही थी कि उसके "जैसे हजारों प्राणी इस दलदल में धँसे गल रहे हैं, सड़ रहे हैं" और उसने "उन्हें जानने की कोशिश नहीं की। कभी उनका साथ प्राप्त करने को हाथ नहीं बढ़ाया।" सर्वहारा का उल्लेख नहीं करते हुए भी उनकी ओर से लेखक दावा पेश करता है : "समाज की अवस्था या व्यवस्था को बदलने की सबसे अधिक आवश्यकता, अधिक दबाव वाला हिस्सा ही महसूस करता है, जैसे मैंने बताया—क्योंकि वह विकासशील है।" प्रभा का प्रेत ठीक ही कहता है कि "अपनी इस जीवनी-शक्ति को मैंने सदैव ही मौन के बन्धनों में बाँधकर रखा" अतः शिक्षिता होने पर भी प्रभा में प्रेरणा की स्फूर्ति बन सकने की क्षमता नहीं आ पाई। शिरीष समाज-शास्त्रीय दार्शनिक है—लेखक का मुख्य प्रवक्ता, किन्तु अपनी 'प्रगतिशील मानवता' के बावजूद और कारण भी शिरीष भाई उपन्यास के मौलिक अंग नहीं बन पाए और लेखक के व्यक्तित्व और मन्तव्य उनसे उलझ गए। उनके सम्पर्क में 'समर' का परिवर्तन केवल आकस्मिक ही नहीं बल्कि अमनोवैज्ञानिक भी है। उपन्यास चरित्र-प्रधान नहीं बल्कि विचार-प्रधान और समस्यामूलक है, अतः विविधता के दर्शन नहीं, साम्य और वैषम्य के आधार पर चारित्रिक स्पष्टता भी नहीं। पात्र व्यक्ति और व्यक्तित्वमूलक न होकर प्रतिनिधि, प्रतीक और 'टाइप' ही रह गए। लगता है कि अन्तिम पृष्ठों तक आते-आते लेखक अपना धैर्य खो बैठता है और इस हड़बड़ी में अपने

१. पृष्ठ २७३।

सारे सिद्धान्तों का भार शिरीष भाई के दुर्बल कन्धों पर डाल कर सन्तोष की साँस लेता है। अतः शिरीष 'प्लेटफार्म-स्पीकर' बन जाता है, यद्यपि उसके श्रोताओं की संख्या अधिक कभी नहीं रही। इस कारण सैद्धान्तिक आग्रह आरोप बन गए, कथा के अन्तराल से उभरने वाले मार्मिक सत्य और जीवन्त स्फूर्ति नहीं बन पाए और यहीं पर कलात्मकता की न्यूनता है, अन्यथा लेखक के पास समस्याओं को उपस्थित करने की अपनी टेकनीक है, उपमाओं में नवीनता और वैज्ञानिक संस्कार भी। उसमें व्यङ्ग्यपूर्ण हास्य भी है : "मैं लिखने-पढ़ने बैठा हूँ कि उस्ताद बन्नेखाँ ठुमरी के गरम पानी से वह गरारे कर रहे हैं कि न सिर्फ मैं झुँझलाकर भन्ना जाता हूँ, मुझे खुद क़ै होते-होते रह जाती है। अब हालत मेरी यह हो गई कि मैं सोता तो आज़ाद काश्मीर या कराची से आते शमशाद के गीतों की गोद में और जागता तो गोआ और सीलोन से गूँजते लतामंगेशकर के स्वरों की प्रभाती में, भोजन की जगह मुकेश के गाने और तल्हत महमूद के टेंटुए की तरकारी।"

केवल कथा-रसाग्रही को अनुपलब्धि का जो क्षोभ हो, लेखक की भाषा और शैली में ताजगी, सरसता और स्फूर्ति है यद्यपि आलोचक की आकांक्षा सदा जगती रही कि काश लेखक अपने को व्याकरण और मुहावरों के गड्ढों से बचा पाता, बच जाता। सिद्धान्त और विचार-पद्धति में नवीनता नहीं रहने पर भी लेखक में उद्वेलित करने की शक्ति है और यौनवाद के नग्न प्रदर्शन द्वारा सुलभ और सस्ती लोकप्रियता का मोह भी उसे नहीं, जैसा कि आज के अधिकांश हिन्दी-उपन्यासों में पाया जाता है। 'प्रेत बोलते हैं' की अनुपलब्धियाँ श्री राजेन्द्र यादव के भावी विकास की सूचना को आकुञ्चित करती दीख पड़ती हैं।[1]



अजितकुमार

व्यक्ति, परिवार और समाज

हिन्दी-कहानी का प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले एक डॉक्टर की धारणा है कि "कहानियाँ अपने दृष्टिकोण और चरम परिणति में अस्पष्ट और रहस्यात्मक होती जा रही हैं।"[2] किन्तु इस बात से सब लोग सहमत न होंगे। यों आज के युग में किसी भी बात पर सब लोगों का एक मत हो सकता है—ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, लेकिन इस प्रश्न पर तो बिलकुल ही नहीं; क्योंकि हिन्दी-कहानी की यह प्रवृत्ति जैनेन्द्र, 'अज्ञेय' और जोशी के प्रथम चरण की तथा उनका अनुकरण करने वाले अन्य लेखकों की है। इसका पूर्व रूप हैं : प्रसाद तथा 'हृदयेश' की वे कहानियाँ, जो भावना तथा कल्पना पर आधारित हैं। स्वयं जैनेन्द्र आदि की अपेक्षाकृत

१. 'प्रेत बोलते हैं', लेखक—श्री राजेन्द्र यादव, प्रकाशक—प्रगति प्रकाशन, दिल्ली।
२. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल : 'हिन्दी-कथा-शिल्प में कथानक का ह्रास'—'आलोचना' अंक ७।

अस्पष्ट और रहस्यात्मक कहानियों के मूल में वह विद्रोह था, जो इन लेखकों ने प्रेमचन्द-युग की इतिवृत्तात्मकता और सादगी के विरुद्ध किया। ऐसी कहानियों का बहुत-कुछ कारण मनोविज्ञान की नई दृष्टि और सांकेतिकता तथा प्रतीकात्मकता की आवश्यकता का अनुभव भी था। अस्तु, यह बीच का दौर था, जब हिन्दी-कहानी नये पैटर्न खोजने में यत्नशील थी।

इधर के लेखकों ने जैनेन्द्र, 'अज्ञेय' आदि के शिल्प, मनोविश्लेषण तथा सूक्ष्म सांकेतिकता को ग्रहण करते हुए भी हिन्दी-कहानी को अधिक स्पष्ट, सुबोध तथा सुगम बनाया है—इसका प्रमाण वे अगणित कहानियाँ हैं जो पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रही हैं। (अपितु उपर्युक्त कहानीकारों की परिवर्ती रचनाएँ भी हैं); साथ ही ये चार कहानी-संग्रह भी हैं जो इस समय मेरे सम्मुख हैं।

'अपना राज : अपने आदमी' के लेखक रामकृष्ण बकौल खुद पिछले दस वर्षों से दूसरे नाम से 'चलतू क़िस्म' की रचनाएँ लिख रहे हैं। रामकृष्ण नाम से वे 'स्थायी महत्त्व' की रचनाएँ लिखते हैं। उनकी ईमानदारी के हम क़ायल हैं कि चलतू क़िस्म की रचनाएँ लिखकर भी वे स्वीकार कर लेते हैं, वरना ऐसे लेखकों की कमी नहीं है जो चलतू चीजें लिखते रहकर भी जीवन-भर इसी भ्रम में पड़े रहते हैं कि उन्होंने स्थायी साहित्य की रचना की है। इस नाते रामकृष्ण जागरूक कलाकार और सजग आत्म-आलोचक हैं। उन्होंने 'सुन्दर की अपेक्षा सत्य का सहारा अधिक' लिया है। 'आज के जीवन का सही ख़ाका पेश करते हुए' यदि कहीं 'कटुता' आ गई है तो लेखक ने सहर्ष उसे आने दिया है।

पुस्तक तथा लेखक के विषय में ये अच्छी-अच्छी बातें पढ़कर जब हम कहानियाँ पढ़ना आरम्भ करते हैं तो बहुत संतोष नहीं होता। लेखक ने मोटी-सी यह बात भुला दी है कि कहानी 'इतिहास' नहीं है, कुछ और भी है। बस, इसीलिए उसने हर कहानी में इतिहास को बताया है, दुहराया-तिहराया है, और वह भी अकुशल ढंग से। इतिहास ही हो तो उतना न भी खले, अकुशलता खल जाती है।

प्रस्तुत संग्रह की अधिकांश कहानियाँ कांग्रेस द्वारा प्रेरित विविध राष्ट्रीय आन्दोलनों की पृष्ठभूमि लेकर लिखी गई हैं। पहली कहानी 'अपना राज : अपने आदमी' दो मित्रों—राजू तथा दीनू—की कहानी है। पीछे मुड़कर घटनाओं को देखने वाली 'रिट्रास्पेक्ट' शैली की उपर्युक्त कहानी प्रलापात्मक भावावेग के साथ प्रारम्भ होती है। कहानी में विक्षिप्त मन का सफल अंकन है। यों ढाँचा दुरुस्त है, लेकिन चोट ठीक जगह नहीं पड़ती। कुल मिलाकर गरीब दीनू के प्रति बहुत सहानुभूति उपजती हो, ऐसा भी नहीं है। मन्त्री राजेन्द्रनाथ का चरित्र पाठक के मन में असन्तोष तथा ग्लानि भरता है। उनके पक्ष में एक ही बात कही जा सकती है कि उन्होंने अयोग्य तथा अशिक्षित 'दीनू' को किसी उत्तरदायित्वपूर्ण स्थान पर नौकरी नहीं दिलाई। किन्तु लेखक तो इसी बात को लेकर क्रुद्ध है। अतः आक्रोश तथा व्यंग्य यदि इस बात पर है कि 'अपना आदमी' होकर भी 'अपने राज' में राजेन्द्रनाथ ने दीनू को बढ़िया नौकरी नहीं दिलाई, तो सरासर ग़लत व्यंग्य है।

अन्य कहानियों में पात्रों की यानी लेखक की स्मृति 'सिनेमा की रील' अथवा 'मेल ट्रेन' की गति से दौड़ती है। स्मृति की यह क्षिप्र गति ही रामकृष्ण की कहानियों में अक्सर व्यतिक्रम उत्पन्न कर देती है। कहानियाँ घटनाबहुल हो जाती हैं, क्रमबद्धता और योजना पीछे छूट

जाती है। संग्रह की पहली-दूसरी तीसरी-चौथी तथा अन्य कहानियाँ भी इसका शिकार हुई हैं। अत्यधिक घटनाओं के समावेश और कथा की परिधि के सीमित न रहने के कारण मूल संवेदना का सूत्र छूट-छूट जाता है।

'कहानी जिन वाक्यों से प्रारम्भ होती हो, उन्हींसे समाप्त भी हो, एक विशेष प्रकार की पूर्णता तथा समग्रता की ओर इंगित करने वाली यह एक आकर्षक विधि है। किन्तु आरम्भ के डेढ़ पृष्ठों को अन्त में भी वैसे-का-वैसा ही रख देना भोंडी बात है। पहली कहानी में ऐसा ही हुआ है। इससे वे बाद के डेढ़ पृष्ठ पाठक के लिए बेकार हो जाते हैं, वह उन्हें पहले ही पढ़ चुका है। इसी प्रकार, 'रूप और ऋतु' की कहानी जिस घटना से आरम्भ होती है, उसी से अन्त भी करती है—यह दिखाकर लेखक ने अच्छे शिल्प का परिचय दिया है, यद्यपि अच्छी अन्तर्दृष्टि का नहीं।

अन्तर्दृष्टि का अभाव इनमें से अधिकांश कहानियों की सबसे बड़ी दुर्बलता है और घटना-बाहुल्य सबसे बड़ी विशेषता, सबलता निश्चय ही नहीं। इतिहास—चाहे वह पात्र के जीवन का हो अथवा राष्ट्रीय आन्दोलन का—लेखक को प्रिय है। किन्तु यह इतिहास-वर्णन प्रायः इतिहासात्मक, रूखा और ऊबाने वाला हो जाता है। यों वर्णन की सादगी बड़ा गुण है, पर उसने श्री रामकृष्ण के हाथों पकड़कर अपना प्रभाव खो दिया है। थोड़े अधिक शिल्प-नैपुण्य के साथ ये कहानियाँ प्रथम श्रेणी की बन सकती थीं, अन्यथा कला के नितान्त अभाव में निम्न द्वितीय श्रेणी की रह गई हैं। प्रत्येक कहानी के अन्त में लेखक ने कोई-न-कोई 'स्पर्श' करने का यत्न किया है, किन्तु वह 'स्पर्श' अक्सर ऊपर-ही-ऊपर निकल जाता है, छूता नहीं। 'दाँत' और 'चुनाव' इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ हैं, पर दुर्भाग्यवश 'चुनाव' एक विदेशी कहानी की हू-ब-हू नकल है।

एक नियन्त्रित ढाँचे पर गढ़ी हुई कहानियों का संग्रह होते हुए भी समग्र रूप से समाज की विषमताओं, रूढ़ियों, अन्यायों तथा ढकोसलों पर यह पुस्तक एक गहरा और सशक्त प्रहार है।

इसके विपरीत 'ज़िन्दगी के अनुभव' में श्रीमती नमिता लुम्बा जीवन की एक दूसरी ही झाँकी उपस्थित करती हैं। इन कहानियों के संसार में राजनीतिक दाँवपेंच नहीं हैं, सामाजिक अव्यवस्था के प्रति वैसा आक्रोश भी नहीं है, 'घूसखोरी, चोरबाजारी, जनता की बेहाली, भूख-शोषण' के हृदय-विदारक चित्र भी नहीं हैं क्योंकि ये घर के भीतर की कहानियाँ हैं—परिवार और प्रेम की कहानियाँ हैं। साथ ही ये श्रीमती नमिता की कहानियाँ हैं इसलिए इनमें सर्वत्र एक नारी का दृष्टिकोण व्याप्त है। यह स्वाभाविक है। नारी के मनोभाव, उसके मनोविज्ञान तथा प्रतिक्रियाओं के भीतर श्रीमती लुम्बा की प्रत्यक्ष गति है—फ़र्स्ट हैण्ड। इसीलिए ये कहा-नियाँ सजीव तथा यथार्थ लगती हैं।

जीवन के खण्ड हैं, जो अचानक प्रारम्भ होकर अचानक समाप्त हो जाते हैं। यही शैली श्रीमती नमिता की भी है। अनायास उनकी कहानियाँ प्रारम्भ हो जाती हैं और परिणति भी सहज रूप में हो पाती है। 'पूर्ण' वे उतने के लिए ही हैं जितना उन्हें 'कहानियाँ' बनाने के लिए आवश्यक है, अन्यथा जीवन उन कहानियों के पहले भी है और बाद भी। श्रीमती लुम्बा को भूमिका बाँधने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि जिस जीवन का अंकन वे कर रही

है, वह सबको परिचित है। वे कथा में सीधा प्रवेश करती हैं।

संग्रह की प्रत्येक कहानी में शिल्प-विधान की एकरूपता दिखती है, फिर भी यह हमें उबाती नहीं, वरन् अपनी अकृत्रिमता तथा स्वाभाविकता के कारण मोह लेती है। कहानी की प्रथम पंक्ति ही पाठक का कुतूहल जाग्रत करती है—"यह सन्ध्या आखिर सो क्यों नहीं पा रही है? ओह! न्यायालय और जज! कहानी रोचक जान पड़ती है। नाम भी तो खूनी है।" आदि!

ऐसे ही सहज रूप में ये कहानियाँ समाप्त भी होती हैं। कहीं 'मातृहीना' बालिका को पिता की झिड़की खाकर मलिन होते दिखाया है तो कहीं 'जनवरी की एक रात' में अकेले घर में डरी हुई पत्नी और बहन का मजाक उड़ाते हुए मदन को। इसी प्रकार के स्थलों पर ये कहानियाँ समाप्त हो जाती हैं और हम आनन्द के प्रसंग पर अकुण्ठित होकर हँसने लगते हैं तथा अन्याय अथवा अव्यवस्था की बात पढ़कर व्यथित होते हैं।

इस संग्रह की कुछ कहानियाँ हैं जो केवल परिस्थिति को व्यक्त करती हैं। 'प्रतिदान' में एक युवती, यह जानकर कि उसका प्रेमी विवाहित है और केवल उसके प्रेम के कारण अपनी विवाहिता पत्नी से विमुख है, आत्महत्या कर लेती है। समस्या का सुलझाव स्पष्ट न होने के कारण यहाँ 'घटना' का वर्णन-मात्र हुआ है। दूसरे प्रकार की कहानियों में समस्या का विवरण और उसके प्रति असन्तोष का भाव मिलता है, जैसे 'जिन्दगी का अनुभव'। इसमें एक टाइपिस्ट लड़की अपने अफ़सर की काम-वासना का शिकार होकर गर्भवती हो जाती है और अफ़सर दूसरी लड़की से विवाह करके विदेश जाने की योजनाएँ बनाते हैं। "न जाने कितनी भोली लड़कियाँ इस दफ़्तर के पैसे के बदले अपनी अनमोल इज़्ज़त खोकर उसीकी तरह रो रही होंगी।" लेकिन इसका हल आखिर क्या है? यह हल श्रीमती नमिता लुम्बा 'अपराजिता'-जैसी कहानियों में देती हैं जहाँ समाज के बन्धनों को तोड़कर प्रेमिका अपने प्रेमी के साथ विवाह कर सकने में सफल होती है।

साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण न होने पर भी 'सरिता' और 'धर्मयुग' के ढंग की ये पारिवारिक कहानियाँ सामान्य पाठकों को पसन्द आयँगी, इसकी आशा की जा सकती है।

'संघर्ष के बाद' में श्री विष्णु प्रभाकर ने 'मेरी कैफ़ियत' के अन्तर्गत इतना कुछ कह दिया है कि इस संग्रह की कहानियों के सम्बन्ध में कुछ अधिक जानना-कहना शेष नहीं रहता। विष्णु प्रभाकर पुराने लेखक हैं, पिछले बीस वर्षों से तो लगातार लिख रहे हैं। उनकी कहानियाँ इस बीच पुरस्कृत और सम्मानित भी हुई हैं। जैसा उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है—प्रारम्भ में उन पर आर्यसमाज का प्रभाव रहा है और आज भी जैसे वह प्रभाव छूटा नहीं है तभी तो एक विशेष प्रकार की आदर्शवादिता का मोह उन्हें बाँधे हुए है। वे उन कहानीकारों में नहीं हैं, जो समाज के समूचे खोखले ढाँचे का पर्दाफ़ाश करके रख देते हैं और कहते हैं—देखो, यह तुम हो! तुम कितने घृणित हो!

इसके विपरीत, विष्णु प्रभाकर का ढंग दूसरा है। समस्या का विश्लेषण तथा प्रस्तावना वे पहले ही ढंग से करते हैं। स्थिति की भयंकरता को दिखाने में वे किसी से कम नहीं हैं, किन्तु उसे प्रायः एक ऐसा मोड़ दे देते हैं कि वह सारी विषमता एक मनोहर स्वप्न में परिणत हो जाती है। विष्णु प्रभाकर निर्मम नहीं हो पाते, उनमें एक विचित्र-सी नैतिक सहानुभूति है और

नैतिक सहानुभूति को एक लेखक ने अक्षम्य रूढ़ि कहा है। अक्षम्य वह न भी हो, रूढ़ि तो है ही। जो भी हो, इस संग्रह की बहुत-सी कहानियों को पढ़ने पर पाठक के मन में अन्याय के विरोध में आवाज़ बुलन्द करने की प्रवृत्ति नहीं उठती। पाठक भी पात्रों के साथ-साथ विश्वास करने लगता है कि 'सुधार तो होगा ही' और प्रायः तो भ्रमवश यह भी सोचने लगता है कि 'परिस्थिति तो सुधर चुकी है, अब उसके लिए चिन्तित होने की क्या आवश्यकता?' लेखक द्वारा प्रस्तुत आदर्श, यथार्थ-जैसा दिखकर हमें भुलावा देता, दे सकता है—और यह बात ठीक नहीं है।

'स्वप्नमयी' में प्रसिद्ध कहानीकार अजित की बहन अमला भाई को दो पत्र भेजती है। वह स्वयं कहानी-लेखिका बनना चाहती है, इसलिए लिखती है—"कभी-कभी तो मैं आपकी कहानी सामने रख लेती हूँ। आपका प्लाट तो नहीं चुराती पर शैली ज़रूर चुराती हूँ।" पढ़कर लगता है कि स्वयं लेखक यह पत्र लिख रहा है, क्योंकि प्रारम्भ के विष्णु प्रभाकर पर प्रेमचन्द और शरत्-जैसे लेखकों का प्रभाव बिलकुल स्पष्ट है। '३४ की लिखी कहानी 'स्नेह', शरच्चन्द्र की 'मँझली बहन' से बुरी तरह प्रभावित है और '३६ की 'संघर्ष के बाद' तो 'बिन्दो का लल्ला' का छायानुवाद-भर लगती है। 'जीवन-दीप', 'गृहस्थी', 'दूसरा वर' आदि कहानियाँ मौलिक होते हुए भी प्रेमचन्द-प्रसाद की याद दिलाती हैं। इसी प्रकार 'पतिव्रता' शीर्षक कहानी एक विदेशी कहानी का उत्कृष्ट भारतीयकरण ज्ञात होती है।

'अभाव' प्रस्तुत संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में है। मनोविज्ञान के भीतर इस कहानी की इतनी गहरी पैठ है कि सहसा इसकी मौलिकता पर विश्वास नहीं होता। ऐसी साँचे में ढली कहानी लिख पाने के लिए विष्णु प्रभाकर बधाई के पात्र हैं। फिर भी कहानी के अन्त में प्रोफ़ेसर के चरित्र को दिये गए मोड़ से हम सहमत नहीं हैं। आदर्श होते हुए भी वह अस्वाभाविक है। सच तो यह है कि लेखक की अधिकांश कहानियाँ एक ही जगह टूटती जान पड़ती हैं। वह जगह है—आस्थावादिता, उद्देश्यवादिता, आदर्शवादिता। आस्था आवश्यक है, वाद का आग्रह अनावश्यक। इस आग्रह के वशीभूत होकर ही विष्णु की कुशल लेखनी भी कहानियों को ऐसे स्थल पर परिणति देती है जहाँ अन्त—विशिष्ट, अलग और ऊपर से थोपा हुआ जान पड़ता है।

यों विष्णु प्रभाकर का अपना रंग उन कहानियों में सबसे अधिक उभरा है जो उन्होंने पंजाब के जीवन को या साम्प्रदायिक दंगों को लेकर लिखी हैं। वह सब लेखक का 'आँखों देखा'-जैसा है। दंगों पर लिखी गई 'मैं जिन्दा रहूँगा', 'मार्ग में', 'ताँगे वाला' आदि कहानियाँ हृदय-द्रावक हैं। विष्णु प्रभाकर जीवन के गहरे, अनुभूतिपूर्ण और आवेगात्मक पलों को बड़ी सरलता से पकड़ लेते हैं और कहानी के विधान में भली प्रकार निभाते हैं। अक्सर ये 'मूड्स' इतने सूक्ष्म और संवेदनपूर्ण होते हैं कि कविता के 'मूड्स' जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए 'आगम-अथाह' को लें। अपने मूल रूप में इस कहानी का भाव भी एक करुण कविता का भाव है जिसने अपने रंग-रूप-आकार के कारण एक सफल कहानी का रूप धारण किया है।

'स्वप्नमयी' में ही अमला लिखती है: "जीतने के लिए प्रयत्न करना ही सबसे बड़ी सफलता है। तब मैं फिर उत्साह से भरकर पन्ने रँगने लगती हूँ। पन्ने रँग-रँगकर ही तो आज आप एक महान् कथाकार बन गए हैं। मैं भी बनूँगी।" विष्णु प्रभाकर ने भी जीतने के लिए ही पिछले बीस वर्षों से निरन्तर प्रयत्न किया है। पुराने प्रभावों को हटाया है और कला

तथा शिल्प में परिष्कार लाए हैं। आज वे जीत भी गए हैं और यही कारण है कि प्रस्तुत संग्रह में संकलित १९५०–५३ के बीच लिखी गई—'गृहस्थी', 'जज का फ़ैसला', 'सम्बल' और 'डायन' आदि—उनकी ऐसी कहानियाँ हैं जिन पर कोई भी साहित्य गौरवान्वित हो सकता है।

श्री कमल जोशी के संग्रह 'चार के चार' की कहानियाँ सब एक-सी अच्छी हैं। स्तर में विशेष अन्तर नहीं मिलता। सधी क़लम से वे लिखी गई हैं, इसीलिए यदि कहीं ऐसा जान भी पड़ता है कि कहानी बन नहीं पा रही है तो यह संशय अन्ततः भ्रम ही सिद्ध होता है। कहानी कैसी भी क्यों न हो, अन्त में कमल जोशी उसे सँभाल ही लेते हैं। इससे ज्ञात होता है कि दृष्टि उन्होंने कहानीकार की पाई है।

बिना भूमिका के कहानी में सीधा प्रवेश—यही कमल जोशी की शैली है। कथा का सूत्र बीच में से पकड़कर ही वे प्रारम्भ कर देते हैं और कुछ इस तरह बढ़ते हैं कि पहले की कथा दुहराने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसीलिए इन कहानियों में उत्तर-घटना को बताकर पूर्व-घटना का परिचय देने की विधि बिलकुल छोड़ दी गई है। कई कहानियाँ, भूत तथा भविष्य-काल की क्रियाओं में लिखी होने पर भी, प्रत्यक्ष वर्तमान में घटती हैं। सम्पूर्ण इतिवृत्त को न लेकर ये अपने आकार में उतनी ही घटना लेती हैं जितनी कथा-मात्र के लिए आवश्यक है। इनके प्रारम्भ में देखिए :

"सिगरेट समाप्त कर सतीश ऑफ़िस जाने के लिए तैयार होगा।"....[1]

"हजारीलाल ने आत्म-हत्या कर ली....।"[2]

"काफ़ी खोज-तलाश के बाद अब मैंने एक नया पार्क ढूँढ लिया है...."[3] आदि

'कन्हैया की माँ' शीर्षक कहानी नारी-मनोविज्ञान के रोचक पहलुओं पर प्रकाश डालती है। कन्हैया की माँ-जैसी स्त्रियाँ पराधीन रहना पसन्द नहीं करतीं, घर बसाने की कल्पना उन्हें असह्य है, बाज़ारू औरतों का जीवन ही उनका जीवन है—सच है। लेकिन हर सहारे को ठुकराने के प्रयास में एक पागल व्यक्ति के प्रति करुणा से भरकर—स्वयं उसे सहारा देकर—अन्ततः खुद उस पर मन, प्राण से आश्रित हो जाना—नारी का स्वभाव ही कुछ ऐसा विचित्र है। इससे मिलते-जुलते वातावरण का अंकन करने वाली दूसरी कहानी 'चार के चार' है। 'चार के चार' एक पुरानी बात को नये परिवेश में प्रस्तुत करती है। भिखारियों के ऐसे सहकार जीवन-यापन की सुविधा के लिए आम तौर पर बन जाते हैं जहाँ एक माँगता-कमाता है, दूसरा खाना बनाता है। इस कहानी का पुरानापन समस्त प्रेम-कहानियों का ही पुरानापन है। अनुराग, अवैध सम्बन्ध, प्रतिहिंसा—सारी बातें हमारी जानी-पहचानी हैं, पर 'वेन्यू' बिलकुल नया है, और इसीलिए कहानी के अन्तिम वाक्य हमारे कानों में देर तक गूँजते रहते हैं। लँगड़े भिखारी के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण कपासी गर्भवती हो जाती है। इस सूचना को पाने पर उसके अन्य दोनों साथी लँगड़े को मार-पीटकर भगा देते हैं। लँगड़े के चले जाने के बाद—

"निर्विकार पत्थर की तरह कपासी बैठी रही। कुछ वक्त कटा। काने ने एक बार रसिकता की कोशिश की—'ख़ैर, हमारे दल में चार थे, चार जने फिर हो जायँगे, हा, हा

१. स्वप्न के आखिर में।
२. लाश।
३. कामरेड।

हा·····' लूले की फटकार सुनकर वह चुप हो गया।"

रसिकता एवं परिहास की इस रुचि का परिचय पाकर हम स्तब्ध रह जाते हैं।

कमल जोशी की अधिकांश कहानियाँ 'चरित्रों' पर आधारित हैं। ये चरित्र मूलतः व्यक्ति के चरित्र हैं जो कहीं-कहीं अपने वर्ग के चरित्र का भी परिचय देते हैं। उनके पात्रों की प्रकृति तथा स्वभाव सामान्य से कुछ अधिक विशिष्ट है। उनमें परिवर्तन भी होते हैं। कमल जोशी की कला की सफलता का रहस्य यही है कि इस चरित्र-परिवर्तन का आधार वे गहरी मनोवैज्ञानिकता को बनाते हैं और यहीं वे हिन्दी के पहले खेवे के कहानीकारों से भिन्न हैं। वे 'चरित्र-चित्रण' के आधारों की पूर्ण व्याख्या तथा विश्लेषण करते हैं। इन्सान को सतही तौर पर पेश करने वाली 'हृदय-परिवर्तनवादी' कलाकारिता से जोशी की कला भिन्न है।

इस प्रकार कहानी की घटनाओं को भी इन्होंने कुशलता के साथ क्रमबद्ध किया है। इसीलिए उनकी कहानियाँ पूर्व-निर्धारित क्रम के अनुसार परिचालित होती नहीं जान पड़तीं। एक घटना से दूसरी घटना और एक क्रिया से दूसरी प्रतिक्रिया विकसित होती दिखती है।

कहानियों में दोष खोजना आवश्यक नहीं है। बहुत-सी दृष्टियों से कमल जोशी की कहानियाँ निर्दोष हैं, पर एक बात अवश्य है कि आदमी के बहुत अच्छे स्वभाव का, बहुत स्वस्थ मनोविज्ञान का अथवा बहुत अनुकरणीय चरित्र का अंकन ये कहानियाँ नहीं करतीं। इसके विरुद्ध इन कहानियों के पात्र अधिकांशतः विकृत, छली, कुण्ठित तथा कलुषित ढंग के लोग हैं। अस्तु, मानव-चरित्र के जिस पहलू पर विष्णु प्रभाकर आवश्यकता से अधिक बल देते जान पड़ते हैं, उसका अभाव इन कहानियों में खलता है। मानव के प्रति सही दृष्टिकोण कदाचित् इन दोनों के बीच कहीं है।

इन पुस्तकों में संग्रहीत कहानियाँ एक विस्तृत जीवन-भूमि का परिचय देती हैं। इन सभी लेखकों ने अपना-अपना ढंग विकसित कर लिया है। यदि इन पुस्तकों में उनकी प्रतिनिधि कहानियाँ संग्रहीत हैं (जो शायद हैं) तो हम पाते हैं कि इन लेखकों को जो-कुछ भी कहानी के माध्यम से कहना है—वह सब धीरे-धीरे उनके सम्मुख निश्चित और स्पष्ट होता गया है। कुल मिलाकर अपनी कहानियों में यदि विष्णु प्रभाकर एक भावुक और आदर्शवादी स्वप्नद्रष्टा हैं तो रामकृष्ण अन्यायी तथा अक्षम शासन के प्रति विद्रोह करने वाले एक सैनिक। कमल जोशी यदि विभिन्न चरित्रों तथा परिस्थितियों के कुशल-निर्मम चित्रकार हैं तो नमिता लुम्बा प्रेम तथा परिवार की मधुर-तिक्त अनुभूतियों को कथा-सूत्र में पिरोती हैं।

अस्तु, इसमें सन्देह नहीं कि इन संग्रहों में हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ हैं। सेक्स, प्रेम, परिवार, राजनीति, क्षुधा, साम्प्रदायिकता, व्यक्ति, समाज, सार्वदेशिकता और तत्कालीनता—सभी का 'दर्शन-दिग्दर्शन' इनमें मिलता है। इस दृष्टि से ये किसी भी साहित्य की प्रतिनिधि कहानियाँ हैं। उत्कर्ष-अपकर्ष को देखें तो कलात्मक प्रतिभा और शिल्प-नैपुण्य कमल जोशी में सबसे अधिक है, रामकृष्ण में यह सबसे कम पर आग तथा विद्रोह सबसे अधिक। अन्तर्दृष्टि विष्णु प्रभाकर में उच्चकोटि की है और मनमोहकता श्रीमती नमिता लुम्बा में बहुत-कुछ।

इस सबसे बढ़कर उपर्युक्त लेखकों की विशेषता यह है कि उन्होंने कहानियाँ किसी विशेष वर्ग के लिए नहीं लिखीं। इनके अभिप्रेत पाठक समूचे हिन्दुस्तान की जनता में फैले हैं। ये कहानियाँ अगम, दुर्बोध तथा अस्पष्ट नहीं हैं। मनोविज्ञान, प्रतीक-पद्धति, सांकेतिकता आदि

विधियों को अपनाकर भी इनमें 'निश्चित इतिवृत्त तथा स्पष्ट सहानुभूति का ह्रास'[1] नहीं हुआ है। ये तत्त्व इनमें प्रचुरता के साथ हैं और इसलिए इस भय का कारण नहीं है कि ये तथा इनकी-सी आजकल की असंख्य कहानियाँ पाठकों की समझ में नहीं आ रही हैं।[2]

गंगाप्रसाद मिश्र

चाँद-सूरज के बीरन

'चाँद-सूरज के बीरन' श्री देवेन्द्र सत्यार्थी की आत्म-कथा का प्रथम भाग है। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी को किशोरावस्था से ही लोक-गीतों के भाव-माधुर्य ने मोह लिया था और लोक-गीतों के इस आकर्षण ने ही उन्हें एक परिवार और एक ग्राम की सीमाओं में बँधकर न रहने दिया। उनके इस आकर्षण की विशेषता यह थी कि उन्हें किसी एक ही बोली के गीतों का आकर्षण न मोहित करता था, जहाँ पंजाबी के गीत उन्हें अच्छे लगते थे वहीं अपने स्कूल के चपरासी वंशी के पूर्वी और अपने सहपाठी वजीरखान के लाउई के गीत भी। गीतों के इस व्यापक आकर्षण ने सत्यार्थी के पैरों में वह चक्कर उत्पन्न किया जिसके विषय में गाँव के ज्योतिषी ने पहले ही आशंका प्रकट कर दी थी।

पुस्तक का नाम 'चाँद-सूरज के बीरन' जैसा रोमाण्टिक है वैसा ही सार्थक भी। चाँद और सूरज नित्य-प्रति पृथ्वी की परिक्रमा करते-करते कभी नहीं थकते, वैसी ही प्रकृति तो देवेन्द्र सत्यार्थी ने भी पाई है।

प्रस्तुत पुस्तक में श्री देवेन्द्र सत्यार्थी के बचपन से लेकर युवावस्था के पदार्पण तक का चित्र है। लेखक ने उन सब प्रभावों को बड़ी सुन्दरता से सँवारा है, जो उसके व्यक्तित्व को बनाने में सहायक हुए हैं। अपने परिवार और ग्राम भदौड़ का बड़ा ही स्वाभाविक चित्र उसने खींचा है। जिन व्यक्तियों ने उसके जीवन को अधिक प्रभावित किया है उनमें मौसी भागवन्ती, भाभी धनदेवी, माँ, माजी, ताई गंगी, फत्तू, बाबा और उसका सहपाठी तथा मित्र आसासिंह हैं। इन सबके स्नेह से देव का व्यक्तित्व जिस प्रकार माखन की पुतली की भाँति कोमल, भावुक और सरस बनता है, उस पूरे कार्य-कलाप के शब्द-चित्र देने में लेखक को बड़ी सफलता प्राप्त हुई है। इस आत्म-कथा को पढ़ते समय एक बात सदैव मेरे मन में आती रही है कि नगर और ग्राम के बालकों में एक सबसे बड़ा अन्तर यह होता है कि किराये के मकानों में रहने वाले, आज यहाँ कल

१. 'हिन्दी कथाशिल्प में कथानक का ह्रास'—'आलोचना' अंक ७।
२. 'अपना राज : अपने आदमी', लेखक—रामकृष्ण, प्रकाशक—ऋता प्रकाशन, पोस्ट बाक्स १२, लखनऊ।
'जिन्दगी के अनुभव', लेखिका—नमिता लुम्बा, प्रकाशक—सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
'संघर्ष के बाद', लेखक—विष्णु प्रभाकर, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
'चार के चार', लेखक—कमल जोशी, प्रकाशक—शुभ्रा प्रकाशन, २६ कण्ट्राक्टर्स (वेस्ट) जमशेदपुर।

वहाँ स्थानान्तरित हो जाने वाले परिवारों में पलने वाले बच्चों का प्रकृति से उतना नैकट्य कभी नहीं स्थापित हो सकता जितना ग्रामीण बच्चों का; जो घर की गाय, भैंसों, बैलों और बकरियों से ही एक अविच्छिन्न सम्बन्ध नहीं पाते बल्कि जिन्हें घर के सामने के पीपल और बरगद पुरानी कहानियाँ सुनाते प्रतीत होते हैं और खेत के नन्हे-नन्हे पौधों की पत्तियाँ जीवन का नया सन्देश देती प्रतीत होती हैं। बचपन से ही देव के स्वभाव में एक स्वच्छन्दता है, व्यर्थ के बन्धनों के प्रति उसके मन में एक प्रकार का आक्रोश और विद्रोह है। भय से कोई काम उससे नहीं करवाया जा सकता, प्रेरणा और आदर्श उससे चाहे जो करवा लें। गीत, लोक-गीत, ग्राम-गीतों की, चाहे वह किसी प्रदेश या बोली के हों, भाव-सुकुमारता तथा आडम्बरहीनता-जैसे बचपन से ही उसका जीवन-संगीत बन गई थी। उसके सहपाठी आसासिंह ने उसके इस शौक को और खराद चढ़ाई, राधाराम ने भी इसमें सहायता दी और नागरिकता के कायल लोगों का यह कथन कि जो बात उर्दू की शायरी में है वह गँवारू गीतों में कहाँ आ सकती है उसके मन को न डिगा सका। लोक-गीतों के प्रति प्रेम उसके मन में गहरे-से-गहरा उतरता चला गया और एक दिन उसने अपना यह रंग दिखलाया कि उन्हींके चक्कर में वह अपने परिवार और माता-पिता को छोड़कर निरवलम्ब चल दिया। ग्राम-गीतों के इस प्रेम की तुलना किसी संसारी प्रेम या लगन से न करके किसी आस्तिक के अपने इष्टदेव के प्रति प्रेम से ही की जा सकती है। 'चाँद-सूरज के बीरन' को पढ़कर यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि लोक-गीत ही देवेन्द्र सत्यार्थी का जीवन है, यदि इन्हें उनके जीवन से निकाल दिया जाय तो जैसे जीवन का सार ही निकल जाय।

देवेन्द्र सत्यार्थी अपनी आत्म-कथा से स्पष्ट ही आदर्शवादी दिखलाई देते हैं। इस आत्म-कथा में यदि मुझे कोई कमी दिखलाई दी तो वह मानसिक दुर्बलताओं के चित्रण की कमी—आत्मघात वाली घटना ही एक दिखलाई दी।

'चाँद-सूरज के बीरन' में कहीं-कहीं बड़े ही हृदयग्राही और मार्मिक गीत लेखक ने दिये हैं, जिनके भावों की सुकुमारता, आडम्बरहीनता, विचारों का अछूतापन तथा कौमार्य मन को बिद्ध कर देता है। कुछ उदाहरण देने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता। पंजाबी और उनका आशय देने के बदले केवल आशय ही दिये देता हूँ :

"कब्रें इन्तजार करती हैं, जैसे माताएँ बेटों का इन्तजार करती हैं।"

कब्र और माँ की यह तुलना निश्चय ही अद्भुत है।

"ओ चाँद, तेरी और मेरी चाँदनी; ओ तारे, तेरी और मेरी धमक, ओ री ओ! चाँद रोटियाँ पका रहा है, तारा रसोई कर रहा है, ओ री ओ! चाँद की पकाई हुई रोटियाँ मैंने खा लीं, तारे की रोटियों में से भी दो ही बची रह गईं, ओ री ओ! सास ने मुझसे कहा, 'घी में मैदा गूँधो।' ओ री ओ! घी में मैदा कम पड़ा, सास मुझे गालियाँ दे रही है, ओ री ओ! ओ सास, मुझे गालियाँ मत दे, यहाँ हमारा कौन सुनेगा, ओ री ओ! महलों के नीचे खड़ा है मेरा बाप, तुम्हारी गालियाँ सुन-सुनकर उसकी आँखों में आँसू भर आते हैं, ओ री ओ! न रो बाबुल, न रो, बेटियों के दुःख बहुत बुरे होते हैं, ओ री ओ! चाचे का बेटा भाई लगता है, वह मेरे पास से गुजर गया। मेरा अपना बीरन होता तो नदियों को चीरता हुआ मुझे आ मिलता। ओ री ओ!"

इस गीत की मार्मिकता की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है, बात चाहे कितनी ही

पुरानी हो परन्तु हृदय को झकझोर देती है।

ये वह कोमल गीत हैं जो देवेन्द्र सत्यार्थी को जैसे घुट्टी में ही मिल गए थे, इन्हींने उनके जीवन को बनाया, सँवारा और प्रेरणा दी है। इन्हें जाने बिना देव के व्यक्तित्व के विकास को नहीं समझा जा सकता।

देवेन्द्र सत्यार्थी की गद्य-शैली बड़ी स्वाभाविक, शब्दाडम्बरहीन, पर सशक्त है। भावों को प्रकट करने की प्रचुर क्षमता उसमें है। दृश्यों का चित्रण करने में और कल्पना की ऊँची उड़ानें भरने में हमें सत्यार्थी के कवि के दर्शन होते हैं, पर उनकी काव्यात्मकता न तो उनकी शैली को बोझिल ही बनाती है न गद्य-काव्य के निकट ही पहुँचा देती है; जैसा अक्सर कवियों के गद्य में हो जाता है।

मुझे यह पूर्ण विश्वास है कि देवेन्द्र सत्यार्थी की इस आत्म-कथा के प्रथम भाग का हिन्दी-जगत् में खूब ही स्वागत होगा और पाठक आगामी तीन भागों की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करेंगे, जो निश्चय ही अधिक रोचक होंगे, क्योंकि उनमें सत्यार्थी जी के पर्यटन की कथा होगी।[1]



ति० शेषाद्रि

भारतीय साहित्य का परिचय (तमिल)

इस पुस्तक का गेट-अप, छपाई आदि सुन्दर है। छपाई की भूलें नहीं के बराबर हैं; और जो दो-चार-भूलें यत्र-तत्र दिखाई देती हैं वे भी शायद तमिष् के अक्षरों की अनभिज्ञता के कारण हुई हैं। उदाहरण के लिए उयिरेछुतु[2] शब्द को लें, छु की जगह लु या षु होना चाहिए। 'कुरिंजि-वकली'[3] शब्द अवश्य ग़लत छपा है।

तमिष् की एक विशेष ध्वनि ष् है उसका संकेत सर्वत्र एक समान नहीं किया गया है। यह बात अवश्य खटकती है। मेरी राय में इस ध्वनि का 'ष' के नीचे बिन्दी लगाकर संकेत देना उचित होगा; क्योंकि यह ध्वनि 'ल' या ळ की अपेक्षा ष के अधिक समीप है। इस पुस्तक में इस अक्षर के लिए कहीं ल का व्यवहार हुआ है तो कहीं ळ का, यह अवश्य भ्रम में डाल सकता है।

तमिष् की और एक विशिष्ट ध्वनि है जिसका र के नीचे बिन्दी देकर संकेत किया जा सकता है। वह ध्वनि आर. रि. वु[4] या आर् रूंप्पडै में पाई जाती है।

अगर लेखक शुरू में इन ध्वनियों का परिचय दे देते और पुस्तक में सर्वत्र उसके अनुकूल सावधानी दिखाते तो अच्छा होता।

१. 'चाँद सूरज के बीरन', लेखक—देवेन्द्र सत्यार्थी, प्रकाशक—एशिया प्रकाशन, नई दिल्ली।
२. पृष्ठ १६।
३. पृष्ठ २१।
४. पृष्ठ १७।

तमिल भाषा और साहित्य के परिचयात्मक ज्ञान की दृष्टि से यह पुस्तक पर्याप्त ही नहीं, बल्कि सुरुचिपूर्ण तथा सुन्दर है। लेखक तमिल-भाषी हैं और दिल्ली में रहते हैं अतः इस काम के लिए बिलकुल उपयुक्त व्यक्ति हैं। तमिल-साहित्य के विशाल कानन का इतना अच्छा तथा सुन्दर परिचय देना अवश्य कठिन काम है, पर लेखक ने अपना उत्तरदायित्व खूब निबाहा है। एतदर्थ वे बधाई के पात्र हैं।

फिर भी जो तमिष और तमिष् साहित्य के ज्ञाता हैं वे एक बार पुस्तक पढ़कर यही समझेंगे कि लेखक ने ऊपर-ऊपर की सुनी या पढ़ी बातों का आधार लेकर यह पुस्तक तैयार की है।

इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) कवि-परिषद्[1] का जो नाम इस पुस्तक में आया है उसका तमिष् मूल 'पुलवर-संघ' है। 'पुलवर' कवि का समानार्थी नहीं है, यद्यपि कवि पुलवर भी हो सकता है, अतः 'पुलवर' को पण्डित के अर्थ में अनूदित करना अधिक युक्त होगा।

(२) इसी प्रकार 'आररिकुयिर' को छः बुद्धि वाले कहकर समझाने का प्रयास किया गया है। पता नहीं, हिन्दी-भाषा-भाषी उसे ठीक तरह से समझ सकेंगे? पाँच इन्द्रिय-ज्ञान के अतिरिक्त विवेकयुक्त मनुष्य को 'आररिवुचिर' कहा जाता है। मेरी सम्मति में इस बात को समझाकर कहना आवश्यक था।

(३) 'आष्वार'[2] का अर्थ 'रक्षक' दिया गया है। लेकिन तमिल में 'आष्वार' शब्द भी है और एक 'आलवार' शब्द भी है। 'आलवार' का अर्थ रक्षक है और 'आष्वार' का अर्थ है 'जो डूबे रहते हैं'। वे सदा भगवद्गुणार्णव में डूबे या मग्न रहते थे, अतः उनकी उपाधि आषवार पड़ी।

अब कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं, जिनमें पद्यों के अर्थ करने में असावधानी बरती गई है, जिससे उनका अर्थ-गौरव घट गया है या भाव विपरीत हो गया है अथवा समझने में भ्रम हो सकता है—

(१) 'विशालकाय हाथी जब जलाशय में पड़ा रहता है'[3] आदि का मूल इस प्रकार है—

डक्कुरु माक्कळ वेण् गोडु कषा अलिन्
नीतुरै पडियु पेरु गलिरु पोल्—

इसमें 'वेण्गोडु कषाअलिन्' का अर्थ है 'सफ़ेद दाँत साफ़ करें, इस उद्देश्य से' लेखक के अर्थ से ऐसा लगता है मानो हाथी पहले ही पानी में हो, बालक नटखटपन कर रहे हों और हाथी उसे सह रहा हो। असल बात यह है कि हाथी सफ़ेद दाँतों का मैल दूर करना चाहता है। इसी कारण वह जलाशय में पड़ा रहता है। अगर यहाँ अर्थ 'जलाशय' का विद्वानों की संगति से, 'बालक' का पण्डित कवि से और 'साफ़ करने' का सदुपदेश देने से लगाया जायगा तो इस पद्य का अर्थ-गौरव तथा सौन्दर्य नष्ट हो जायगा।

(२) 'पारि'[4] सम्बन्धी पद्य का भावार्थ साफ़ नहीं हुआ है।

---

१. पृष्ठ १४।
२. पृष्ठ ४६।
३. पृष्ठ २८।
४. पृष्ठ ३०।

(३) 'तिरुवल्लुवर'[१] के सम्बन्ध में लिखा गया है। 'तिरुक्कुरल' से काफ़ी भावार्थ भी दिये गए हैं। लेकिन यह पता नहीं लगता कि लेखक ने निश्चित पद्यों को लेकर, उनके अनुवाद दिये हैं या समूचे ग्रन्थ के अध्ययन से निष्कर्ष निकालकर भावार्थ प्रस्तुत किया है। अगर अनुवाद ही हों, तो पद्य-संख्या देने से यह भ्रम दूर हो जाता।

एक वाक्य है : 'स्त्री से महान् और कौन है यदि वह शील रूपी सुदृढ़ शक्ति से युक्त हो तो....'[२]

अगर यह व्याख्या लेखक की अपनी शैली में है तो कहना पड़ेगा कि भाव में गम्भीरता नहीं है, और 'तिरुवल्लुवर' के अर्थ-गौरव को स्पष्ट नहीं करती है। अगर किसी पद्य का अनुवाद है तो अनुवाद जल्दी में असावधानी से किया गया है।

शायद यह इस कुरळ का अनुवाद है :

पेण्णिर् पेरुन्दक्क, याकुळ कर्पेन्नुन्
तिण्मैयुण्डाहप् पेरिन्

[जो सतीत्व की दृढ़ता रखने वाली हो ऐसी स्त्री से बढ़कर श्रेष्ठ सम्पत्ति क्या है—कुछ नहीं है।]

(४) इसी तरह 'रूठना'-सम्बन्धी जो नमक वाली उपमा दी गई है उसके लिए 'कुरळ' में आधार नहीं मिलता।

विषय के ज्ञान के सम्बन्ध में भी कुछ भ्रम के उदाहरण हैं—

(१) कहा गया है कि 'शिलप्पधिकारम्'[३] नाटकीय शैली में रचित सर्वांग-सुन्दर काव्य है। तमिष के साहित्यज्ञ जानते हैं कि यह ठीक नहीं है।

(२) आण्डाल के बारे में बात करने वाला कोई 'तिरूप्पावई' का नाम तक लेना भूल जाय, यह समझना कठिन है। यह किसी भी तमिष् देशवासी के मन में एक खीझ पैदा करेगा। शायद लेखक को पता नहीं है कि 'तिरूप्पावई' 'नाच्चियार तिरुमोषि' के अन्तर्गत नहीं आया है यद्यपि तिरुमोषि का अर्थ 'श्रीसूक्तियाँ' है। 'पावै व्रत' 'काम व्रत' से अधिक प्रसिद्ध है और 'तिरुप्पावई' का ही अधिक महत्त्व है।

(३) लेखक ने भारतीदासन् की प्रशंसा खूब की है। एक कलाकार के रूप में इनको इतनी प्रशंसा मिलनी भी चाहिए थी। लेकिन नामक्कल रामलिंगम् पिल्लै का परिचय अधूरा है। लेखक यह मानेंगे कि कला उस समय हेय हो जाती है जब वह हेय भावों का प्रचार करने लग जाती है।

भारती दासन् के घातक प्रचार का कोई सबल प्रतिद्वन्द्वी है तो वह नामक्कल रामलिंगम् पिल्लै हैं। कविता के ही क्षेत्र में वे उसका यथायोग्य जवाब देकर राष्ट्रीय एकता, भक्ति की दृढ़ आस्था, गांधीवादी सिद्धान्तों के आधार पर सामाजिक उन्नति तथा आर्थिक उत्थान आदि का प्रचार तथा प्रसार कर रहे हैं। उनके मूल्यांकन में लेखक अवश्य चूक गए हैं। भारती दासन् को पढ़ने वाले तमिष-संस्कृति का अच्छा परिचय प्राप्त नहीं कर सकते।

१. पृष्ठ ३२।
२. पृष्ठ ३४।
३. पृष्ठ ३८।

लेखक ने 'नेडुन्तोगै' का नाम दिया है, और बाद में वे 'अहनानूरु'[1] की चर्चा करते हैं। दोनों एक ही चीज के नाम हैं, लेखक यह कहना भूल गए हैं।

लेखक यदि 'आररूप्पडै' का शाब्दिक अर्थ भी दे देते तो समझना सरल हो जाता।

आधुनिक काल के साहित्यिकों में लेखक कुछ मान्य व्यक्तियों के नाम छोड़ गए हैं; जैसे औवै दोरैसामी पिल्लै, डॉ० मा० राजमाणिक्कम् पिल्लै आदि हैं। शायद ऐसा इसलिए हुआ कि पुस्तक छोटी है और स्थान का अभाव था।

एक बात का मैं स्पष्टीकरण करना चाहता हूँ। लिखा गया है—"बी० एस० रामैया इधर कुछ वर्षों से साहित्य-जगत् से दूर हट गए हैं यह खेद की बात है।"[2]

उनके आश्वासनार्थ मैं यह कहना चाहूँगा कि बी० एस० रामैया की कहानियाँ अब सभी पत्र-पत्रिकाओं को सजाने लगी हैं। परन्तु प्रश्न है एक व्यक्ति-विशेष के प्रति इतना पक्षपात क्यों? उनके समकक्ष लेखकों के बारे में तो लेखक भूल ही गए।

'चन्दा मामा' के तमिल रूप का नाम 'अंबुली मामा' है।

इन साधारण भूलों के बावजूद प्रस्तुत पुस्तक सुरुचिपूर्ण है। इसका विषय-संकलन बहुत उत्तम रीति से किया गया है।

अगले संस्करण में यदि इन त्रुटियों को दूर किया जायगा तो पुस्तक और भी उपादेय हो सकेगी।[3]



राजेन्द्रप्रसादसिंह

प्रगतिशील चिन्तन और साहित्य

'प्रगति' एक सापेक्ष अर्थ रखने वाला शब्द है। किसी युग, राष्ट्र, समाज या व्यक्ति के सम्बन्ध में जब इस शब्द का प्रयोग होता है, तो एक अवस्था, क्रिया या विचार का दूसरे इन तत्त्वों से बढ़ जाना ही सामान्य अभिप्राय रहता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि समय के व्यतीत हो जाने से ही 'प्रगति' की संज्ञा सार्थक हो जाती है, प्रत्युत एक स्थिति के कुछ प्रमुख तत्त्वों का दूसरी में विकास हो जाने से होती है। परिवर्तन ही प्रगति नहीं है; प्रगति की प्रक्रिया में परिवर्तन, विकास या क्रान्ति घटित हो सकती है।

इस सम्बन्ध में डॉ० रांगेय राघव की नवप्रकाशित पुस्तक 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' की कुछ पंक्तियों पर ध्यान जाता है: "प्रगति जन-कल्याण है, कितनी अधिक, कितनी कम, इसका निर्धारण प्रगतिशीलता के मानदण्ड कर सकते हैं। प्रगति संसार में

१. पृष्ठ २२।
२. पृष्ठ ११७।
३. 'तमिल और उसका साहित्य', लेखक—पूर्ण सोमसुन्दरम्, सम्पादक—क्षेमचन्द्र 'सुमन', प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली : बम्बई।

सदैव रही है—जीवन में भी, साहित्य में भी, किन्तु अब हम जिसे प्रगतिशीलता कहते हैं, वह सामाजिक तथा राजनीतिक विश्लेषण के आधार पर स्थित है और उसीके आधार पर हम किसी कवि को तत्कालीन समाज और तत्कालीन राजनीति में सापेक्ष्य रूप से रखकर उसकी आलोचना करते हैं।" प्रगति के सम्बन्ध में हमारी यह 'अब' की धारणा निश्चय ही प्रगति के क्षेत्र को 'विचार' की स्वतन्त्र विकास-परिधि से हटाकर 'व्यवस्था' के संकीर्ण वृत्त में ला देती है और मात्र-व्यवस्था के आधार पर विचार को अवलम्बित सिद्ध कर, 'प्रगति' के अर्थ को सीमित कर, 'प्रगतिशीलता' बना देती है। उपर्युक्त धारणा में 'विश्लेषण' को ही आधार माना गया है, जो सामाजिक और राजनीतिक होने के कारण मनोगत मूल्यों के प्रति पूर्ण न्याय की शक्ति नहीं रखता, यह प्रायः सिद्ध ही है। मनोगत मूल्यों की स्थिति व्यक्ति की विशिष्टताओं पर भी बहुत-कुछ निर्भर रहती है, यद्यपि सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव, उसकी व्यावहारिक गति-विधि के माध्यम से, उस स्थिति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भाग लेता है। किन्तु उक्त पुस्तक के लेखक ने स्पष्ट ही लिखा है: "समाज में ही मनुष्य का इति-अथ है। अतः प्रगतिशील विचारक उन सब विचार-धाराओं को गलत मानता है, जो सामाजिकता का विरोध करके व्यक्ति को एकांगी बनाने का प्रयत्न करती हैं।" व्यक्ति की उन विचार-धाराओं को वह ठीक नहीं समझता जो समाज में शोषण को प्रश्रय देती हैं और मनुष्य को मनुष्य से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से घृणा करना सिखाती हैं। अवश्य ही ऐसी विचार-धाराओं का खण्डन होना चाहिए, यदि उनके पीछे सामाजिकता, सर्वांगीणता, बन्धुत्व और साम्य के विरुद्ध षड्यन्त्र कर स्वार्थ-पोषण का लक्ष्य छिपा रखा गया हो और उनकी सैद्धान्तिक स्थापनाओं में आत्मानुभूति के बदले मात्र विडम्बना भरी हो, साथ ही उनके द्वारा निर्दिष्ट आचार-विधान से सिद्ध होता हो कि समकालीन युग-चेतना के विकास की सीमा को वर्ग-स्वार्थ के लिए ही संकीर्ण कर लिया गया। ऐसा इसलिए कि युग-चेतना की विकास-सीमा के कारण, सामाजिक वर्ग-स्वार्थ के पोषण की प्रवृत्ति सुप्त रहने पर, जो विचार-धाराएँ व्यक्तियों की आत्मानुभूति से सहज ही फूटकर समाज में स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होती हैं; उन पर आधुनिक वर्ग-विश्लेषण की दृष्टि से वर्ग-स्वार्थ के लिए षड्यन्त्र का आरोप करना सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है। रांगेय राघव ने भी स्वीकार किया है: "प्राचीनों की सीमाएँ थीं। वे जिस युग में रहते थे, उसकी वैज्ञानिक व्याख्या नहीं कर पाते थे। कार्लमार्क्स के पहले यह ज्ञान समाज को नहीं था।" तब ऐसे आरोपों पर भी पुनर्विचार होना चाहिए। विचार-धाराओं के एकांगी होने की बाबत भी कुछ ऐसी ही बात है। जिसे हम आज एकांगिता समझते हैं, वह कभी मूल रहस्य या अनिवार्यता के रूप में भी मानी गई हो सकती है। ऐसी विचार-धाराएँ अपने युग-परिवेश में अपेक्षाकृत प्रगतिशील भी सिद्ध हो सकती हैं, जिसे स्वीकार करने के लिए व्यापक सामाजिक मानदण्ड आवश्यक है। रांगेय राघव बहुत दूर तक उस उदार मानदण्ड के समर्थक और प्रयोक्ता हैं, किन्तु सहज आत्म-चिन्तन के द्वारा उद्गत प्राचीन व्यक्तिवादी विचार-सरणियों की मूलगत निर्लेपता पर वे विश्वास-पूर्वक जोर नहीं देते—मात्र इसलिए कि इतिहास की दृष्टि से समाज-व्यवस्था पर उनके फल शोषण-प्रधान हुए। किसी समाज-व्यवस्था को जब तक उसके लोग वर्ग-संघर्ष की दृष्टि से निर्मित और स्वीकृत नहीं करते, तब तक उस पर शोषण-प्रधान होने का आरोप ठीक नहीं, वह समकालीन युग-चेतना की विकास-सीमा के अनुसार आदर्श व्यवस्था के रूप में भी स्वीकृत हुई हो सकती

है। तब तत्कालीन शोषक-शोषित-सम्बन्ध में भी घृणा और विवशता के बदले औचित्य और सन्तोष का शान्तिमय वातावरण मान लिया जायगा। ऐसी स्थिति में, एक काल-खण्ड में मानी गई प्रगति को उसके लिए ही, भविष्य में प्रतिक्रिया नहीं माना जायगा। शायद इसी दृष्टि से रांगेय राघव ने भारतीय साहित्य-परम्परा के सम्बन्ध में स्वीकार किया है: "हमारा साहित्य प्रारम्भ से ही जन-कल्याण की भावना से अनुप्राणित है। उसमें अपने-अपने युग के बन्धनों के अनुरूप शोषित वर्गों की हिमायत की गई है।" फिर भी, न जाने क्यों, आत्मानुभूति के सम्बन्ध में वे लिखते हैं: "अभी तक जिसे आत्मानुभूति कहते रहे हैं, वह व्यक्तिगत वस्तु है, और उच्च वर्गों ने उसकी आड़ लेकर जन-समाज का शोषण किया है।" इस विचार में आत्मानुभूति की मूलगत दिव्यता और निरपेक्षता का अनुपात स्वीकार नहीं किया गया। इसी प्रकार ब्राह्मणत्व के प्रभाव और शास्त्र-रचना की विवेचना करते हुए वे लिखते हैं: "इन तीन अवस्थाओं में (बर्बर, सामन्त और इस्लाम के युग) क्रम से शास्त्रों ने जो मर्यादा नियत की, वह उच्चवर्गीय लोगों और ब्राह्मणों के स्वार्थ की सिद्धि करती थी।" इस निष्कर्ष में जनता के द्वारा ब्राह्मणों के धार्मिक महत्त्व की स्वाभाविक स्वीकृति और शास्त्रीय नियमों के प्रति एक आत्मीयता के मूल में बसी हुई परम्परागत व्यापक श्रद्धा और हार्दिक सचाई का स्थान नहीं है। लेखक ने श्रद्धा और हार्दिक विश्वास की सहजता कहीं नहीं मानी है; पर ये तत्त्व व्यक्ति की स्वतन्त्र विशिष्टता के द्वारा मनोगत मूल्यों की रचना में गहरा योग देते हैं।

श्रद्धा और आस्था वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के अविनाशी और व्यापक तत्त्व हैं। उनकी स्वीकृति बुद्धि और व्यवस्था की दृष्टि से न की जाय पर भावना और चरित्र की दृष्टि से अवश्य होती है। सभी देशों के जन-जीवन के लिए यह एक संस्कृति-संगत सत्य है। भारतीय जन-जीवन के अध्ययन से तो सिद्ध होता है कि मानव-प्रगति की सूक्ष्मतामूलक दिशाओं का निर्देशन श्रद्धा और आस्था ने ही किया है; जो तर्क-विरचित नहीं, सहज हार्दिक तत्त्व हैं।

मस्तिष्क की यह यान्त्रिक व्याख्या शरीर-विज्ञान का एक यथार्थ हो सकती है, जीवन की प्राणवत्ता का सत्य नहीं, क्योंकि जीवन की दृष्टि से न मस्तिष्क एक यन्त्र-मात्र है और न हृदय। जीवन में तो मस्तिष्क उस परिधि का बोधक है, जिसमें उचित-अनुचित और लाभ-हानि की व्यावहारिक और तर्कबद्ध स्थिति रहती है, और हृदय उस घेरे की व्याप्ति का बोधक, जिसमें मानवीय और व्यक्तिगत संस्कार के तत्त्व, अतीन्द्रिय अनुभूतियों की शक्ति और आत्मा की सहज द्रवणशीलता प्रतिष्ठित होती है। रांगेय राघव हृदय और बुद्धि की यह विशिष्ट भिन्नता नहीं मानते; जिनमें सामंजस्य न होने पर ही अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था आती है जो बाहरी संघर्षों का भी सूत्रपात करती है।

मानव-विकास के इतिहास में श्रद्धा और आत्मानुभूति पर आधारित कला और धर्म के विकास का मार्क्सवादी अध्ययन करने वाले मानते हैं कि वर्ग-स्वार्थ और वर्ग-संघर्ष ही उसकी मूल प्रेरणा है; शोषण ही उसकी कारणभूत शक्ति सिद्ध है। डॉ॰ रांगेय राघव भी लिखते हैं: "मनुष्य का इतिहास प्रमाणित करता है, आज तक शोषण किसी-न-किसी रूप में जीवित रहा है। समाज की व्यवस्था बदली है, वर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध बदले हैं, किन्तु पूँजीवाद तक शोषण जारी रहा है, उसके रूप सदैव ही बदलते रहे हैं।" "शोषण किसी भी रूप में हो, प्रगतिशील साहित्य उसका प्रत्येक युग में विरोध करता है। आज ही नहीं, वह कालिदास

के युग में भी यही देखता है कि उस समय कौन शोषक-वर्ग का हिमायती था और कौन नहीं था।" "जैसे-जैसे सामन्तीय समाज-व्यवस्था विषयशील होती गई, वेदान्त का प्रचार उच्च वर्गों में अधिक बढ़ चला और उसने जन-समाज को फिर भाग्यवाद आदि में जकड़ा और शोषण-पद्धति का न्याय देने का प्रयत्न किया। उस वेदान्त का समाज-पक्ष सामन्तवाद था। संसार-भर में धर्म ने जन-समाज को दबाये रखने का काम किया है।" इन धारणाओं से कला, धर्म और दर्शन के सम्बन्ध में उनकी विषयगत सदाशयता सन्देहजनक जान पड़ती है; किन्तु श्रद्धा, आत्मानुभूति और ज्ञान-सम्बन्धी दृष्टिकोण से मूलतः प्रेरित और नियन्त्रित होने के कारण उनके विकास का प्रच्छन्न अभिप्राय वर्ग-स्वार्थ को प्रश्रय देना नहीं माना जा सकता; आधुनिक अर्थशास्त्रीय दृष्टि से उस विकास का व्यवस्थात्मक फल भले ही वैसा मान लिया जाय। धर्म और कला के विकास में कारणभूत तत्त्व तो शुद्ध रूप से आत्मानुभूति, आत्मबोध और श्रद्धा रही है, उसका ही फल शोषण का प्रसार हो चला हो—ऐसा विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता, जब तक सिद्ध न हो जाय कि धर्म और कला से ही आर्थिक सम्बन्धों का संगठन होता रहा है। धर्मशास्त्र की मान्यताओं ने जिस अनुपात में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन में भाग लिया है, उस अनुपात में उच्च शासक-वर्गों का प्रभाव उन पर है; पर जिस अनुपात में आत्म-चिन्तन और जीवन-दर्शन की उपलब्धियों को प्रसारित किया है, उस अनुपात में वे व्यवस्था-निरपेक्ष और स्वतन्त्र हैं।

पर डॉ० रांगेय राघव व्यक्तिगत उपासना के विरोधी नहीं हैं और न प्रगतिशीलता को उसका विरोधी मानते हैं। वे लिखते हैं: "प्रगतिशील साहित्य उस शाश्वतवाद का विरोधी नहीं है जो समाज और राजनीति को 'माया' समझकर दूर रहता है और इस प्रकार शोषण को सहायता नहीं देता। वह शाश्वतवाद व्यक्ति का अपना विश्वास है। यदि वह राजनीति और समाज पर अपना बुरा प्रभाव डालता है, तो वह विरोध का पात्र है, अन्यथा व्यक्ति के मन का वह उपासना-क्षेत्र है; जिसकी कोई सामाजिक जिम्मेदारी नहीं है तो प्रगतिशील साहित्य उसका विरोध नहीं करता।" तब व्यक्ति के आत्म-दर्शन के सम्बन्ध में कोई निश्चित दृष्टिकोण न देकर उसके व्यक्तित्व का मूल्यांकन नहीं करने वाली प्रगतिशीलता, मात्र समाज-सम्बद्ध मानी जायगी। तब वह भी एकांगी और व्यक्ति के 'स्व' को उपेक्षित रखने के कारण एक पूर्ण जीवन-दर्शन नहीं कही जा सकती। तब एक विरोधाभास भी स्पष्ट है कि एक स्थान पर लेखक का मत उद्धृत करना पड़ा है: "प्रगतिशील विचारक उन सब विचार-धाराओं को ग़लत मानता है, जो सामाजिकता का विरोध करके व्यक्ति को एकांगी बनाने का प्रयत्न करती हैं।" फिर व्यक्ति को एकांगी होने की स्वतन्त्रता कहाँ रही? किन्तु व्यक्ति के लिए किसी निश्चित जीवन-दर्शन का भी संकेत कहाँ हुआ? एक अन्य प्रसंग में रांगेय राघव ने लिखा है: "मनुष्य का असली काम है ज्ञान प्राप्त करना और सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं का निर्माण करना, प्रकृति पर विजय प्राप्त करके सृष्टि के रहस्यों को खोजना।" किसी भी प्रगतिशील चिन्तक का यह सबसे उदार स्वर माना जायगा; पर मनुष्य के द्वारा अधिकाधिक इन सारे कार्यों का सम्पादन आधुनिक युग में हो रहा है; फिर भी शोषण और स्वार्थ के विरुद्ध उसकी मानवता और नैतिकता नहीं बढ़ रही, जो इन असली कामों को नकली साबित होने से बचा ले। इसका कारण उसके स्वभाव में श्रद्धा और हार्दिक सहानुभूति का ही 'अभाव' है, जो वर्ग-घृणा और आर्थिक तनाव की

भित्ति पर निर्भर है।

मनुष्य का अभ्युदय अनेक प्रकार से रुका हुआ है। उसके जीवन की सारी सम्भावनाएँ विफल होती जा रही हैं। उसकी निर्माण-शक्ति जितनी ही उन्नति करती जाती है वह उतना ही नैतिक ह्रास के गर्त में अनिश्चित भविष्य की ओर लुढ़कता जाता है। ऐसी स्थिति में जहाँ शोषण की शृङ्खलाएँ छिन्न कर दी जाती हैं, वहाँ भी व्यक्तियों की अधिकार-लिप्सा और अधिकारियों के सशक्त संकीर्ण स्वार्थ का प्रसार व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और जन-प्रगति के लिए जहर बन जाता है।

गोर्की के सम्बन्ध में लिखते हुए डॉ० रांगेय राघव रूस की प्रगति पर भी विचार व्यक्त कर चुके हैं : "मैक्सिम गोर्की रूस में उस समय हुए, जब वहाँ एक अभूतपूर्व परिवर्तन हो रहा था। उन्हें इतिहास के तीन दौर देखने पड़े, उनमें से गुजरना पड़ा और वे प्रत्येक युग के प्रति सचेत रहे। पहला युग था ज़ार का समय, दूसरा युग था क्रान्ति-युग और तीसरा युग था क्रान्ति के बाद का निर्माण-काल। पहले युग में दरिद्रता, दुःख और अन्याय था। दूसरा युग शोषित-वर्ग का वह प्रचण्ड और विराट् संघर्ष था, जिसने तीसरे युग को ला खड़ा किया। तीसरे युग में मनुष्य को इतिहास में पहली बार स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। मनुष्य की यह स्वतन्त्रता अराजकतावादियों और आतंकवादियों की स्वतन्त्रता नहीं थी। यह सामाजिक स्वतन्त्रता थी जिसमें व्यक्ति के अधिक-से-अधिक विकास की सम्भावना सरल हो गई थी।" किन्तु यह प्रश्न सहज ही उठ आता है कि क्या वह सम्भावना सफल भी हुई या हो रही है अथवा कभी भविष्य में हो सकने की आशा से अनुप्राणित है? रांगेय राघव का इस सम्बन्ध में कुछ भी स्पष्ट विचार नहीं मिलता। किन्तु 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' के प्रकाशन से पूर्व ही, १९४९ में प्रकाशित पुस्तक 'प्रगतिवाद : एक समीक्षा' में प्रथमतः उदार और निष्पक्ष दृष्टि से मार्क्सवाद और साहित्य की विवेचना प्रस्तुत करते हुए धर्मवीर भारती ने रूस के सम्बन्ध में उल्लेख किया था : "ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, रोलाँ ने अनुभव किया कि रूस के क्रान्तिकारी धीरे-धीरे सैद्धान्तिक संकीर्णता में उलझते जा रहे हैं। वे विचार-स्वाधीनता की अवहेलना कर रहे हैं और धीरे-धीरे स्वयं रूसी क्रान्ति एक प्रतिक्रियावाद का संकीर्ण पथ ग्रहण करती जा रही है। रोलाँ ने अनुभव किया कि इस समय विचार-स्वातन्त्र्य का नारा बुलन्द करने की ज़रूरत है और मानवता का तकाज़ा है कि इस तरह की बौद्धिक तानाशाही की पूरी खिलाफ़त की जाय।" स्वयं रोलाँ के शब्दों में—"१९२१-२२ में इस महान् हिंसात्मक मानसिक ग़ुलामी के विरुद्ध मैंने एक अथक लड़ाई छेड़ रखी थी।"

दरअसल क्रान्ति के पश्चात् की कठोर शासन-नीति के फलस्वरूप ही १९२९ में आर० ए० पी० पी० के अध्यक्ष के रूप में आवरबाख ने साहित्य में संकीर्ण सामयिकता और तानाशाही की नीति चलाई और कलाकारों पर दबाव की हद रखकर मनमानी रचनाओं से सांस्कृतिक स्वतन्त्रता छीन ली। पर, इसके फलस्वरूप येसेनिन जैसे सुकुमार जनप्रिय और मायकावस्की-जैसे राष्ट्रवादी कवियों को भी आत्महत्या कर लेनी पड़ी। येसेनिन तो अवरबाख की संकीर्णता के सूत्रपात-काल में ही १९२५ में हुतात्मा हो गया और मायकावस्की भी पाँच वर्षों के भीतर ही कलाकार की स्वतन्त्रता, प्रेम और हृदय की उन्मुक्तता पर जैसे शहीद हो गया। आर० ए० पी० पी० को भंग कर दिया गया और उदार 'सामाजिक यथार्थवाद' के सिद्धान्त के द्वारा व्यक्ति के

अन्तःकरण की मुक्ति को भी प्रश्रय देने वाला सिद्धान्त रूस में प्रतिष्ठित हुआ। धर्मवीर भारती ने लिखा है : "संकीर्ण मार्क्सवाद तो क्रान्ति के बाद स्वयं रूस में ही दो कदम भी नहीं चल पाया। सोवियत रूस की संस्कृति आज मार्क्सवाद की सीमाएँ पार कर गई है। वह एक व्यापक भूमि पर खड़ी है। उसने मार्क्सवाद की नई व्याख्या की है।" किन्तु, 'आलोचना' के 'आलोचना-विशेषांक' में अपने एक लेख में विजयदेव नारायण साही ने १६५० में लिखी, कमिसार जोजेफरेवाई की जो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, उनसे स्पष्ट जान पड़ता है कि व्यक्ति और लेखक के प्रति रूस की उदारता सारी आशाओं पर पानी फेरकर अटूट तानाशाही बन गई है। पंक्तियाँ हैं : "पार्टी के नेतृत्व के द्वारा ही यह सम्भव है कि जनता की माँगें, आवश्यकताएँ और आलोचनाएँ लेखकों के पास पहुँचाई जायँ; श्रमिक जनता के जीवन के अनुसार साहित्य को सज्जित कर दिया जाय, जिससे वह शताब्दियों के प्रवाह में अलग हो गया था, और साहित्य को समाजवादी निर्माण और सामाजिक दीक्षा का सेवक बना दिया जाय।"—प्रस्तुत उद्धरण से इतना तो स्पष्ट है कि कम्युनिस्ट पार्टी की नीति की प्रतिध्वनि ही रूसी साहित्य की कसौटी बन गई है और वे सुनहले सपने बरबाद हो गए हैं जिनमें मानवतावादी निर्माण और वैयक्तिक स्वतन्त्रता के दिव्य कँगूरे जीवन की नई उषा के उल्लास को दूने-चौगुने कर देते। अब प्रश्न यह नहीं है कि रूस की नीति क्यों संकीर्णतर होती गई है, बल्कि सवाल है कि शोषण की पूँजीवादी परम्परा जिस देश में छिन्न कर दी गई, उसमें भी उदार मानवतावाद का प्रसार क्यों नहीं हुआ ? इसके जवाब में शायद कहना पड़ेगा कि शोषण के उस रूप का क्षय ही असली मानवीय समस्या नहीं है। समस्या है मानवता के सर्वांगीण अभ्युदय की; जिसके लिए मात्र आर्थिक परिवर्तन या क्रान्ति अपेक्षित नहीं। संसार का इतिहास एक सर्वतोमुखी क्रान्ति चाहता है; जिसका आधार आदमी के प्रतिगामी संस्कारों का विसर्जन होगा, जो नैतिक और बौद्धिक परिवर्तन से सम्भव है; जिसके बिना आर्थिक क्रान्ति अधूरी और विफल है, भले ही वह प्राथमिक औचित्य की अधिकारिणी हो।

भारत के सम्बन्ध में और हिन्दी-साहित्य के प्रति अपना प्रगतिशील चिन्तन लागू करते हुए रांगेय राघव ने जिस यथार्थवादी व्यापक दृष्टि से सामाजिक विकास को हृदयंगम किया है, उसके अनुकूल आधुनिक भारतीय स्थिति का निष्कर्ष भी उचित है : "आज मज़दूर-क्रान्ति का दौर नहीं है, साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चे को दृढ़ करने का भारत में प्रयत्न है। यही प्रगतिशील साहित्य का राजनीतिक और वर्तमान पक्ष है।" अपना यह निश्चय प्रकट करके रांगेय राघव ने अतिक्रान्तिवादी कुत्सित समाज-शास्त्रियों को राजनीतिक प्रगतिशीलता की भारतीय सीमा का औचित्य भी समझाया है और इस क्रम में मार्क्सवादी खेमे के संकीर्णतावादी आलोचकों की दृष्टि और पिछले दिनों में हुई प्रगति का विस्तृत समालोचन करके साहित्य और प्रगतिशील चिन्तन की उदात्तता का परिचय दिया है। मूलतः उनके दृष्टिकोण में इस केन्द्रीय प्रश्न की स्थिति है : "अध्यात्मवाद के समर्थकों का कहना है कि जब आप हर चीज़ को बदलती हुई मानते हैं तो फिर वह क्या चीज़ रहेगी जो आगे के युग में भी साहित्य में स्थायी बनकर रह सकेगी ?" प्रकारान्तर से, यही प्रश्न मार्क्स के मन में भी उठा था : "उस बात को समझ लेना ज़्यादा कठिन नहीं है कि ग्रीक तथा अन्य शाश्वत साहित्य सामाजिक प्रगति के बन्धनों से बद्ध था, पर यह समझना कठिन-सा है कि कितने ही समय बाद आज भी उनसे उतना ही रस मिलता

है, आनन्द मिलता है और कला की उच्चता उन्हें अब तक ऐसा आदर्श बनाए है कि उनकी-सी पूर्णता मिलनी कठिन दीखती है।'' डॉ० रांगेय राघव इस प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करते हैं : "तब बदलते हुए जीवन में शाश्वत क्या है ? मनुष्य की सामाजिकता, मनुष्य के प्रति मनुष्य की प्रीति यानी मानवतावाद अर्थात् समाज के लिए जन-कल्याण की भावना का विकास, यह अभी तक चलता चला आया है और चलता चला जायगा।'' साहित्य के सम्बन्ध में इसी मानवतावादी भाव से वे लिखते हैं : "प्रगतिशील साहित्य और उसके मानदण्ड केवल राजनीति में समाप्त नहीं हो जाते वरन् मनुष्य-जीवन की व्यापकता का स्पर्श करते हैं।''

किन्तु मार्क्स ने भी जिसे रसानुभूति-सा समझा है और भारतीय साहित्य का जो अभिन्न 'रस' तत्त्व है, उसके प्रति रांगेय राघव की दृष्टि उलझी-सी है। वे लिखते हैं : "रस-प्रक्रिया में उदात्तीकरण की जो भावना सर्वयुगीन साहित्य को मापने का मानदण्ड बनाना चाहती है, वह केवल एक संकुचित दृष्टिकोण है। क्योंकि 'उदात्त' की भावना युगानुरूप होती है। एक युग का 'उदात्त' दूसरे युग का नहीं होता।''—अवश्य ही रांगेय राघव समझते होंगे कि 'उदात्त' के उपकरण युगानुरूप होते हैं और 'उदात्त' बनाने की भावना चिरन्तन प्रेरणा है और उदात्त की अनुभूति के जिस युग की भूमि पर चेतना पा सके; चेतना में मूर्त आनन्द भी चिरन्तन है। तब 'उदात्त' की प्रेरणा युगानुरूप उपकरणों को माध्यम स्वीकार करके जब 'उदात्त' की अनुभूति का आनन्द ले लेती है, तो माध्यम के व्यवधान चेतना से ओझल हो जाते हैं और 'रस' की अवस्था आ जाती है, जो युगानुरूप उपकरणों से परे है। वही शाश्वत है; जिसके तत्त्वों की झलक मार्क्स ने भी पाई थी। इस ओर ध्यान न देकर लेखक ने 'मानवीयतावाद' का एक विवादास्पद रूप भी समाधान की जगह पर रखा है।

भारतीय इतिहास और हिन्दी-साहित्य के पहले की भारतीय अवस्था के विवेचन में पुस्तक के अत्यधिक पृष्ठ अनावश्यक सामग्रियों से भी भर गए हैं; पर सबसे दिलचस्प हिस्सा वह है जिसमें कुत्सित समाज-शास्त्रियों के नाम पर डॉ० रामविलास शर्मा की आलोचना-परम्परा की धज्जियाँ उड़ाई गई हैं। कम्युनिस्ट पार्टी के लिए कुछ tactful कही जाने वाली दृष्टि से सुझाव भी दिये गए हैं, जो बड़े दिलचस्प हैं। गांधी-नीति की भी यथेष्ट व्याख्या करके लेखक ने गांधीजी को पूँजीवाद का सन्त-परम्परागत समर्थक माना है, जिनके समन्वयवाद की अब आवश्यकता नहीं। जो सबसे स्पष्ट निर्णय है, बधाई के योग्य है, कि 'प्रगति' मात्र बाह्य नहीं, पूर्ण मानवीय होती है।[1]

---

१. 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड', लेखक—रांगेय राघव, प्रकाशक—सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा।

भारतभूषण अग्रवाल

काव्य और जीवन पर श्री सुमित्रानन्दन पन्त के विचार

'काव्य ही कवि का परम वक्तव्य है' [1] पर कभी-कभी परिस्थितिवश कवि को अपनी बात अन्य माध्यम से भी कहनी पड़ जाती है। विशेषतः प्रथम महायुद्ध और उसके बाद से भारत की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक परिस्थितियों में जो संक्रान्ति उपस्थित हुई, और जो आज तक उत्तरोत्तर गहन गम्भीर रूप ग्रहण करती रही है, उसने कवि को बाध्य कर दिया कि वह काव्य और जीवन-सम्बन्धी अपनी मान्यताएँ पाठकों तक पहुँचाए, और जीवन की गतिविधि के अनुरूप काव्यगत वस्तु और शिल्प में निरन्तर प्रतिफलित परिवर्तन की ओर उसके विवेक को जाग्रत करे। इसी कारण आज के कवि को स्वयं अपना व्याख्याता भी बनना पड़ा है, और जो मूल्यांकन उसे अपने आलोचकों से सहज ही मिल जाना चाहिए था, उसकी ओर भी ध्यान दिलाना पड़ा है। यह चाहे कवि का धर्म न हो, आपद्धर्म ही हो, पर यह आवश्यक है, और कविता में जो विकास और संक्रान्ति उपस्थित हुई है, उसका आग्रह है।

इसलिए अपने प्रथम प्रकाशित काव्य-संग्रह 'पल्लव' के साथ नवयुग-वाहक कवि पन्त को एक विशद भूमिका जोड़ देनी पड़ी थी, जिसमें उन्होंने तत्कालीन काव्य-परिस्थितियों का विवेचन करके अपनी काव्य-शैली और रूप-प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की थी। 'पल्लव' की वह भूमिका युगान्तरकारी थी, और अपनी ओजस्विता और नवीन दृष्टि के लिए ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त कर चुकी है। तब से लेकर अब तक युग-शिल्पी पन्त के काव्य ने जीवन और समय की प्रगति के साथ-साथ चलते हुए अनेक मोड़ पार किये हैं, और प्रायः प्रत्येक मोड़ पर उनको अपनी नई प्रगति का महत्त्व उद्घाटित करने के उद्देश्य से गद्य की पगडंडियों का सहारा लेना पड़ा है। इन्हीं पगडंडियों का संग्रह अब 'गद्य पथ' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

गद्य का यह पथ कवि पन्त ने अवश्य ही आपद्धर्म से निःसृत सामयिक आवश्यकता के रूप में ही अपनाया, पर उनके इन निबन्धों को एकत्र देखकर हमें इस आकस्मिक संयोग से आन्तरिक सुख भी मिलता है क्योंकि इन निबन्धों में पिछले तीस वर्षों की कविता के उत्थान, विकास और विस्तार का जो आकलन है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। पन्त की कोटि के कवि-साधक में अपने युग की समस्याओं का विश्लेषण करने और उनसे उद्भूत काव्य-प्रभावों का उपयुक्त मूल्यांकन करने की ऐसी असाधारण क्षमता विश्व-साहित्य में विरल ही है, और हमारे लिए तो वह अकेली घटना है।

'पल्लव' का काल कवि पन्त की कला का उदय-काल है, इसलिए उसकी भूमिका में जो प्रखर आत्मविश्वास और अपनी बात को बेहिचके कह सकनेका खुलापन है वह तत्काल मन पर प्रभाव डालता है। 'पल्लव' के साथ पन्त ने जिस क्षेत्र में पदार्पण किया था, उसमें यद्यपि खड़ी बोली निर्विवाद रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थी, पर अभी ब्रजभाषा और उसके काव्य के प्रति लोभ-भरी दृष्टि बराबर जाती थी और ऐसा भी माना जाता था कि खड़ी बोली गद्य के लिए तो

१. स० ही० वात्स्यायन।

ठीक है पर पद्य-रचना ब्रजभाषा में ही मधुर हो सकती है। अपनी इस भूमिका में इसीलिए पन्त को एक प्रकार से हिन्दी के समस्त पूर्ववर्ती काव्य पर दृष्टि-निक्षेप करना पड़ा, और प्राचीन महारथियों के प्रति यथायोग्य श्रद्धा प्रकट कर चुकने के बाद ब्रजभाषा-काव्य और ब्रजभाषा-माध्यम की सीमाएँ दिखानी पड़ीं। उनकी वाणी में युग की पुकार थी और तरुण कवि-हृदय का ओज था, इसीलिए उनकी शैली और दीर्घ वाक्य-विन्यास में असाधारण प्रवाह और गहरी प्रभावोत्पादकता है। "पर उस ब्रज के वन में झाड़-झंखाड़, करील-बबूल भी बहुत हैं। उसके स्वर में दादुरों का बेसुरा आलाप, उसके कृमिल-पंकिल गर्भ में जीर्ण अस्थिपंजर, रोड़े, सिवार और घोंघों की भी कमी नहीं। उसके बीचों-बीच बहती हुई अमृत-जाह्नवी के चारों ओर जो शुष्क कर्दममय बालुका-तट है, उसमें विलास की मृगतृष्णा के पीछे भटके हुए अनेक कवियों के अस्पष्ट पद-चिह्न कालानिल के झोंके से बचे हुए, यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उस ब्रज की उर्वशी के दाहिने हाथ में अमृत का पात्र और बाएँ में विष से परिपूर्ण कटोरा है, जो उस युग के नैतिक पतन से भरा छलछला रहा है। ओह, उस पुरानी गूदड़ी में असंख्य छिद्र, अपार संकीर्णताएँ हैं।"

उद्दाम निर्झर की-सी वेगवती शैली में मन के उत्साह को नाना रूपक-प्रतीकों के माध्यम से चित्रित कर पन्त ने इस भूमिका में ब्रजभाषा-युग की परिसमाप्ति और नवीन सांस्कृतिक जागरण शंखध्वनित किया था। पन्त कवि के रूप में अपने कर्त्तव्य और धर्म के प्रति सदैव सचेत रहे हैं। इस भूमिका से भी स्पष्ट है कि वे काव्य के इतिहास में किस मोड़ पर हैं, यह स्पष्टतः चीह्नते थे। और भूमिका के पहले भाग का अन्त जिन वाक्यों से होता है वे ऐसी भविष्यवाणी-जैसे लगते हैं, जो आज सच हो चुकी है।

'पल्लव' की इस भूमिका के उत्तरार्द्ध में कवि ने अपनी कविता के शिल्प-विधान और रूप-प्रकार की विवेचना उपस्थित की है, विशेष रूप से अपनी शब्द-योजना और छन्द-संगीत पर दृष्टि डाली है। उन दिनों छायावाद के विरोध में सबसे प्रबल तर्क उसके रूप और शिल्प को लेकर ही दिये जाते थे, इसलिए यह व्याख्या आवश्यक और समयानुकूल ही थी। इस अंश को पढ़ने से हम अचानक कवि के अनुभवों के साझीदार हो जाते हैं। एक-एक शब्द कवि के मन में कौन-सी झंकारें जगाता है, शब्दों से भावों और व्यापारों की चित्र-योजना किस प्रकार की जाती है, यह पन्त ने मनोरम और उल्लासपूर्ण ढंग से इस भूमिका में स्पष्ट कर अपने सूक्ष्म संवेदनशील मन की एक झाँकी दी है। यह ठीक है कि सारी भूमिका में छायावाद के भाव-जगत् का कोई निरूपण नहीं है, निरूपण तो क्या उल्लेख तक नहीं है, पर कवि यह जानता न हो, सो नहीं। शिल्प और रूप-विधान पर उसने यह जोर जान-बूझकर उसकी अनिवार्य आवश्यकता का अनुभव करके दिया है, और आज तो यह बात हम निश्चय रूप से जानते हैं कि हिन्दी-कविता में छायावाद की प्रतिष्ठा और सम्मान में 'पल्लव' की इस ऐतिहासिक भूमिका का अत्यन्त मूल्यवान योग रहा।

अपने प्रथम काव्य-संग्रह और 'पल्लव' के उपरान्त प्रकाशित 'वीणा' के लिए पन्त ने जो भूमिका लिखी थी, और जो बाद में संक्षिप्त और संशोधित रूप में ही प्रकाशित हुई, वह अपने मूल रूप में पहली बार 'गद्य-पथ' में संग्रहीत हुई है। तीन पृष्ठों की छोटी-सी इस भूमिका में कवि पन्त के एक ऐसे व्यक्तित्व की झलक है जो अन्यत्र नहीं मिलती। इसमें उनके स्वर में

व्यंग की किंचित् परुषता भी है और आत्मरति भी, जो निश्चित रूप से तत्कालीन हिन्दी-काव्य-मठाधीशों की समयान्धता की ही प्रतिक्रिया है। इन स्वनामधन्य आलोचकों ने छायावादी काव्य-कृतित्व को समझने और परखने के स्थान पर उसकी जैसी बेहिसाब खिल्ली उड़ाई उससे पन्त-जैसे कोमल-स्वभाव प्राणी को भी यदि यह स्वर अपनाना पड़ा तो क्या आश्चर्य ? यही नहीं, इस छोटी-सी भूमिका में छायावाद के विरुद्ध दिये गए तर्कों की जो एक झलक है वह बरबस हमें आज दिन प्रयोगशील काव्य के विरुद्ध तर्कों का स्मरण करा देती है, और यह कहने पर विवश करती है कि अपनी सहज संवेदन शक्ति के सहारे हिन्दी के कवि ने समय-समय पर जो युगानुरूप मार्ग ग्रहण किया है उसका सच्चा आशय समझने में हिन्दी के तत्कालीन सत्ताधारी आलोचक असमर्थ रहे हैं। यह तो ठीक है कि आलोचना सदैव आलोच्य की अनुगामिनी होती है, पर हिन्दी-साहित्य में छायावाद-काल के प्रारम्भ से प्रयोगवाद-काल तक के इस दीर्घ समय में आलोचना ने पहले अपने आलोच्य का तिरस्कार कर बाद में ही उसका मूल्य पहचाना है।

'वीणा', 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' के बाद 'गुञ्जन', 'युगान्त', 'युगवाणी', और 'ग्राम्या' कवि पन्त की काव्य-चेतना के ये विकास-चरण हैं। इन सारी काव्य-कृतियों में 'गुञ्जन' एक प्रकार से बीच की कड़ी है और उसमें प्रौढ़तर भाव-मन्थन ध्वनित है। 'गुञ्जन' तक आते-आते हिन्दी में छायावाद समादृत और प्रतिष्ठित हो चुका था, उसके उद्घोषक कवियों की रचनाओं का मूल्यांकन प्रारम्भ हो गया था, वैसे भी वह काव्य-चेतना के एक चरण की परिणति व्यक्त करता है। इसीलिए 'गुञ्जन' में कवि ने गद्य-पथ का सहारा नहीं लिया और बाद में 'युगान्त', 'युगवाणी' एवं 'ग्राम्या' के प्रकाशन तक उसको इस पथ की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी क्योंकि इनमें अभिव्यक्त भाव और अनुभूतियाँ युग-जनित भावनाएँ थीं, और यह हिन्दी के लिए शुभ-योग था कि उन्हें परखने वाले आलोचक उस समय उपस्थित थे। सच तो यह है कि छायावाद के उपरान्त जो सशक्त सामाजिक भाव-धारा हिन्दी में प्रवाहित हुई उसने, कम-से-कम प्रारम्भ में, कवि और आलोचक की दूरी घटा दी। पन्त के काव्य में जो मोड़ इस समय उपस्थित हुआ उसका सहज अपनाव आलोचकों में मिला और छायावाद का यह अग्रदूत अनायास नई सामाजिक चेतना का भी अग्रदूत बना। निरन्तर विकास करते रहने वाले कवि पन्त की यह सिद्धि साधारण नहीं है, क्योंकि ऐसा बहुत ही कम होता है कि अपने ही द्वारा प्रतिपादित भाव और सिद्धान्त को छोड़कर कलाकार आगे बढ़ सके। पर पन्त के लिए यह अत्यन्त सहज था, क्योंकि वे जीवन-द्रष्टा हैं और अपने कवि-कर्म को जीवन से सम्बद्ध करके ही देखते रहे हैं। छायावाद का कार्य समाप्त हो चुका है, यह उन्होंने स्वयम ही पहचाना, स्वयम् ही नया पथ ग्रहण किया और हिन्दी-काव्य को नई गति और प्रेरणा दी। उन्होंने 'आधुनिक कवि : भाग २' की बृहत् भूमिका में स्पष्ट लिखा : "छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध, और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।" छायावाद के समर्थ कवियों में पन्त के अतिरिक्त केवल 'निराला' की रचनाओं में ही यह चेतना और मिलती है।अन्य अनेक कवि आज तक उस 'अलंकृत संगीत' से ही अपना काम चलाते रहे हैं।

'पर्यालोचन' नामक 'आधुनिक कवि : भाग२' की यह भूमिका कवि पन्त ने सन् १९४१

में लिखी थी जब 'ग्राम्या' के प्रकाशन के साथ उनके काव्य-विकास का द्वितीय याम पूर्ण हो चुका था, और वे युग-कवि के रूप में प्रतिष्ठा पा चुके थे। इसीलिए इस भूमिका में पहली बार उन्होंने अपने भाव-जगत् और काव्य-सिद्धान्तों पर अपने विचार व्यक्त किये, एवं अपने विभिन्न काव्य-संग्रहों के सम्बन्ध में अपना मत प्रकाशित किया। इस भूमिका का अध्ययन साहित्य के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त उपयोगी है क्योंकि वह पन्त के काव्य के व्यक्तिगत पक्ष और सामाजिक पक्ष दोनों पर भरपूर प्रकाश डालता है, और ऐसा करने में पन्त ने जिस तटस्थता एवं वस्तु-परक दृष्टि का प्रमाण दिया है वह उनकी गम्भीरता और मानसिक संतुलन का परिचय देती है।

अपनी प्रारम्भिक काव्य-प्रेरणा के सम्बन्ध में पन्त ने लिखा है: "कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्म-भूमि कूर्माचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकान्त में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था, और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।" लेकिन बाद में चलकर पन्त ने इस प्राकृतिक दर्शन की सीमाएँ पहचानीं। उन्होंने लिखा है: "अब मैं सोचता हूँ कि प्राकृतिक दर्शन, जो एक निष्क्रियता की सीमा तक सहिष्णुता प्रदान करता है, और एक प्रकार से प्रकृति को सर्व-शक्तिमयी मानकर उसके प्रति आत्मसमर्पण सिखलाता है, वह सामाजिक जीवन के लिए स्वास्थ्यकर नहीं है।" छायावाद में बहुल-व्याप्त जीवन की क्षणभंगुरता अस्वास्थ्यकर है, यह पहचानकर ही कवि पन्त उसके शैलोद्यान से उतरकर सामाजिक जीवन की कुरूपता मिटाने की ओर उन्मुक हुए थे, और तब उनकी वाणी में हमारी धरती का जीवन और उसका संघर्ष ध्वनित हुआ। लेकिन इस वाणी में एक समन्वय का स्वर भी था। जिस प्रकार 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की अपनी अनेक रचनाओं में उन्होंने मार्क्सवाद का स्वागत करते हुए उसका गांधीवाद से समन्वय करने की आवश्यकता बताई थी, उसी प्रकार इस भूमिका में भी उन्होंने साफ लिखा था कि वे ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त को उपयोगी मानते हुए भी अपूर्ण मानते हैं, और विराट् लोक-कल्याण के उद्देश्य से यह आवश्यक समझते हैं कि उसका भारतीय अध्यात्म के साथ समन्वय किया जाय। उनकी घोषणा है: "ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्म-दर्शन में मुझे किसी प्रकार का विरोध नहीं जान पड़ा, क्योंकि मैंने दोनों का लोकोत्तर कल्याणकारी सांस्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है। मार्क्सवाद के अन्दर श्रम-जीवियों के संगठन, वर्ग-संघर्ष आदि से सम्बन्ध रखने वाले बाह्य दृश्य को, जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनीतिक क्रान्तियाँ ही कर सकती हैं, मैंने अपनी कल्पना का अंग नहीं बनने दिया है। इस दृष्टि से मानवता एवं सर्वभूतहित की जितनी विशद भावना मुझे वेदांत में मिली उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन में भी। भारतीय दार्शनिक जहाँ सत्य की खोज सापेक्ष के उस पार, 'अवांग-मनस-गोचर' की ओर चले गए हैं वहाँ पाश्चात्य दार्शनिकों ने सापेक्ष के अंतस्तल तक डुबकी लगाकर, उसके आलोक में जन-समाज के सांस्कृतिक विकास के उपयुक्त राजनीतिक विधान देने का प्रयत्न किया है। पश्चिम में वैधानिक संघर्ष अधिक रहने के कारण नवीनतम समाजवादी विधान का विकास नहीं हो सका है।" लेकिन इस समन्वय की आवश्यकता पर जोर देते हुए भी पन्त की दृष्टि भविष्य पर ही टिकी थी, सामाजिक

कर्तव्य से बचने या भाग जाने की किसी ओछी प्रवृत्ति की आड़ के लिए उन्होंने समन्वय का यह नारा नहीं दिया था, वरन् वे आध्यात्मिक विकास पर निरन्तर ध्यान इसी कारण रखते थे कि वे वर्तमान के मृतप्राय समाज के संस्कारों के भूतों की घृणास्पद वस्तु-स्थिति से अत्यन्त विकल थे, प्रगति के लिए आकुल थे। उन्होंने लिखा : "सच तो यह है कि हमें अपने देश के युगव्यापी अंधकार में फैले इस मध्यकालीन संस्कृति के तथाकथित ऊर्ध्व-मूल अश्वत्थ को जड़ और शाखासहित उखाड़कर फेंक देना होगा और उस सांस्कृतिक चेतना के विकास के लिए देशव्यापी प्रयत्न करना होगा जिसके मूल हमारे युग की प्रगतिशील वस्तु-स्थितियों में हों।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मार्क्सवाद से आध्यात्मिक दर्शन के समन्वय की बात कहकर पन्त ने सामाजिक प्रगति की आवश्यकता से मुँह नहीं मोड़ा था, वरन् वे सामाजिक जीवन के उच्चतर सांस्कृतिक विकास के लिए ही निरन्तर आध्यात्मिक विकास पर जोर देते रहे हैं। निरे जड़वाद और यन्त्रवाद को ही कहीं हम जीवन की इतिश्री न समझ बैठें, भौतिक सुख और वैभव में मानवीय सम्बन्धों और भावनाओं के सौन्दर्य से कहीं दृष्टि न फेर लें, यही सोचकर उन्होंने आध्यात्मिक पक्ष पर बल दिया है। यही नहीं, भारतीय दर्शन के नाम पर वे अंधविश्वासों के पक्षपाती नहीं हैं, यह उन्होंने निःसंकोच घोषित किया : "भारतीय दर्शन की दृष्टि से भी मुझे अपने देश की संस्कृति के मूल उस दर्शन में नहीं मिलते जिसका चरम विकास अद्वैत-वाद में हुआ है। यह मध्यकालीन आकाश-लता शताब्दियों के अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, प्रथाओं और मतमतान्तरों की शाखा-प्रशाखाओं में पुन्जीभूत और विच्छिन्न होकर एवं हमारे जातीय जीवन के वृक्ष को जकड़कर उसकी वृद्धि रोके हुए है। इस जातीय रक्त को शोषण करने वाली व्याधि से मुक्त हुए बिना और नवीन वास्तविकता के आधारों और सिद्धान्तों को ग्रहण किये बिना, हममें वह मानवीय एकता, जातीय संगठन, सक्रिय चैतन्यता, सामूहिक उत्तर-दायित्व और विपत्तियों का निर्भीक साहस के साथ सामना करने की शक्ति और क्षमता नहीं आ सकती जिसकी कि हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में महाप्राणता भरने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है।"

'ग्राम्या' के बाद एक दीर्घकालीन मौन के उपरान्त पन्त के कई नये काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। भारत की स्वतन्त्रता से लेकर अब तक 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि', 'उत्तरा', 'युगपथ', 'रजतशिखर' और 'शिल्पी' उनके काव्य-ग्रन्थ हैं। इनमें से पहले दो ग्रन्थों में पन्त का आध्यात्मिक चिन्तन मुख्य रूप से व्यक्त हुआ है और वह चिन्तन श्री अरविन्द के दर्शन से गहरे ढंग पर प्रभावित चिन्तन है। इस प्रभाव की विशेष रूप से, और उनके इस आध्यात्मिक सम्मान की साधारण रूप से, कुछ आलोचकों ने काफी चर्चा की है, और उसमें प्रतिगामी तत्त्वों की ओर झुकाव पाया है। इसलिए 'उत्तरा' की भूमिका के रूप में पन्त को अपना मत और जीवन-दर्शन स्पष्ट करना पड़ा है। 'उत्तरा' की यह भूमिका पन्त के प्रौढ़ मानस का गम्भीर उद्‌गार है जिसमें आवश्यक विशालता और उदारता तो है ही, समसामयिक जीवन को उसके सर्वांग और समस्त रूप में देखने का भी उज्ज्वल प्रयत्न है। यही कारण है कि इस भूमिका के स्वर में मन्यु होते हुए भी क्षोभ का अभाव है, अपने सिद्धान्त पर अविचल आस्था होते हुए भी मतभेद के प्रति संयम और सन्तुलन का प्रदर्शन है। इस भूमिका में उन्होंने एक बार फिर भौतिक दर्शन के साथ आध्यात्मिक विकास के समन्वय की ओर हम सबका ध्यान आकृष्ट किया है। पर सबसे अधिक

ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने सामाजिक प्रगति की ओर कम बल नहीं दिया है, जैसा कि भ्रमवश कुछ आलोचक मानते हैं, वरन् यही स्थापित किया है कि सामाजिक विकास की सम्पूर्णता तभी सिद्ध होगी जब हम आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विकास पर भी अपनी दृष्टि गड़ाये रहेंगे। उन्होंने लिखा है : "मेरा दृढ़ विश्वास है कि केवल राजनीतिक-आर्थिक हलचलों की बाह्य सफलताओं द्वारा ही मानव-जाति के भाग्य (भावी) का निर्माण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के सभी आन्दोलनों को परिपूर्णता प्रदान करने के लिए संसार में एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन को जन्म लेना होगा जो मानव-चेतना के राजनीतिक, आर्थिक मानसिक तथा आध्यात्मिक सम्पूर्ण धरातलों में मानवीय संतुलन तथा सामंजस्य स्थापित करके आज के जनवाद को विकसित मानववाद का स्वरूप दे सकेगा।" अपने ऊपर लगे प्रतिगामिता के आरोप के विरुद्ध उन्होंने बहुत दृढ़ स्वर में यह प्रतिवाद व्यक्त किया है : "मेरा मन यह नहीं स्वीकार करता कि मैंने अपनी रचनाओं में जिस सांस्कृतिक चेतना को वाणी दी है, एवं जिस मनःसंगठन की ओर ध्यान आकृष्ट किया है उसे किसी भी दृष्टि से प्रतिगामी कहा जा सकता है। मैंने सदैव ही उन आदर्शों, नीतियों तथा दृष्टिकोणों का विरोध किया है जो पिछले युगों की संकीर्ण परिस्थितियों के प्रतीक हैं, जिनमें मनुष्य विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों तथा वर्गों में विकीर्ण हो गया है। उन सभी विश्लिष्ट सांस्कृतिक मान्यताओं के विरुद्ध मैंने युग की कोकिल से पावक-कण बरसाने को कहा है जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि अब खिसक गई है और जो मानव-चेतना को अपनी खोखली भित्तियों में विभक्त किये हैं। मेरा विनम्र विश्वास है कि लोक-संगठन तथा मनःसंगठन एक-दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि वे एक ही युग (लोक)-चेतना के बाहरी और भीतरी रूप हैं।

'गद्य-पथ' के दूसरे भाग में पन्त की समय-समय पर आकाशवाणी से प्रसारित वार्ताएँ और कुछ महत्त्वपूर्ण भाषणों के अंश संग्रहीत हैं। इनका सबसे पहला आकर्षण तो यही है कि वे पहली बार प्रकाशित हुए हैं। फिर भाषण होने के कारण उनमें रोचकता अधिक है, और पन्त के मनोरम व्यक्तित्व की अधिक कोमल और हृदयग्राही छाप उनमें मिलती है। 'मेरा रचनाकाल', 'मैं और मेरी कला', 'आज की कविता और मैं', 'जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण', 'पुस्तकें जिनसे मैंने सीखा', 'काव्य-संस्मरण' और 'मेरी पहली कविता' नामक निबन्ध व्यक्तिपरक हैं, और पन्त के जीवन और कृतित्व के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी एवं आवश्यक सूचनाएँ देते हैं। पन्त के आलोचक और जीवनीकार के लिए यह अमूल्य सामग्री है। इन निबन्धों में पन्त ने अपनी कला के विकास पर जो विचार प्रकट किये हैं वे सर्वत्र उन विचारों से मिलते हैं जिनका उल्लेख हम कर आए हैं। कहीं भी कोई द्विविधा, विरोध या उलझाव नहीं है। सच पूछिए तो पन्त स्वयं ही अपने सर्वश्रेष्ठ आलोचक हैं और अपने कवि की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म गति को शब्दों में बाँध सकने में समर्थ हो सके हैं। वे शायद अकेले ऐसे कवि हैं जिनकी कविता उन्हीं के विचारों की कसौटी पर बेहिचक कसी जा सकती है। यह पन्त के अन्तःसंयोजित व्यक्तित्व का भी अकाट्य प्रमाण है। अन्य निबन्ध, जैसे 'भारतीय संस्कृति क्या है', 'भाषा और संस्कृति', 'साहित्य की चेतना', 'सांस्कृतिक आन्दोलन', 'कला और संस्कृति' आदि, युग की सांस्कृतिक और कलात्मक समस्याओं पर द्रष्टा पन्त के विचारों को व्यक्त करते हैं जिनमें उनकी उपरोक्त स्थापनाएँ ही आवश्यकतानुसार संक्षेप या विस्तार में दी गई हैं।

लेकिन इस खण्ड में एक रेडियो-वार्ता इन दोनों समूहों से अलग है। वह है 'यदि मैं 'कामायनी' लिखता'। इस वार्ता में अनायास ही हमें प्रसाद की कला पर पन्त के विचार मिलते हैं। 'कामायनी' जिस विशद और गहन रूप में अपने युग की चेतना और संघर्ष को प्रतिध्वनित करती है, उसकी ओर हम सबका ध्यान आकर्षित करते हुए, और प्रसाद की महान् कलात्मक सिद्धि पर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए भी पन्त ने अपने अद्वितीय संतुलन का परिचय देते हुए 'कामायनी' की त्रुटियों का भी उल्लेख किया है। यह उल्लेख ऐतिहासिक महत्त्व का है क्योंकि हिन्दी-आलोचना के किसी भी संस्थान ने उस पर दृष्टि नहीं डाली है, और वह यह भी सिद्ध करता है कि समाज की वास्तविक प्रगति की कामना पन्त में कितनी बलवती है। पन्त ने 'कामायनी' की समस्या के व्यक्तिपरक समाधान की चर्चा करते हुए कहा है : "पर यह तो विश्व-जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं है। मनुष्य के सामने प्रश्न यह नहीं है कि वह इड़ा-श्रद्धा का समन्वयकर वहाँ तक कैसे पहुँचे। उसके सामने जो चिरंतन समस्या है वह यह है कि उस चैतन्य का उपभोग मन, जीवन तथा पदार्थ के स्तर पर कैसे किया जा सकता है। परम चैतन्य तथा मनश्चैतन्य के बीच का, लोक-परलोक के बीच का, धरती-स्वर्ग, एक बहु, समरस या बहुरस के बीच के व्यवधान को मिटाकर यह अन्तराल किस प्रकार भरा जाय ? उसके लिए निःसंशय ही इड़ा-श्रद्धा का सामंजस्य पर्याप्त नहीं। श्रद्धा की सहायता से समरस स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी मनु लोक-जीवन की ओर नहीं लौट आए। आने पर भी शायद वहाँ कुछ नहीं कर पाते। संसार की समस्याओं का यह निदान तो चिर पुरातन, पिष्टपेषित निदान है, किन्तु व्याधि कैसे दूर हो ? क्या इस प्रकार समस्थिति में पहुँचकर और वह भी व्यक्तिगत रूप से ?"[१]

१. 'गद्य-पथ', लेखक—श्री सुमित्रानन्दन पन्त, प्रकाशक—साहित्य-भवन, इलाहाबाद।

परिचय

नये नगर की कहानी

लेखक—रावी, प्रकाशक—राजपाल प्रकाशन, आगरा।

प्रस्तुत पुस्तक में जो बात सबसे अधिक ध्यान देने की है और जिसकी दाद दी जा सकती है वह है रचयिता की एक 'नया नगर' निर्माण करने की नीयत। वैसे यह दुःख की बात है कि यह नीयत अमिश्रित नहीं है। इसमें आत्म-विज्ञापन की ओछी मनोवृत्ति बुरी तरह पैठ गई है। प्रति तीसरे या चौथे पृष्ठ पर स्वयं लेखक की ओर से या किसी पात्र की ओर से 'रावी' की प्रशंसा या उनकी सम्भावनाओं के बारे में लम्बी-चौड़ी सुन-सुनकर जी ऊब उठता है। मगर फिर भी हम चाहें तो मूल प्रेरणा को लेखक की कमजोरी से अलग करके देख सकते हैं। यहाँ तक लेखक बधाई का पात्र है।

यह एक उपन्यास है या नहीं इस झमेले में हम नहीं पड़ेंगे। फिर भी चूँकि कथासूत्र है इसलिए तत्सम्बन्धी प्रश्न उठता ही है। कथा यों है कि वेंकटाचलम नामक एक युवक-योगी एक खास तरह के आदमियों को इकट्ठा करके 'नया नगर' नामक एक कालोनी बसाने का सपना देखता है। वह रावी से मेल-भाव बढ़ाकर उन्हें भी अपने दल में शामिल कर लेता है। मुख्यतः लेखक, कलाकार, बुद्धिजीवी, धनिक और सुधारवादी युवक इस संगठन में आते हैं। कुछ वेश्याएँ और वकौल वेंकटाचलम 'सेक्सुअली स्टार्व्ड' लड़कियाँ भी इस संगठन में आती हैं। पिकनिक होती है, सैर होती है और अन्त में जलसा होता है जिसमें लेक्चर होते हैं और 'नया नगर' में शामिल होने के लिए आवेदन-पत्र और उक्त नगर के निर्माण के लिए आर्थिक सहायता के वायदे जमा करके पूरा-का-पूरा दल दिल्ली चल देता है। जाते वक्त भविष्य को वर्तमान बनाकर वेंकटाचलम रावी को 'नया नगर' का नक़्शा, काम-काज और हाल-चाल डिक्टेट करा जाता है।

यों सुना है कि ऐसे अनेक पंथ इस देश में हैं जो तर माल खाने या गाने-बजाने में ही किसी आगामी जीवन का स्वरूप देखते हैं। ऐसों की नीयत में शक करने का हमें कोई हक़ नहीं है मगर हम इन्हें कोरे खब्तियों से ज़्यादा कुछ भी मानने के लिए मजबूर भी नहीं हैं। ऐसे ही हैं हमारे 'नये नगर' के निर्मातागण। हर जिस-तिस को वे अपने मत में मूड़ लेते हैं। जिसे देखिए उनका चेला बना चला आता है। लाखों के वायदे तो चुटकी बजाते हो जाते हैं।

पुस्तक के मुख-पृष्ठ पर 'नये नगर' का एक कल्पित चित्र दिया गया है। एक नदी (पुस्तक के अनुसार यमुना) के किनारे बसे हुए इस नगर में मन्दिर, मस्जिद, घण्टाघर और छोटे-बड़े बहुत से मकान घिचपिच बने हुए दिखाई देते हैं। पेड़-पत्ती का कहीं नामो-निशान

तक नहीं है।

—ओंकारनाथ श्रीवास्तव

भारतीय शिक्षा

लेखक—डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

प्रस्तुत पुस्तक डॉ० राजेन्द्र प्रसाद द्वारा देश की विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं में दिये गए भाषणों का संग्रह है। पुस्तक के नाम से इस बात का आभास नहीं मिलता और पाठक अनायास ही भारतीय शिक्षा पर लेखक के विशद एवं गम्भीर चिन्तन की अपेक्षा करने लगता है। परन्तु पुस्तक भाषणों का संग्रह-मात्र होने के कारण न तो विषय का विशद विवेचन प्रस्तुत करती है और न भारतीय शिक्षा की विभिन्न समस्याओं का विस्तृत विश्लेषण तथा समाधान। सरल भाषा में सीधे ढंग से राजेन्द्र बाबू ने अपने विचार श्रोताओं के सम्मुख रखे हैं। उनका विषय-प्रतिपादन तथा भाव-स्पष्टीकरण का ढंग इतना सरल एवं ग्राह्य है कि वह तत्क्षण प्रभावशाली हो उठता है। शिक्षा-सिद्धान्त के अनेक वादविवादपूर्ण विषयों पर उन्होंने मध्यम मार्ग अपनाया है जो राष्ट्रपति के लिए स्वाभाविक ही है। यह सभी जानते हैं कि राजेन्द्र बाबू क्रान्तिकारी एवं सीमान्तरस्थ विचारधारा के पोषक नहीं। शिक्षा के विषय में भी उनकी विचारधारा संतुलित तथा सामूहिक रही है।

'भारतीय शिक्षा' चार खण्डों में विभाजित है: प्रथम खण्ड—नवीन शिक्षा-पद्धति; द्वितीय खण्ड—प्राचीन शिक्षा-पद्धति; तृतीय खण्ड—वैज्ञानिक शिक्षा-पद्धति; चतुर्थ खण्ड—प्रकीर्ण। प्रत्येक खण्ड के अन्तर्गत तद्विषयक चार-छः भाषणों का संकलन किया गया है।

राजेन्द्र बाबू राष्ट्रीय शिक्षा को भारत की परम्परागत शिक्षा के आधार पर नियोजित करने के पक्ष में हैं। यह सर्वमान्य है कि हमारी वर्तमान शिक्षा-योजना विदेशी आधार पर संघटित होने के कारण न तो हमारी समस्याओं का भली भाँति समाधान करने में ही समर्थ है और न हमारे परम्परागत आदर्शों तथा जीवन की मान्यताओं को ही प्रतिष्ठित करने में। अतएव, भारतीय परम्पराओं, मान्यताओं तथा आदर्शों से ओत-प्रोत जन-शिक्षण की व्यवस्था करना हमारे लिए आवश्यक है। यह बात हमें राजेन्द्र बाबू के शब्दों में भली भाँति समझ लेनी है कि "जनता के हृदय से सम्पर्क टूटने के बराबर और कोई हानिकर और प्रतिक्रियावादी क़दम न होगा।" इस दृष्टि से हमें प्रगतिशील शिक्षा-व्यवस्था की योजना बनाना आवश्यक है।

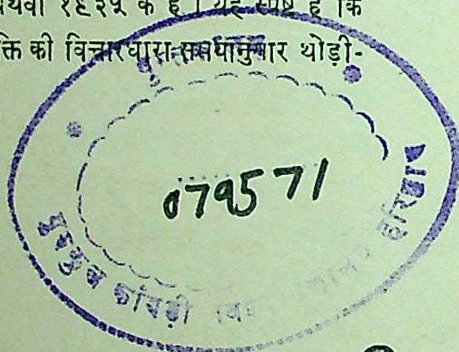
प्राचीन शिक्षा-पद्धति शीर्षक खण्ड में नारी-शिक्षा एवं गुरुकुल तथा राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था पर राजेन्द्र बाबू ने अपने विचार प्रकट किये हैं। राजेन्द्र बाबू के नारी-शिक्षा-विषयक विचार भी हमारी परम्परागत धारणाओं पर आधारित हैं। वे कहते हैं—"मैं चाहता हूँ कि नारी ऐसा विचार न करे कि उसे भी वही काम करने हैं जो पुरुष करते हैं। दोनों के लिए काम बड़ा है और अपने-अपने अलग-अलग कामों को ही दोनों पूरी खूबी के साथ अंजाम दे सकते हैं।"

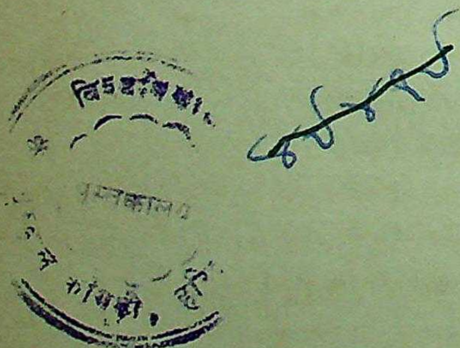
वैज्ञानिक शिक्षा-पद्धति शीर्षक खण्ड में 'विज्ञान की प्रगति', कृषि-विज्ञान आदि विषयों पर विचार-प्रदर्शन किया गया है। खण्ड का नामकरण दोषपूर्ण है; उसका अर्थ शिक्षा-पद्धति में वैज्ञानिकता लाने का निकलता है, जब कि देश में विज्ञान की शिक्षा की आवश्यकता से ही उसका तात्पर्य है।

जहाँ तक राजेन्द्र बाबू के शिक्षा-विषयक विचारों को एकत्रित करके पाठकों के सम्मुख

रखने का प्रश्न है, प्रकाशकों का प्रयत्न सराहनीय ही कहा जायगा। हिन्दी का शिक्षा-साहित्य अत्यन्त न्यून है और मौलिक विचारों तथा सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करने वाले ग्रन्थों का अभाव है। भारतीय जन-जीवन से घनिष्ठ सम्पर्क रखने वाले नेता के शिक्षा-विषयक विचारों का अध्ययन भारतीय शिक्षाविदों में विचार-चेतना जाग्रत करेगा यह आशा इस पुस्तक से करना स्वाभाविक है। परन्तु, ग्रन्थ के प्रणयन में कुछ बातें अवश्य खटकती हैं। पुस्तक में संकलित अधिकांश, १५ भाषण सन् १९५० के बाद के हैं, परन्तु शेष ४, १९२० अथवा १९३५ के हैं। यह स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति की विचारधारा समयानुसार थोड़ी-बहुत परिवर्तित होती रहती है। एक छोटे-से संकलन में १९२० से १९५३ तक के भाषणों को एक साथ रखना विचार-प्रतिपादन की दृष्टि से खटकता है। अच्छा होता यदि केवल १९५० के बाद वाले भाषणों को ही यहाँ संग्रहीत किया जाता। यह भी स्पष्ट है कि संकलित भाषणों में से कुछ अंग्रेजी में दिये गए होंगे जिनका अनुवाद पुस्तक में दिया गया है, यद्यपि इस बात का उल्लेख प्रकाशक ने कहीं नहीं किया है। जहाँ राजेन्द्र बाबू की अपनी भाषा है वहाँ वह सरल, सीधी तथा स्पष्ट है किन्तु अनुवाद कहीं-कहीं बड़ा ही जटिल हो गया है।

—डॉ० सुबोध अग्रवाल





'राजकमल' से प्राप्य नये उत्कृष्ट प्रकाशनों की सूची

आलोचनात्मक

भारतीय आर्य-भाषा और हिन्दी	डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या	६)
भोजपुरी भाषा	डॉ० उदयनारायण तिवारी	१३॥)
सन्त कवि दरिया : एक अनुशीलन	डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री	१४)
काव्य-मीमांसा (राजशेखर विरचित)	केदारनाथ शर्मा सारस्वत	६॥)
श्री रामावतार शर्मा निबन्धावली	पं० रामावतार शर्मा	८॥।)
तुलसी-रसायन	डॉ० भगीरथ मिश्र	२॥)
हिन्दी निबन्धकार	जयनाथ नलिन	६)
नाटककार अश्क	संग्रह	७)

काव्य : गद्य-काव्य

शेर-ओ-सुखन (भाग ४)	गोयलीय	३)
माला	सोमनाथ गुप्त	॥।)
गांधीचरित मानस	विद्याधर महाजन	५॥=)
दीप-शिखा	महादेवी वर्मा	४)

दर्शन

पाश्चात्य दर्शन का इतिहास	फ्रैंन्क थिली	५)
भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व	एम० हिरियन्ना	५)

राजनीति

भारतीय राजनीति : विक्टोरिया से नेहरू तक	रामगोपाल	१०)

सांस्कृतिक : निबन्ध

जैमिनीय ब्राह्मण	डॉ० रघुवीर	३०)
दिल की बात	गुरुदयाल मलिक	३)
वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा	डॉ० सत्यप्रकाश	८)
प्राङ्मौर्य बिहार	डॉ० देवसहाय त्रिवेद	७।)

उपन्यास

आचार्य चाणक्य	सत्यकेतु विद्यालंकार	४)
चाँदनी के खण्डहर	गिरिधर गोपाल	२)
काका	डॉ० रांगेय राघव	२)
वाम-मार्ग	गुरुदत्त	७)
आलमगीर	चतुरसेन शास्त्री	५॥।=)
सोमनाथ	चतुरसेन शास्त्री	८)
स्वयंसिद्धा	मणिलाल बन्द्योपाध्याय	३)

नाटक

ओ मेरे सपने	जगदीशचन्द्र माथुर	३)

कोष

तुलसी शब्द-सागर	हरगोविन्द तिवारी	१२)

आलोचना का उपन्यास-विशेषांक—

अक्तूबर १६५४ में १३वें अंक के साथ आलोचना अपने प्रकाशन के चौथे वर्ष में प्रवेश कर रही है। पिछले वर्षों की भाँति इस वर्ष का प्रवेशांक भी विशेषांक के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। इतिहास अंक तथा आलोचना अंक ने हिन्दी-समीक्षा के दो बड़े अभावों की पूर्ति की है। उसी परम्परा में आलोचना का १३वाँ अंक उपन्यास अंक होगा जिसमें प्रथम बार हिन्दी के अधिकारी समीक्षक हिन्दी-उपन्यास के विभिन्न पक्षों का सम्यक् विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

- हिन्दी-उपन्यास के अध्ययन की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने की दृष्टि से प्रारम्भिक खण्ड के कुछ लेखों में विश्व-उपन्यास के विकास और इतिहास का विस्तृत निरूपण होगा। विश्व-साहित्य में किस प्रकार गद्य के माध्यम से जीवन का विराट् चित्रण कर उपन्यास ने महाकाव्य का स्थान लेने की चेष्टा की है, किस प्रकार पिछली कुछ शताब्दियों के चिन्तन-विकास और ऐतिहासिक परिस्थितियों ने उपन्यासों के वस्तु-तत्त्व और रूप-गठन में अपने को प्रतिबिम्बित किया है, विश्व-उपन्यास के प्रसंग में भारतीय उपन्यास की उपधारा कहाँ तक उसके समानान्तर और कहाँ तक उससे अलग दिशाओं में प्रवाहित होती रही है, तथा इस विराट् पृष्ठ-भूमि में हिन्दी-उपन्यास की क्या स्थिति है—इन प्रश्नों पर समीक्षक अपना मत व्यक्त करेंगे।
- द्वितीय खण्ड के लेखों में हिन्दी-उपन्यास के उद्भव से उसकी वर्तमान परिणति तक का पर्यवेक्षण किया जायगा। वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास की तिलिस्म से सामाजिक क्रान्ति तक की यात्रा, प्रेमचन्द तथा उनके समकालीन और परवर्ती उपन्यासकारों द्वारा प्रस्तुत सामाजिक यथार्थ की विभिन्न व्याख्याएँ, आर्थिक तथा नैतिक परिस्थितियों से उत्पन्न असन्तोष के कारण कथाकारों के विक्षुब्ध अहम् द्वारा नये कथा-परिधानों की खोज पर विचार करने के साथ-साथ हिन्दी के कुछ प्रमुख उपन्यासकारों और उपन्यासों पर विस्तृत अध्ययन भी संकलित किये जायँगे जिनमें प्रेमचन्द के पूर्व, प्रेमचन्द और उनके समकालीन तथा उनके परवर्ती उपन्यासकारों के कृतित्व का सम्यक् निरूपण होगा।
- अन्तिम खण्ड में कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों और समस्याओं पर कथाकारों और समीक्षकों के विचार आमन्त्रित किये जायँगे जो उपन्यास के लेखक, समीक्षक और पाठक के सम्मुख बार-बार उपस्थित होते रहे हैं। क्या हिन्दी-उपन्यास अब भी प्रौढ़त्व को नहीं पहुँच सका है? क्या हिन्दी-उपन्यास केवल मध्यवर्ग की चेतना को ही वहन कर सका है और क्या यही उसकी सीमा रहेगी? कथा-साहित्य में नैतिक आग्रह का क्या रूप है और अश्लीलता का क्या कोई सर्वनिर्धारित मानदण्ड बन सकता है? कथा-साहित्य में आर्थिक और राजनीतिक यथार्थ कब और कैसे कला का यथार्थ बन पाता है? प्रेम और रागात्म-सम्बन्धों के असन्तुलन की समस्या क्या उपन्यास की अनिवार्य समस्या है? इन समस्त प्रश्नों पर हिन्दी के प्रमुख कथाकारों के विचारपूर्ण लेख आमन्त्रित किये जायँगे जो न केवल हिन्दी-उपन्यास की कुछ विगत और वर्तमान उलझनों पर प्रकाश डालेंगे वरन् आगे के कृतित्व के लिए भी पथ प्रशस्त कर सकने में समर्थ होंगे। इस दृष्टि से इस उपन्यास-विशेषांक का न केवल समीक्षात्मक वरन् सृजनात्मक महत्त्व भी है

—प्रकाशक, आलोचना।

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

86